समाजवादी चिन्तन

(SOCIALIST THEORIES)

डॉ. के. एल. कमल
रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल साइंसेज

POLITICS & ADMINISTRATION

1	पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स)	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
2	राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से बर्क)	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
3	आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास (बेन्थम से अब तक)	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
4	तुलनात्मक राजनीति	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
5	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
6	लोक प्रशासन : सिद्धान्त एवं व्यवहार	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
7	भारतीय सरकार एवं राजनीति	डॉ. काश्यप एवं डॉ. राय
8	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन	डॉ. एम. पी. राय
9	आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन	डॉ. ए. अवस्थी एवं डॉ. आर. के. अवस्थी
10	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919–45)	डॉ. मथुरालाल शर्मा
11	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1945–78)	डॉ. मथुरालाल शर्मा
12	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919–78)	डॉ. मथुरालाल शर्मा
13	संविधानों की दुनिया	डॉ प्रभुदत्त शर्मा
14	तुलनात्मक लोक प्रशासन	टी. एन. चतुर्वेदी
15	समाजवादी चिन्तन	डॉ. के. एल. कमल
16	सामाजिक प्रशासन	डॉ. डी. के. मिश्र
17	अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन	डॉ. प्रभुदत्त शर्मा
18	रिसर्च मैथडोलॉजी	प्रो. बी. एम. जैन
19	भारतीय राजनीतिक व्यवस्था	डॉ. सुभाष काश्यप
20	सेवोवर्गीय प्रशासन	डॉ. सी. एम. जैन
21	बदलती विदेश नीतियाँ	डॉ. मथुरालाल शर्मा
22	भारत में राज्यों की राजनीति	हरिश्चन्द्र शर्मा
23	अन्तर्राष्ट्रीय कानून	हरिशचन्द्र शर्मा
24	भारत में लोक प्रशासन	हरिशचन्द्र शर्मा
25	राजनय : सिद्धान्त एवं व्यवहार	हरिशचन्द्र शर्मा
26	आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त	हरिशचन्द्र शर्मा
27	प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं	हरिशचन्द्र शर्मा
28	भारत में स्थानीय प्रशासन	हरिशचन्द्र शर्मा

Published by Research Publications in Social Sciences, Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur

भूमिका

राजनीतिक विचारों के इतिहास में 'समाजवादी चिन्तन' की परम्परा बहुत पुरानी है। विश्व के अनेक महत्त्वपूर्ण चिन्तकों ने समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव की बात कही है जो प्रारम्भ में धर्म के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित हुई और कालान्तर में यह समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में आई। यह विचार इस मान्यता पर केन्द्रित रहा कि ईश्वर अथवा प्रकृति ने सबको समान बनाया है। असमानता, पराधीनता, शोषण एवं दमन समाज में उत्पन्न हुए हैं जिनके मूल में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर अपना वर्चस्व आच्छादित कर देने की प्रवृत्ति रही है। धर्म और नीतिशास्त्र में इस प्रवृत्ति को निन्दनीय कहा गया है लेकिन इसने इसके उन्मूलन के लिए कोई संगठित प्रयास नहीं सुझाया। धर्मशास्त्र ने अत्याचारी शासक अथवा असमान कानून से लड़ने के लिए व्यक्तियों को आह्वान नहीं किया; इसने व्यक्ति को अन्तर्मुखी एवं सहिष्णु बनने पर जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया अवरुद्ध रही और धरातल की समस्याओं को पारलौकिक जगत् से जोड़ दिया गया, लेकिन इसका प्रभाव चिन्तनधाराओं पर पड़ा।

राजनीति शास्त्र की परिधि में आने पर यह विचार बड़ा ही प्रबल हो उठा और धीरे-धीरे इसका सम्बन्ध आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध हुआ। यह विचार विकसित हुआ कि वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता के अभाव में निरर्थक है और इसके लिए संगठित प्रयास आवश्यक है। पहले यह कार्य व्यक्ति एवं व्यक्ति समुदायों पर छोड़ दिया गया और बहुत समय तक इसका रूप अस्पष्ट बना रहा। यह एक लम्बे अर्से तक धर्म एवं दर्शन से जुड़ा रहा लेकिन ज्यों-ही यह अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हुआ, इस चिन्तन को एक वैज्ञानिक और यथार्थवादी धरातल प्राप्त हुआ। कार्ल मार्क्स के 'आर्थिक निर्णयवाद' ने तो स्थिति को एकदम बदल दिया और इससे समाज की चिन्तनधारा को एक नूतन दिशा मिली, तभी से समाजवाद को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी 'समाजवादी चिन्तन' को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे समझाने का एक साधारण-सा प्रयास है। यद्यपि यह एम० ए० राजनीति शास्त्र के लिए निर्धारित 'समाजवादी चिन्तन' के पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गई है लेकिन साथ ही यह उन जिज्ञासु पाठकों के लिए भी पठनीय है जिनकी समाजवाद के अध्ययन में रुचि हो।

मैं उन सभी विद्वानों एवं लेखकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियों के अध्ययन से इस पुस्तक के लेखन मे सहायता मिली है।

अन्त में, मैं श्री पी० जैन एवं उनके सभी सहयोगियों को इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए धन्यवाद देता हूँ।

के० एस० कमल

अनुक्रमणिका

1 समाजवाद क्या है ?

(WHAT IS SOCIALISM ?)

'समाजवाद' का निश्चित अर्थ बताना कठिन है। 1891 में लाफीगारो नामक एक फ्रांसीसी पत्र में समाजवाद की लगभग 600 परिभाषाएँ प्रकाशित हुई थी। वस्तुतः 'समाजवाद' आधुनिक सामाजिक विज्ञानों में प्रयुक्त सर्वाधिक भ्रान्त अवधारणा है लेकिन फिर भी यह वर्तमान युग का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण दर्शन है। यह लोकप्रिय एवं आकर्षक होने के साथ उतना ही भ्रामक भी है। इसके आकर्षक होने का एक बड़ा उदाहरण यह दिया जा सकता है कि हिटलर जैसे फासिस्ट और समाजवाद के कट्टर शत्रु ने भी अपने दल का नाम 'राष्ट्रीय समाजवादी दल' रखा था। इस प्रकार समाजवाद के विरोध में आचरण करने वाले अनेक व्यक्तियों ने इस शब्द का अपने पक्ष में उपयोग किया है। अन्य कई व्यक्तियों ने इस शब्द को इतना तोड़-मरोड़ दिया है कि यह अपने वास्तविक अर्थ से बहुत दूर चला गया है। इसको इतना लचीला भी बना दिया गया है कि किसी ने यहाँ तक कह दिया कि हम सब समाजवादी हैं क्योंकि हम समाज में रहते है। इन्हीं सारी परेशानियों को दृष्टिगत रखते हुए प्रो. सी. ई. एम. जोड ने तो यहाँ तक कह दिया कि "समाजवाद उस टोप की भाँति है जिसकी शक्ल ही विकृत हो चुकी है क्योंकि हर कोई व्यक्ति इसे पहनता है।"[1] इस शब्द की जटिलता को शाडवेल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"मनुष्य के मस्तिष्क को यदि सबसे अधिक किसी प्रश्न ने संक्रामित किया है तो वह है अनेकरूपी जटिल तथा अस्पष्ट समाजवाद।"' समाजवाद एक बहुमुखी दैत्य है। जब हम इसके एक सिर को काटने का प्रयत्न करते हैं तभी इसका दूसरा सिर निकल आता है।" क्लीमेशों ने मनुष्य की आयु के साथ उसकी भावनाओं को जोड़कर इसे और भी हास्यास्पद बना दिया है। उसका कथन है कि "यदि 21 वर्ष की आयु मे तुम समाजवादी नही हो तो तुम हृदयहीन हो, और यदि 41 वर्ष की आयु में तुम समाजवादी हो तो मस्तिष्क तुम्हारे पास नहीं है।"

1. "In short, socialism is like a hat that has lost its shape because everybody wears it". —*C. E. M. Joad :* Modern Political Theory, p. 40.

कुछ लोग समाजवाद की प्रेरणा का स्रोत प्लेटो की 'रिपब्लिक' को मानते है तो कुछ अन्य लोग इसका उद्गम फ्रांस की राज्य-क्रान्ति मे ढूंढते हैं। लेकिन वर्तमान समय मे समाजवाद की अवधारणा (Concept) को समझने के लिए प्लेटो तक जाना न केवल अनावश्यक ही है बल्कि यह हानिप्रद भी हो सकता है। वैसे सर टॉमस मूर का नाम भी इस दृष्टि से लिया जाता है लेकिन वर्तमान समय में 'समाजवाद' शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है उसकी सम्बद्धता औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त स्थापित समाज-व्यवस्था के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है।

आधुनिक समय में समाजवाद की उत्पत्ति पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे हुई।[1] समाजवादी आन्दोलन का उद्देश्य समाज में पूंजीवाद से उत्पन्न बुराइयो को समाप्त करना था। सर्वप्रथम, 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग सन् 1803 में इटली मे किया गया, लेकिन इसका सन्दर्भ आधुनिक नही था। सन् 1827 में 'कोऑपरेटिव मेगजीन' मे इगलैण्ड के विचारक रॉबर्ट ओवन के अनुयायियों को सम्बोधित करने के लिए इसका प्रयोग किया गया था। सन् 1833 में फ्रांस की एक पत्रिका 'ले ग्लोव' मे सेन्ट साइमन के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया गया था। चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन, लुई ब्लां आदि विचारकों को भी समाजवादी कहा जाता है, लेकिन वैज्ञानिक समाजवाद का प्रारम्भ कार्ल मार्क्स से ही माना जाता है। मार्क्स ने अपनी पूर्ववर्ती समाजवादी विचारधारा की आलोचना करते हुए "मेनिफेस्टो ऑफ दी कम्युनिस्ट पार्टी" में इसे सामन्तवादी समाजवाद और 'पेटी बुर्जुआ समाजवाद' कहा है। कहने का अर्थ यह है कि इस शब्द और सिद्धान्त का इतिहास दो शताब्दियों से भी कम है, लेकिन सामाजिक विज्ञान का सम्भवतः यह सबसे अधिक प्रचलित शब्द है। यह जितना प्रचलित है उतना ही भ्रामक और अस्पष्ट भी है। इसका कारण यह है कि यह केवल एक राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारधारा ही नहीं है बल्कि एक आदर्श, एक दर्शन, एक धर्म, एक विचार, एक सिद्धान्त, एक नीति, एक विश्वास, एक जीवन-प्रणाली आदि सभी अर्थों मे प्रयुक्त होता है। यद्यपि 'जनतन्त्र' शब्द भी बडा ही लोकप्रिय और प्रचलित है, लेकिन यह लोगों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न नही है। समाजवाद, जैसा कि अभी कहा गया है, अनेक लोगों का धर्म बन गया है और जैसा कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है कि उसके प्रचार-प्रसार में वे लोग धार्मिक कट्टरता के साथ प्रवृत्त रहते है। कुछ अन्य लोग इसको बिना समझे ही नास्तिक की भाँति इसे नफरत से देखते हैं।[2]

समाजवादी व्यवस्था कैसी होगी इसको लेकर समाजवादी विचारकों में कोई मौलिक मतभेद नही है। मतभेद तो इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त साधनों तथा कुछ सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। भारत में, उदाहरणार्थ, दोनों कांग्रेस दल (कांग्रेस 'आई' एवं कांग्रेस), तीनों समाजवादी दल (प्रजा समाजवादी

1. *Leo Cuberman and Paul M. Sweezy* : Introduction to Socialism, p. 7.
2. *Leo Huberman and Paul M. Sweezy* : Introduction to Socialism, p. 21.

दल, संयुक्त समाजवादी दल एवं समाजवादी दल) तथा तीनों साम्यवादी दल (भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी एवं नक्सलवादी) समाजवाद में आस्था रखते हैं। वर्तमान में चार दलों से निर्मित जनता पार्टी के कार्यक्रम भी समाजवादी कार्यक्रम ही है। इंग्लैण्ड में मजदूर दल समाजवादी दल ही है, फिर भी वहाँ एक साम्यवादी दल भी है। इस प्रकार के उदाहरण अन्य देशों से भी दिए जा सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि समाजवाद की विभिन्न धाराओं एवं उन पर आधारित राजनीतिक दलों के निर्माण के पीछे उद्देश्यों की विभिन्नता विशेष कारण न होकर उनको प्राप्त करने के साधनों की पृथकता मूल में है। यही कारण है कि समाजवाद के नाम पर अनेक विचारधाराएँ बन गई है जिन्हें मुख्यत: तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है—

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत स्वप्नलोकी समाजवाद है जो समाजवादी व्यवस्था का एक काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करता है। इस व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए इन लोगों ने कोई प्रभावशाली कदम भी नहीं सुझाए है और न ही इन लोगों ने समाज के विकास की कोई वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

द्वितीय वर्ग मे मार्क्सवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधाराएँ आती हैं जो परम्परागत लोकतन्त्र की विरोधी हैं और वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानते हुए सामान्य तौर पर सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसा को स्वीकृत करती हैं। मार्क्स, लेनिन, स्टालिन एवं माओत्से तुंग को इसी श्रेणी में रखा जाएगा।

तृतीय वर्ग में विकासवादी समाजवादी विचारधाराएँ आती है जो लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे विश्वास रखती हैं और उसी के द्वारा समाज परिवर्तन उपस्थित कर समाजवाद की स्थापना करना चाहती हैं। इसे राजकीय समाजवाद भी कहा जाता है।

समाजवाद का स्वरूप भी देश, काल एवं परिस्थितियो के अनुसार बदलता रहा है। मार्क्स के पूर्व तो समाजवाद के मौलिक तत्त्व भी उभर कर नही आ पाए थे। यद्यपि मार्क्स ने समाज के विकास की समीक्षा करते हुए उसे वैज्ञानिक धरातल दिया, लेकिन उसने जो दिया वह एक सिद्धान्त ही था। इसे लेनिन ने रूस मे लागू करते समय वहाँ की परिस्थितियोंवश उसमें आवश्यक संशोधन किए। स्टालिन ने उसमे कुछ परिवर्तन और कर दिया। लेनिन और स्टालिन शासक थे जिन्होने व्यावहारिक स्तर पर मार्क्स के दर्शन में आवश्यक परिवर्तन किए। इसी प्रकार माओत्से तुंग ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद को चीन के सन्दर्भ में सशोधित किया। किसने क्या परिवर्तन किया और क्यों इसका यथास्थान वर्णन किया जाएगा। ठोस से ठोस विचार मे भी कालान्तर में संशोधन और परिवर्तन करना पडता है। सामाजिक शास्त्रो के नियम शाश्वत और चिरन्तन नहीं होते। देश, काल और परिस्थितियाँ उन्हें पर्याप्त रूप से प्रभावित करती हैं और यही कारण है कि किसी विचारक अथवा नेता को किसी विचार की क्रियान्विति में व्यावहारिक स्तर पर जब कोई न्यूनता या दिक्कत नजर आती है तो वह उसमें सशोधन या परिवर्तन कर

देता है। इस प्रकार मार्क्स और एंजिल्स के विचारों को रूस में लेनिन और स्टालिन ने तथा चीन मे माओ ने बदला है। भारत के साम्यवादियों ने समाज परिवर्तन के लिए प्रचलित पूंजीवादी जनतान्त्रिक सस्थाओं में आस्था अभिव्यक्त की है। भारत की अविभाजित साम्यवादी पार्टी ने अपने अमृतसर अधिवेशन में भारत के सन्दर्भ में जनतान्त्रिक संस्थाओं के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने का निर्णय लिया था। द्वितीय आम चुनावो के बाद मे भारतीय साम्यवादी दल ने केरल में सरकार भी बनाई थी। चतुर्थ आम चुनावों के उपरान्त दोनो ही साम्यवादी दलों ने न केवल सत्ता ही प्राप्त की बल्कि अन्य दलों, यहाँ तक कि दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों तक के साथ मिली-जुली सरकारों मे पद भी ग्रहण किए। आज भी केरल में साम्यवादी दल कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साथ सविद सरकार का नेतृत्व कर रहा है। एक समय था जबकि चीन में माओ ने वहाँ के कतिपय पूंजीपतियों को राष्ट्रीय बुर्जुआजी कह कर उनके साथ समझौता किया था। वैसे मार्क्स ने साम्यवादी आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय परिधि के अन्तर्गत ही नियोजित किया था, लेकिन स्टालिन ने परिस्थितियोंवश "एक राज्य के अन्तर्गत समाजवाद" (Socialism within a Single State) के विचार को प्रतिपादित किया। ट्रॉटस्की और स्टालिन में मतभेद के अनेक कारण थे जिनमे एक यह भी था। माओ ने भी इस सिद्धान्त का अनुसरण किया।

इस विवेचन का यह आशय कदापि नहीं है कि समाजवाद एक पूर्णतः लचीला, अस्पष्ट एवं भ्रान्तिपूर्ण विचार है। यह एक स्पष्ट विचार है जो भली भाँति समझा जा सकता है। चाहे देश, काल और परिस्थितियों का कितना भी अन्तर क्यों न हो इसके मौलिक तत्वो पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस विचार को समझने वाले के मस्तिष्क में भ्रान्ति हो सकती है या उसके निहित स्वार्थ हो सकते हैं, लेकिन यह क्या है यह बिलकुल स्पष्ट है। देश काल और परिस्थितियों के कारण समाजवाद को विभिन्न नामों से पुकारा जा सकता है। इसकी क्रियान्विति हेतु समाजवाद विरोधी शक्तियों के साथ अल्पकालीन समझौते भी किए जा सकते हैं। लेकिन इसके मौलिक सिद्धान्त सर्वमान्य हैं और इसीलिए इसके स्वरूप को वैज्ञानिक भी कहा जा सकता है। "समाजवाद" क्या है और क्या नही है, अब इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। इस दृष्टि से "समाजवाद" की अब तक की गई कुछ प्रमुख परिभाषाओं का सर्वप्रथम उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

समाजवाद की कुछ परिभाषाएँ
(Some Definitions of Socialism)

समाजवाद की जितनी परिभाषाएँ अब तक हुई हैं उतनी शायद और किसी विचार की नहीं की गई। 1891 में पेरिस के एक समाचार-पत्र लीफिगारो ने समाजवाद की करीब 600 परिभाषाएँ संकलित की थीं। प्रो० ईली ने 400 परिभाषाओं का संकलन किया है। इतनी परिभाषाओं के बावजूद आज भी यह शब्द इतना ही दुखद और जटिल है जितना कि पहले था। हम यह तो नहीं

चाहते कि एक श्रौर नई परिभाषा बनाकर इसको अधिक जटिल बनाया जाए। हाँ, यथा-स्थान इसके मुख्य तत्त्वों का निरूपण करने का अवश्य प्रयास किया जाएगा। यहाँ उन सकलित परिभाषाश्रों मे से कुछ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है—

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार "समाजवाद वह सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय जनतान्त्रिक शासन द्वारा एक अच्छी वितरण-व्यवस्था श्रौर उसके अधीन सम्पत्ति के उत्पादन की अच्छी व्यवस्था करना है।"

जार्ज बर्नार्ड शा ने समाजवाद को केवल आय की समानता के अतिरिक्त श्रौर कुछ नही माना है। शा का कहना है कि "समाजवाद पौराणिक बने बनाए हलवे की भाँति नही है जिसको तश्तरी में रखकर तुरन्त खा लिया जाए श्रौर न रसगुल्ले की भाँति इतना चिकना है जो गले के मार्ग में हमेशा सरलता से फिसलता रहे।"

रेम्जे मेक्डोनल्ड के अनुसार, "समाजवाद का उद्देश्य समाज की भौतिक श्रौर आर्थिक शक्तियों का संगठन तथा उन पर मानव-शक्तियों का नियन्त्रण है।"

ह्यूमन "समाजवाद का उद्देश्य उत्पादन तथा वितरण के साधनों की लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था तथा सामूहिक स्वामित्व द्वारा शासन का उन्मूलन करना" बताता है।

सेलर्स के अनुसार, "समाजवाद एक ऐसी जनतन्त्रात्मक विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करना है जो कि एक ही समय व्यक्ति को अधिकतम न्याय तथा स्वतन्त्रताएँ प्रदान कर सके।"

ह्यूबर्ट ब्लाड ने बताया है कि "समाजवाद का अर्थ उत्पादन तथा विनिमय के साधनों के सामान्य स्वामित्व से तथा इस प्रकार की व्यवस्था करने से है कि सबको समान लाभ हो।"

प्रो० ईली ने समाजवाद के बारे में अपनी परिभाषा देते हुए लिखा है कि "एक समाजवादी वह है जो कि समाज को एक राजकीय संगठन के रूप में देखता है श्रौर जिसका उद्देश्य आर्थिक वस्तुश्रों का अधिक पूर्ण वितरण तथा मानवता को ऊँचा उठाना है।"

एलेक्जेंडर ग्रे के अनुसार, "समाजवाद अधिक से अधिक सम्पत्ति के (यदि सम्पूर्ण सम्पत्ति के नहीं तो) व्यक्तिगत स्वामित्व के उन्मूलन की माँग करता है श्रौर चाहता है कि इस प्रकार से हस्तान्तरित सम्पत्ति पर अधिकार श्रौर उसका उपयोग पूरे समाज द्वारा किया जाए।"

प्रो० लिटर ने समाजवाद को वह प्रेरणा बताया है जिसके द्वारा समाज में आमूलचूल परिवर्तन होता है। वह नए समाज का नेतृत्व श्रमिकों में केन्द्रित करता है।

एमाइल के शब्दों में, "वह मजदूरों का ऐसा संगठन है जो कि पूंजीपतियों की सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति में परिवर्तित करने के उद्देश्य से राजनैतिक अधिकार प्राप्त करना चाहता है।"

प्रो. जी डी. एच. कोल के शब्दों में, "समाजवाद का अर्थ चार सम्बन्धित बातों से होता है—(1) समस्त मनुष्यों का भ्रातृत्व जिसमें वर्ग भेद न हो, (2) ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें कोई व्यक्ति अपने पड़ोसियों से अधिक मालदार तथा अधिक दरिद्र न हो ताकि वह समानता के आधार पर एक दूसरे से मिल सके, (3) समस्त उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व हो, तथा (4) समस्त नागरिकों को अपनी पूर्ण क्षमता के साथ एक दूसरे की सेवा करने का भाव हो।"

जयप्रकाश नारायण के अनुसार, "समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गविहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण न होगा। इस समाज में सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी। अनार्जित तथा आय से सम्बन्धित भीषण विषमताएँ सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगी। ऐसे समाज में मानव-जीवन तथा उसकी प्रगति योजनानुकूल होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीवित रहेंगे।"

फ्रेड ग्रेमली के अनुसार, "समाजवाद का यही अर्थ है कि समाज के हितों को व्यक्ति के हितों की तुलना में प्रधानता दी जाए।"

लेवली के अनुसार, "समाजवाद सबको बराबर कर देने वाला यन्त्र है।"

हर बेबिल ने समाजवाद को एक सम्पूर्ण दर्शन बताया है। उसके शब्दों में "समाजवाद धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता का, राज्य के क्षेत्र में लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का, औद्योगिक क्षेत्र में औद्योगिक समष्टीवाद का, नैतिकता के क्षेत्र में अनन्त आशावाद का, आध्यात्मवाद के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी वस्तुवाद का तथा पारिवारिक क्षेत्र में व्यावहारिक बन्धनों के लगभग पूर्ण अन्त का सूचक है।"

डॉ० हौडनगेस्ट के अनुसार, "समाजवाद का अर्थ स्थानीय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की स्थापना करना है। प्रतियोगिता से व्यक्ति के चरित्र का सामान्यतः पतन होता है। व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रतियोगिता द्वारा उत्पादन की अनुचित मात्रा बढ़ जाती है।"

प्रोफेसर सी. ई. एम. जोड के अनुसार, "समाजवाद व्यक्ति की सबसे अधिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करता है जिसमें व्यक्ति भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार अपना जीवन-यापन कर सके और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके।....समाजवाद एक ऐसी व्यवस्था का वायदा है जिसमें व्यक्ति समाज में एक दूसरे के साथ इसलिए सहयोग करेगा कि जिससे वह जीवन के संघर्ष से अधिकाधिक रूप में बच सके और इन चीजों को कर सके जो अपने आप में करने योग्य हैं।"

जोड ने समाजवाद के मुख्य तीन कार्यक्रम बताए हैं—(1) उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण उद्योगों और सेवाओं को सार्वजनिक स्वामित्व और नियन्त्रण के अधीन करना, (2) उद्योगों का सचालन व्यक्तिगत लाभों के लिए न किया जाकर समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाना और इसीलिए उत्पादन की सीमा और प्रकृति को लाभ की दृष्टि से निश्चित न करके समाज की आवश्यकताओं की दृष्टि से निश्चत करना, एव (3) व्यक्तिगत लाभ के प्रलोभन के स्थान पर जो कि वर्तमान उद्योगों के पूंजीकरण मे आवश्यक बना दिया जाता है, सामाजिक सेवा की भावना की स्थापना करना।

प्रो० पीगू के अनुसार उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार को ही पूंजीवाद और सार्वजनिक अधिकार को समाजवाद कहते हैं।

रोश्चर के शब्दों में, "समाजवादी इन सब प्रवृत्तियों के पक्ष में हैं जिनमें मनुष्य के व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सार्वजनिक सुख की बात निहित हो।"

बर्ट्रेण्ड रसल ने लिखा है कि "यदि हम अर्थ, सम्पत्ति तथा भूमि के सामुदायिक स्वामित्व से समाजवाद का अर्थ लें तो हम उसके सारांश के निकट पहुँच जाते हैं।"

आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार, "समाजवाद का उद्देश्य एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है जिसमे न कोई शोषक हो और न कोई शोषित, बल्कि समाज सहकारिता के आधार पर निर्मित व्यक्तियों का एक सामूहिक सगठन हो।"

रॉबर्ट के अनुसार, "समाजवादी कार्यक्रम में वास्तव मे एक ही माँग है कि भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन जनता की सामान्य कम्पनी बना दी जाए। इनके उपयोग एवं प्रबन्ध की व्यवस्था जनता द्वारा जनता के हित के लिए की जाए।"

एम० टूगन बोरोविस्की के अनुसार, "समाजवाद की नैतिकता का मौलिक आधार है कि मनुष्य की क्षमता के आदर्श को स्वीकार करना चाहिए।"

लियो ह्यूबरमैन के शब्दों मे, "समाजवाद वह व्यवस्था है जिसमे पूंजीवाद के विपरीत, निजी स्वामित्व के स्थान पर उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होता है, व्यक्तिगत लाभ हेतु किए गए अराजक उत्पादन के स्थान पर उपभोग के लिए नियोजित उत्पादन होता है"

जवाहरलाल नेहरू के शब्दों मे, "समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त से कुछ अधिक है। इस जीवन का दर्शन है। समाजवाद के अतिरिक्त गरीबी, बेरोजगारी, अपमान एवं मोहताजी से दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका अर्थ यह है कि समाज के राजनीतिक एवं सामाजिक ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन, भूमि एवं उद्योग मे निहित स्वार्थो का उन्मूलन एवं इसके साथ ही काम के सामन्तवादी तथा अधिनायकवादी स्वरूप की भी समाप्ति। इसका अर्थ यह है कि बहुत ही सीमित सम्पत्ति की समाप्ति तथा वर्तमान लाभ-प्रणाली के स्थान पर सहकारिता के उच्च

आदर्श को अपनाना। इसका अर्थ यह है कि अन्ततोगत्वा हमारे मनोभावों, आदतों एवं इच्छाओं में परिवर्तन। संक्षेप में, समाजवाद का अर्थ एक नूतन सभ्यता है जो वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से पूर्णतया भिन्न है।"

समाजवाद के तत्त्व
(Elements of Socialism)

इतनी परिभाषाओं को दृष्टिगत रखते हुए "समाजवाद" क्या है इसे स्पष्ट किया जा सकता है। समाजवाद के सिद्धान्त पर आधारित वह समाज होगा—

(1) जहाँ उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो और जहाँ राज्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में इन साधनों पर नियन्त्रण रखे, तत्पश्चात् राज्य केवल व्यवस्था के रूप मे स्थित रहे। कुछ विचारक राज्य को निरर्थक मानकर इसकी समाप्ति की बात सोचते हैं,

(2) जहाँ की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था प्राप्त भौतिकी एवं मानवीय साधनों की पूर्ण उपयोगिता पर आधारित हो ताकि अधिकाधिक मानव-कल्याण हेतु अधिकाधिक उत्पादन किया जा सके,

(3) जहाँ आर्थिक प्रगति का अर्थ केवल प्रचुर भौतिक साधनों की उपलब्धि नही है बल्कि इनका उपयोग मानव के सुख, विकास, सम्मान और समृद्धि के हेतु किया जाए,[2]

(4) जहाँ मान्यता हो कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना अस्तित्व भी नहीं है, क्योंकि यह उसकी आधारशिला है। सच है कि आधुनिक विश्व में समाजवाद से रहित कोई भी वास्तविक जनतन्त्र नहीं है,[3]

(5) जहाँ व्यक्ति और समाज के मध्य सावयव (Organic) सम्बन्ध स्थापित हो। यह सम्बन्ध इस बात को निर्धारित करता है कि मनुष्य अलग-थलग नहीं हैं जो स्वतन्त्र रूप से अपने लिए अर्जन करता हो। समाज ने उसे वे सारे उपकरण-प्रदान किए हैं जिनकी सहायता एवं अन्य व्यक्तियों के सहयोग से वह उत्पादन-कार्य मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जब समाज ही मूल्य का निर्माता है तो वह क्यों नही इस पर नियन्त्रण रखे एवं इसका उपयोग करे। उत्पादन के साधनों को नियन्त्रित करते हुए समाज ही सामूहिक रूप से इनका उपभोग करे,[4]

(6) जहाँ मनुष्य को भौतिक चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त हो गई हो। समाजवाद का उद्देश्य मनुष्य को न तो भौतिक प्राणी बनाना है और न ही उसे भौतिक जगत् तक ही सीमित रखना है। यह उसे उन भौतिक परेशानियों से स्वतन्त्र

1. *Acharya Narendra Dev* : Democratic Socialism in India, p. 64.
2. *Acharya Narendra Dev* : op cit., p. 64.
3. *Acharya Narendra Dev* : op. cit , p. 62.
4. *C. E M. Joad* : Modern Political Theory, p. 49.

कर देना चाहता है जो उसे वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग करने एवं अपने व्यक्तित्व के विकास करने से वंचित रखती हैं,[1]

(7) जहाँ यह मान्यता हो कि मनुष्य का विकास केवल समाज में ही सम्भव है। मनुष्य की स्वतन्त्रता को केवल समाज ही साकार बनाता है,

(8) जहाँ शोषक और शोषित जैसे दो वर्ग नहीं होते। इस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं होगा। इस प्रकार वर्ग-विहीन समाज होगा,

(9) जहाँ एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में वास्तविक समानता हो। इसकी *यह मान्यता है कि राजनीतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों में समानता लाने* के लिए आर्थिक सम्बन्धों में समानता का धरातल तैयार करना आवश्यक है। आर्थिक सम्बन्धों मे समानता का अर्थ यही है कि अधिकतम और न्यूनतम आय में कोई विशेष अन्तर न हो। न्यूनतम आय वाले व्यक्ति को दैनिक जीवन की सभी सामान्य सुविधाएँ *प्राप्त हों एवं इसकी गारन्टी समाज या राज्य दे तथा ऐसा व्यक्ति भौतिक साधनों के* अभाव मे कभी भी समाज में पूर्ण स्थान प्राप्त करने से वंचित न रहे। अधिकतम आय वाले व्यक्ति को भी इतना धन न मिले कि वह इसके द्वारा किसी के श्रम को अपनी आजीविका एवं समृद्धि का साधन बनाए। समाज के किसी व्यक्ति की अनार्जित आय न हो और उसकी आय में से खर्चे के बाद बचने वाला धन कभी पूँजी (Capital) न बन सके। कहने का अर्थ यह है कि समाजवादी समाज में व्यक्ति की आय उसके उपभोग के लिए है, दूसरे के शोषण के लिए नहीं। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि सम्पत्ति राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक होगी,

(10) जहाँ राजनीतिक और आर्थिक सत्ता विकेन्द्रित हो। समाजवाद मनुष्य को दास नहीं बनाना चाहता बल्कि उसे दासता से मुक्त करना चाहता है। यदि उसे पूँजीपतियों की दासता से मुक्त कर राज्य का दास बना दिया तो व्यवस्था कहाँ बदली-परिवर्तन कहाँ आया ? मुर्गी को सरसों के तेल में भूना जाए या डालडा घी में—इस से उसके लिए क्या फर्क पडता है। समाजवाद सिद्धान्त में ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी सत्ता का केन्द्रीयकरण नहीं चाहता[2] क्योंकि इसमें मनुष्य व्यवस्था के अधीन हो जाता है। केन्द्रित व्यवस्था मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है और इससे उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। समाजवाद सभी शृंखलाओं, जटिलताओं एवं बन्धनों को तोड़कर मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के रास्ते खोल देता है। चूँकि समाज मे प्रतिस्पर्द्धा एवं अनिश्चितता का लोप हो जाता है अतः मनुष्य संकीर्ण दृष्टिकोण को छोड़कर दूसरे के लिए जीना सीखता है। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अपने-अपने छोटे घरौंदे नहीं होते; ज्ञान, विज्ञान, कला, कौशल आदि

1. *C.E.M. Joad*: Modern Political Theory, p. 51.
2. *Acharya Narendra Dev* : Democratic Socialism in India, p. 63.

का उपयोग किसी वर्ग विशेष की समृद्धि के लिए न होकर समस्त समाज के हित में होता है। समाज में नूतन मूल्यों, नूतन दर्शन एवं नूतन जीवन का सृजन होता है,

(11) जहाँ जाति-पाँति, ऊँच-नीच, वर्ग, लिंग, जन्म-स्थान, आयु एवं परम्परा पर निर्मित कोरे भेदभाव न हों, ये सब एक सामन्तवादी, बुर्जुआ समाज की सडांधें हैं। ये सब स्वतन्त्रता और समानता के शत्रु हैं। राजनीतिक जनतन्त्र एवं समाजवाद तथा जाति-प्रथा में कोई मेल नहीं हो सकता।[1] आधुनिक प्रगतिशील देश जाति-प्रथा में विश्वास नहीं करते और जो इस व्यवस्था को लेकर चलते हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पिछड़ गए हैं,[2]

(12) जहाँ श्रम की पूजा होती है। समाज का नेतृत्व श्रमिकों में निहित हो तथा शारीरिक और मानसिक श्रम में किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम चन्द लोगों के लिए पूँजी के निर्माण में उपयोग किया जाता है जबकि समाजवादी व्यवस्था में यह सार्वजनिक हित में प्रयुक्त होता है।

यहाँ समाजवाद जैसी एक दुरूह अवधारणा के मुख्य तत्वों को गिनाने का प्रयास किया गया है। ये तत्व करीब-करीब सर्वमान्य हैं और सिद्धान्त रूप में शायद ही समाजवाद की किसी भी धारा का इससे विरोध हो। मार्क्सवाद, श्रेणी समाजवाद, श्रमिक संघवाद, फेबियन समाजवाद, जनतान्त्रिक समाजवाद, समष्टिवाद अथवा राजकीय समाजवाद आदि सभी समाजवाद की ही धाराएँ हैं जो उपर्युक्त तत्वों से करीब-करीब सहमत हैं। देश, काल, परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न धाराओं का जन्म हुआ है लेकिन ये सभी समाजवाद रूपी वृक्ष की शाखाएँ एवं उपशाखाएँ हैं। सभी धाराएँ एक शोषणविहीन एवं वर्गविहीन समाज की स्थापना पर जोर देती हैं लेकिन मौलिक तत्वों के विवेचन में वे करीब-करीब एकमत हैं। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "समाजवाद की कई किस्में हैं। मगर सब इसके उद्देश्य से सहमत हैं कि उत्पादन के साधनों यानी खानों, जमीनों, कारखानों, वगैरह पर और रेलों जैसे वितरण के साधनों पर तथा बैंकों जैसी संस्थाओं पर भी राज्य का कब्जा हो। विचार यह है कि व्यक्तियों को अपने निजी फायदे के लिए इन साधनों या संस्थाओं के जरिए दूसरों की मेहनत को निचोड़ने न दिया जाए। आज तक ज्यादातर ये निजी मिल्कियत में हैं और इन्हें खूब निचोड़ा जाता है। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग तो मालामाल होकर आनन्द करते हैं पर सारा समाज मुसीबतें उठाता है और जनता गरीब बनी रहती है। उत्पादन के इन साधनों के मालिकों और चलाने वालों को भी बहुत सारी शक्ति गलाघोंटू होड़बाजी से आपस में लड़ने में ही खर्च हो जाती है। अगर इस निजी आपसी युद्ध के बजाए साझेदारी के साथ उत्पादन की ओर खूब सोच-विचार कर वितरण की व्यवस्था की जाए तो फिजूल का नुकसान और आपसी होड़ बच जाए और जुदा-जुदा वर्गों के लोगों के बीच आज दौलत की जो घोर

1. *Acharya Narendra Dev*: Democratic Socialism in India, p. 62.
2. *Ram Manohar Lohia* : Will to Power, p. 120.

असमानता है वह मिट जाए। इसलिए उत्पादन, वितरण और दूसरे बड़े-बड़े कामों का समाजीकरण हो जाना चाहिए। यानी उन पर राज्य का या यूँ कहो सारी जनता का कब्जा होना चाहिए। समाजवाद की यही कल्पना है।"[1]

समाजवाद के सर्वमान्य मूल तत्वों का उल्लेख कर देने के उपरान्त अब उन प्रमुख बिन्दुओं को लिया जा सकता है जिनको लेकर विभिन्न धाराएँ-उपधाराएँ निर्मित हुई हैं और जिन पर सब की सहमति भी नहीं है।

राज्य के बारे मे समाजवाद की विभिन्न धाराएँ एकमत नहीं हैं। फेबियन समाजवादियों, समष्टिवादियों अथवा राज्य समाजवादियों के अनुसार राज्य पूँजीपतियों की कठपुतली मात्र नहीं है। इनके अनुसार राज्य की किसी समय निरर्थकता अथवा असम्बद्धता भी नहीं होगी। वे इसे समाज परिवर्तन का एक आवश्यक शस्त्र मानते हैं जिसका उपयोग केवल वर्ग के दमन के लिए ही नहीं समाज-निर्माण के लिए भी किया जा सकता है। अन्य समाजवादी विचारधाराएँ न्यूनाधिक राज्य को एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का माध्यम मानती हैं। इनके अनुसार राज्य का केवल संक्रमण-काल में ही उपयोग किया जाना चाहिए; और एक बार समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होते ही इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाएगी। इनका कथन है कि जब समाज वर्गविहीन हो जाएगा तो राज्य स्वत मुरझा जाएगा।

दूसरा मतभेद वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को लेकर है। फेबियन समाजवादी, उदाहरणार्थ, वर्ग संघर्ष मे विश्वास नहीं रखते। समष्टिवादी अथवा राज्य समाजवादी भी वर्ग संघर्ष को लेकर समाज में तनावपूर्ण स्थिति नहीं बनाना चाहते। मार्क्सवादियों के लिए वर्ग संघर्ष अनिवार्य है।

तीसरा मतभेद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्धित है। वर्ग संघर्ष की भाँति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे भी अनेक समाजवादियों की आस्था नहीं है। वे न विकास को द्वन्द्वात्मक तरीके से सम्भव मानते हैं और न ही वे भौतिकवाद को ही इतना महत्व देते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या भी अनेक समाजवादियों को नहीं जँचती। इतिहास में होने वाले परिवर्तनों के पीछे भौतिक शक्तियों को मार्क्स द्वारा दी गई प्रधानता उन्हे अनुचित लगती है। उन्हें मार्क्स का सिद्धान्त एक-पक्षीय लगता है।

साध्य पर जब विचार करते हैं तो करीब-करीब सभी समाजवादी विचारक एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यह साध्य शोषण-मुक्त, वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का है। यद्यपि यह बात भी सही है कि भावी समाज की विस्तृत रूपरेखा के सम्बन्ध में सब में पूर्ण सहमति नहीं है। लेकिन साधनों को लेकर इनमें काफी मतभेद है।

1. जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक,

सार यह है कि समाजवाद के अनेक अर्थ लगाए जाते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इसमें अनेक बातें जोड़ दी हैं जो कहीं-कहीं परस्पर विरोधी, असम्बद्ध एवं असंगत लगती हैं। इसके नाम पर जो कुछ कहा जाता है उसके सम्बन्ध में सबकी सहमति भी नहीं है। यह भी सही है कि मार्क्स के पूर्ववर्ती अधिकांश समाजवादियों के विचार-स्वप्नलोकीय थे और मार्क्स ही प्रधान चिन्तक था जिसने समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। मार्क्स के बाद वाले अधिकांश समाजवादी विचार उससे काफी प्रभावित हैं लेकिन वे भी उससे पूर्णतः सहमत नहीं हैं। लेनिन, स्टालिन, माओ ये सब मार्क्सवादी हैं लेकिन इन्होंने भी अपने काल और परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए मार्क्सवाद में परिवर्तन किया है। लास्की को भी मार्क्सवादी कहा जा सकता है लेकिन उसने भी मार्क्स को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया है। कहने का अर्थ यह है कि समाजवाद की चाहे कितनी ही धाराएँ-उपधाराएँ क्यों न हों, चाहे सभी बातों एवं कार्यक्रमों पर सहमति न हो, लेकिन जो इसकी मूल बातें हैं उनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन पर करीब-करीब सबकी सहमति है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भावी समाजवादी समाज का चित्र कैसा हो इसके सम्बन्ध में कोई विशेष मतभेद नहीं है। अभिप्राय यह है कि साध्य कोई विवादग्रस्त विषय नहीं है, साधनों को लेकर गम्भीर मतभेद अवश्य है जो देश, काल और परिस्थितियों वश भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। समाजवाद क्या है, इसका उत्तर केवल यह है कि यह वह दर्शन, सिद्धान्त और कार्यक्रम है जो एक वर्गविहीन एवं शोषण मुक्त-समाज की स्थापना करना चाहता है। यह पूँजीवाद से उत्पन्न बुराइयों का उन्मूलन कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसकी व्यवस्था श्रमिक के हाथ में हो ताकि वह स्वतन्त्रता एवं समानता का उपभोग कर सके। यह मनुष्य को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त कर उसके जीवन में नूतन मानवीय मूल्यों का सृजन करता है।

समाजवाद की कुछ प्रमुख परिभाषाओं एवं इनके आधार पर निर्देशित कतिपय मुख्य तत्त्वों के वर्णन करने के उपरान्त अब हम अगले अध्याय में मार्क्सवाद के पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों का अध्ययन करेंगे।

2

मार्क्स की पूर्ववर्ती समाजवादी परम्परा—टॉमस मूर, मेब्ल, विलियम गॉडविन, सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन, लुई ब्लाँ, थॉम्पसन, होगस्किन आदि

(Pre-Marxist Socialist Tradition with Special reference to Thomas Moore, Mable, William Godwin, Saint Simon and the Saint Simonians, Charles Fourier, Robert Owen, Louis Blance, Thompson, Hodgskin and Others)

समाजवादी चिन्तन का व्यवस्थित रूप हमें कार्ल मार्क्स की रचनाओं में मिलता है। मार्क्स पहला व्यक्ति है जिसने समाजवाद को वैज्ञानिक आधार दिया। उसके पूर्व के समाजवादी विचारकों को काल्पनिक समाजवादी कहा गया क्योंकि उनका चिन्तन न व्यवस्थित ही था और न उसका आधार वैज्ञानिक ही था।

इन काल्पनिक या स्वप्नलोकीय समाजवादियों मे अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं जिनमें सर टॉमस मूर का नाम विशेष तौर पर उल्लेखनीय है। पृथक् पंक्ति में भी रखे जाने वाले समाजवादी हैं जिन्हें न तो वैज्ञानिक समाजवादी ही कहा जा सकता है और न ही उन्हे स्वप्नलोकीय विचारको मे ही रखा जा सकता है। इनमें सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवेन, लुई ब्लाँ, प्रोदा, होगस्किन आदि हैं। कुछ अन्य लोगों का उल्लेख भी किया जा सकता है।

सर टॉमस मूर
(Sir Thomas Moore)

एलेग्जेण्डर ग्रे (Alexnder Gray) ने मूर की सुप्रसिद्ध पुस्तक "यूटोपिया" (Utopia) को विश्व की श्रेष्ठ पुस्तकों मे माना है जिसका कारण है कि इसने प्लेटो की पद्धति को न केवल पुनर्जीवित ही किया बल्कि आने वाले युगों को एक दिशा भी दर्शायी।[1] बीयर (Beer) ने भी 'युटोपिया' को एक ऐसा ग्रन्थ बताया है जो चर्च के

1. "Sir Thomas Moore's Utopia is one of the great books of all time Reviewing in tradition of Plato, it has itself established a tradition for subsequent generation." —*Gray Alexander* : The Socialist Tradition, p 61.

धार्मिक विचारकों के नैतिक एवं राजनीतिक विचारों तथा मानववाद के दर्शन को मानव-समाज के सगठन की समस्याओं का समाधान दर्शाता है। टामस मूर को प्लेटो एवं सन्त आगस्तीन का अनुयायी धार्मिक एव मानवतावादी विचारक, निष्पक्ष सामाजिक आलोचक एव राष्ट्रीय विचारो वाला दार्शनिक कहा जाता है।

सन् 1478 मे इगलैंड मे जन्मे सर टामस मूर को यूनानी साहित्य एवं दर्शन का अगाध ज्ञान था। उसने प्लेटो के अमर ग्रन्थ रिपब्लिक के समर्थन में एक वार्ता (Dialogue) की रचना की एव सन्त आगस्तीन के व्यक्तित्व तथा दर्शन पर उसने अनेक भाषण भी दिए। मूर का तत्कालीन सामाजिक एव आर्थिक समस्याओं का गहरा अध्ययन था। उसे राज्य की ओर से कतिपय कूटनीतिक तथा कानूनी पद भी दिए गए थे। राज्य सेवा मे उसने ख्याति भी अर्जित की थी, लेकिन कैथोलिक धर्म के सरक्षण के कारण उसे राजाज्ञा द्वारा मृत्यु दण्ड भोगना पडा।

मूर को अमरत्व प्रदान करने वाली उसकी पुस्तक यूटोपिया (Utopia) है जिसकी रचना उसने 37 वर्ष की अपेक्षाकृत अल्पायु मे की थी। पुस्तक सर्वप्रथम लेटिन भाषा मे लिखी गई और इसके अग्रेजी मे अनूदित होने के पहिले जर्मन, फ्रेंच एव इटालियन भाषाओ मे इसके अनुवाद हो गए। यह आश्चर्य व्यक्त किया जाता है कि राज्य सेवा मे प्रवृत्त मूर किस प्रकार एक भिन्न मनःस्थिति बनाए रखकर प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक सस्थाओं पर तीखा प्रहार करता हुआ एक पूर्णत नवीन समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

यूटोपिया का अर्थ आनन्द का निवास-स्थान है। यूटोपस (Utopus) नामक दार्शनिक राजा ने एब्राक्सा (Abraxa) नाम के वीरान क्षेत्र को अपने अधिकार मे लेकर उसे एक धन-धान्यपूर्ण सम्पन्न राज्य के रूप मे परिवर्तन कर दिया। इस क्षेत्र के निवासी राजा यूटोपस द्वारा अधिग्रहण के पूर्व भयंकर पीड़ा, गरीबी एव दुःख मे ग्रस्त थे, लेकिन कालान्तर में उनमे शिष्टाचार एव मानवता का संचार हुआ तथा वे समृद्धि को प्राप्त हुए। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारण उस राजा के नाम पर इस क्षेत्र को "यूटोपिया" कहा गया। मूर का कहना है कि यह महान् परिवर्तन साम्यवाद एवं शिक्षा के कारण सम्पन्न हो पाया।

"यूटोपिया" के दो प्रमुख भाग हैं। प्रथम भाग में उस क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया गया है जो यथार्थ मे इंगलैंड के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की एक झलक है। इसमे समाज एवं शासन पर प्रबल प्रहार किया गया है। मूर का कहना है कि परिवर्तन के पूर्व समाज मे लोग गरीब एव गृहहीन थे, चोरी और बेईमानी का बोलबाला था। दूसरा कारण तत्कालीन समाज का गठन था। सामन्तवादी वर्ग मनमानी करता था जो छोटे-छोटे अपराधों के लिए जनसाधारण को मृत्युदण्ड भी दिलवा सकता था। पुस्तक की शैली आंशिक रूप से वार्ता की तथा आंशिक रूप से वर्णनात्मक है। इस नाटक के एक पात्र राफेल (Raphael) ने सामन्तवादी व्यवस्था का इन शब्दों में वर्णन किया है—"शासकीय दुर्व्यवस्था,

उच्चाभिलाषी राजाओं के द्वारा प्रजा की अवहेलना, आलसी धनिकों में प्रचलित दुराचार, चोरी, सभी प्रकार के अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड-इन दूषणों से साधारण रूप से समस्त संसार और विशेष रूप से इगलैंड ग्रस्त था।" इन अपराधों की आवृत्ति भी समाज के दूषित संगठन के कारण थी। मूर ने समाज की दूषित संरचना से क्षुब्ध होकर साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति की। उसने व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए कहा कि राज्य एक वह शस्त्र है जिसके द्वारा धनिक श्रमिकों का शोषण करते हैं।[1] राज्य कानून एवं व्यवस्था की आड में गरीबो के विरुद्ध सुनियोजित षड्यन्त्र रचा जाता है एव इस प्रकार एकत्रित किया गया धन ही सब प्रकार की बुराइयों की जड है। मूर का कथन है कि शासक का ध्येय केवल सीमोलघन करना तथा धन, वैभव एव ऐश्वर्य को भोगना है। मूर का कथन है कि जिसे हम राज्य कहते है वह वास्तव मे एक भयंकर षड्यन्त्र है जिसे धनी व्यक्तियो ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए बना रखा है। उसका कहना है कि यह एक कैसी विडम्बना है कि राज्य स्वय चोरों और अपराधियों को जन्म देता है और फिर उन्हे दण्डित करता है। दण्डित करने से ये अपराध समाप्त नहीं हो जाएँगे क्योंकि इनके मूल में वे सारी बुराइयाँ हैं जिन्हें राज्य सरक्षण देता है। यदि समाज मे आजीविका की व्यवस्था करदी जाए तो न तो मनुष्य चोरी ही करे और न ही उसे किसी प्रकार का दण्ड ही देना पड़े। तत्कालीन समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता पर बल देते हुए मूर ने लिखा है कि जब तक निजी सम्पत्ति रहेगी, समाज का अधिकांश भाग गरीबी, मोहताजी एव अशिक्षा के गहरे गर्त मे डूबा रहेगा।

युटोपिया के दूसरे भाग में मूर ने एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया है जो साम्यवाद के नियमों पर आधारित है। इसके पूर्व भाग मे वर्णित समाज की समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस आदर्श साम्यवादी समाज की एक झलक, जो सर टामस मूर के विचारो पर आधारित है, यहाँ, सक्षेप में प्रस्तुत की जा रही है।

युटोपिया राज्य छोटे-छोटे करीब 34 भौगोलिक क्षेत्रों मे बाँटा गया है। यह भौगोलिक क्षेत्र एक राजनीतिक इकाई भी है जो शासन, सार्वजनिक शिक्षा, शिल्पकला तथा वैदेशिक व्यवसाय का केन्द्र है। यह इकाई जिसे मूर ने शायर (Shire) कहा है करीब 20 मील भूमि पर अवस्थित है। प्रत्येक शायर करीब-करीब स्वशासी है एवं इसे स्वायत्तता प्राप्त है। एक शायर मे करीब छः हजार कुटुम्ब होगे जिनके अपने कृषि-फार्म होंगे। शायर का प्रशासन भी जनतन्त्रात्मक है। शायरो से मिलकर एक गणराज्य की स्थापना की गई है जो कि स्वशासित शायरो का लोकतन्त्रात्मक सघ है। गणराज्य की राजधानी मे राष्ट्रीय विधानसभा की बैठकें होती हैं जिनमें प्रत्येक शायर से तीन सदस्य निर्वाचित होकर जाते हैं। केन्द्रीय शक्ति सिनेट के हाथ मे होती है।

1. Utopia, op. cit., p 164.

युटोपिया राज्य के सामाजिक जीवन में समानता है। वहाँ के सभी लोग सम्मिलित रूप से एक-सा भोजन करते हैं। सबके लिए समान रूप से विश्राम, अध्ययन एव मनोरंजन की व्यवस्था भी की गई है। विवाह को एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था माना गया है एवं एक पत्नी-प्रथा ही मान्य है।

युटोपिया राज्य में युद्ध को एक सामाजिक अपराध माना गया है। लेकिन फिर भी आत्मरक्षा के लिए नागरिकों को युद्ध-कला में प्रशिक्षित अवश्य किया जाता है जिसका उपयोग किसी भी दुराचारी शासन से वहाँ के नागरिकों को मुक्त कराने के लिए भी किया जा सकता है। यदि युद्ध आवश्यक ही हो जाए तो राज्य के निवासी स्वयं लड़ने के स्थान पर भाड़े के सैनिकों को लड़ने के लिए भेजना ज्यादा ठीक समझते थे। रक्तपात के स्थान पर निपुणता में सलट लेना ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण मानते थे। खुले युद्ध के स्थान पर शत्रु-सेना को अपने राजा को मार देने के लिए उकसाना ज्यादा युक्तिपूर्ण माना गया था। यहाँ युटोपिया राज्य की साम्राज्यवादी लिप्सा की झलक भी मिलती है जो सम्भवतः सर टामस मूर की कल्पना में भी न थी।

इस आदर्श राज्य मे सभी नागरिकों के लिए शिक्षा अनिवार्य थी जिसका सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से जोड दिया गया था। संगीत, तर्क, गणित, ज्योतिष आदि का अध्ययन आनन्द की प्राप्ति के लिए था। आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है जो केवल भले और श्रेष्ठ कार्यों से सम्भव है। मूर ने सच्चा सुख उसे माना है जो मस्तिष्क, बुद्धि और आत्मा को तृप्त करता है तथा यह कला, संगीत एवं सत्य के मनन एव ध्यान से ही सम्भव है। मूर आत्मा को अमर मानता है और कहता है कि उसका निर्माण आनन्द की प्राप्ति के लिए हुआ है। उसका विश्वास है कि सद्‌गुण ही पुरस्कृत होते हैं तथा पाप मृत्यु के उपरान्त भी दण्डित किए जाते हैं। भले, सच्चे, निःस्वार्थपूर्ण एव परोपकारी कार्य ही मनुष्य को सच्चा आनन्द प्रदान करते हैं। इससे मनुष्य को शान्ति एवं आत्मिक बल प्राप्त होता है। वह मनुष्य के लिए कला, संगीत एवं चिन्तन को आवश्यक मानता है। मूर ने धन ऐश्वर्य, शिकार एवं जुएँ की भर्त्सना की है क्योंकि ये मनुष्य को पतन के गर्त में ले जाते हैं तथा इनसे प्राप्त होने वाला सुख झूठा एवं क्षणिक होता है। यहाँ मूर एक धार्मिक नेता के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

आर्थिक समस्याओं के बारे में भी मूर ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'युटोपिया' राज्य का प्रमुख व्यवसाय खेती है। प्रत्येक नागरिक को कृषि में निपुणता प्राप्त करनी होगी। मूर सादा जीवन एवं कृषि-कार्य मे सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है। उसने शिल्प-विद्या को भी आवश्यक माना है। वह यह आशा करता है कि प्रत्येक नागरिक कृषि के साथ ही शिल्प-विद्या का भी जानकार होगा। इस राज्य में विदेशों से व्यापार भी होगा लेकिन इसके पीछे अपने को धनी बनाने का उद्देश्य नहीं है। मूर ने सोने, चाँदी जैसे मूल्यवान पदार्थों को घृणित माना है। उसका कथन है कि "मनुष्य की मूर्खता ने सोने और चाँदी के मूल्य को बढ़ा दिया है और इसका कारण

इनका प्रभाव है।"[1] युटोपिया राज्य के निवासियों को इन पदार्थों के प्रति कहीं मोह न हो, इसलिए राज्य में सोने का प्रयोग अपमानजनक माना गया था। सोने की बेड़ियां गुलामों के लिए बनाए जाने की व्यवस्था थी, राज्य मे सोने की बाली दण्डित व्यक्ति को पहनाई जाती थी।

यूनानियों की भांति मूर भी दास प्रथा को महत्त्व देता है। 'युटोपियः' राज्य का नीचा एव घृणित कार्य या तो विदेश मे आए गरीब श्रमिक करेंगे अथवा गम्भीर अपराध मे दण्डित कैदी करेंगे। मूर ने विदेशी गरीब श्रमिक को आदर्श राज्य में स्वदेश लौटने की अनुमति देने की बात कही है जबकि कैदियो को कठोर यातना देने की बात कही है जिन्हे सारे दिन कठोर कार्य करना पड़ता था एव उन्हे जजीरों से बांध कर रखा जाता था। क्रुद्ध गुलाम को एक जगली जानवर की भांति समझा जाता था और अन्त मे मृत्यु ही उसका एकमात्र निदान था।

आलोचना एवं मूल्यांकन

मूर पहला व्यक्ति है जिसे समाजवादी कहा गया है चाहे वह स्वप्नलोकीय ही क्यों न हो। उसने वर्तमान व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया, राज्य को पूंजीपतियों की सस्था बताया और एक आदर्श राज्य का विचार प्रस्तुत किया। लेकिन उसे समाजवादी चिन्तन के इतिहास मे कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया जा सकता जिसके कुछ निम्नलिखित कारण हैं—

टामस मूर ने एक सामाजिक वैज्ञानिक की भांति न तो समस्या को समझा है और न ही उसका कोई समाधान ही प्रस्तुत किया है। मानव स्वभाव क्या है, सामाजिक सगठन की प्रकृति क्या है और उनका निर्माण कैसे होता है एवं आर्थिक और राजनीतिक घटनाओ मे क्या तालमेल है, इत्यादि महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्नो को तो वह छूता भी नही है। उसने वर्तमान रुग्ण समाज के लक्षणों का वर्णन अवश्य किया है, लेकिन उसके द्वारा प्रतिपादित 'युटोपिया' समस्या का कोई समाधान नही है। युटोपिया को गम्भीर कृति मानना ही मुश्किल है। समाज परिवर्तन के जो दो प्रमुख साधन साम्यवाद और शिक्षा उसने बताए वे प्लेटो की नकल से कुछ भी अधिक नहीं हैं।

उसने जिस आदर्श राज्य की बात कही वह इस धरातल पर तो सम्भव नही है। सामन्तवादी राज्य किस प्रकार एक आदर्श राज्य में परिवर्तित हो गया इस प्रक्रिया की मूर ने कोई भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नही की। साम्यवादी आधार पर मूर ने एक आदर्श राज्य के निर्माण की कल्पना की, लेकिन इस कार्य हेतु कौन व्यक्ति अथवा वर्ग अगुवाई करेगा, इस परिवर्तन के पीछे आर्थिक शक्तियों की क्या भूमिका होगी, उत्पादन के साधनों पर किसका नियन्त्रण रहेगा आदि अनेक प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर मूर ने नही दिया।

1. "...The folly of man has enhanced the value of gold and silver, because of their scarcity" —*Utopia* (as printed in Ideal Commonwealths, Universal Library), p. 110.

एक ओर मूर समाज मे समानता की बात करता है लेकिन दूसरी ओर उसने दास प्रथा को जबर्दस्त समर्थन दिया है। दासों का जीवन उसने पशु-तुल्य बना दिया है। राज्य का घृणित एव नीचा कार्य दासों के सुपुर्द किया गया है। भला यह कौनसा साम्यवादी नियमो पर आधारित समाज होगा जिसमे समाज नागरिकों एवं गुलामों मे विभाजित होगा।

युटोपिया के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मूर ने उत्पादन, वितरण एवं अन्य आर्थिक समस्याओ के बारे मे कोई भी समाधान नही ढूँढा है। उसने जिस आनन्द की कल्पना की है वह विचारको की अपेक्षा साधु-सन्तो एवं आध्यात्मवादियों की सी लगती है। उदाहरणार्थ मूर का यह कथन कि "धन, ऐश्वर्य, शिकार, जुआ आदि मनुष्य को पतन के गर्त मे ले जाते हैं तथा इनसे प्राप्त होने वाला सुख झूठा एव क्षणिक होता है" किसी भी धार्मिक नेता के मुँह से शोभा दे सकता है। इन सामाजिक बुराइयो का अस्तित्व क्यों है और किन सामाजिक प्रक्रियाओ द्वारा इनका उन्मूलन किया जा सकता है, आर्थिक एव राजनीतिक घटनाओं मे क्या सम्बन्ध होते हैं आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मूर ने कोई अध्ययन ही नही किया है।

इन सब न्यूनताओ के बावजूद भी मूर का महत्त्व इसलिए है कि उसने सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण मुद्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्पित किया। ये हैं—(क) अनुत्पादक वर्गो (Unproductive classes) की बुराइयाँ, (ख) हमारी फिजूल-खर्ची और धन का त्रुटिपूर्ण उपयोग, (ग) धन की बुराइयाँ और विशेष तौर पर सोने का अहितकारी प्रभाव, (घ) धनी व्यक्तियों द्वारा गरीबों का शोषण, (ङ) राज्य एक वर्ग-ढाँचा (Class organisation) एवं धनिको द्वारा सुनियोजित षडयन्त्र। इन बातों की ओर ध्यान आकर्षित करने के कारण सर टामस मूर को समाजवादी चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

मेब्ल
(Mable, 1709-1785)

मेब्ल अपने समय के बहुत ही प्रसिद्ध व्यक्तियों मे से था। उसकी प्रसिद्धि उसकी मृत्यु के उपरान्त और भी बढी और उसके ग्रन्थों के अनेक सस्करण छापे गए और वे बड़े ही चाव से पढ़े गए। वह अपने समय की बुराइयो से व्यथित था और उसके समक्ष स्पार्टा एक आदर्श राज्य के रूप मे रहा। उसे पादरी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ करने के लिए तैयार किया गया था लेकिन शीघ्र ही उसने इससे मुक्ति पाई। कुछ समय तक उसने राजनीतिक रोजगार पाने की सोची लेकिन फिर उसने एक लेखक बनने की ठान ली। उसने एक बहुत ही व्यापक पैमाने पर लिखा जिसमें इतिहास, राजनीति, व्यवस्थापन, नैतिकता आदि विषय लिए। उसके लिखने का उद्देश्य मनुष्य को श्रेष्ठ बनाना था।

जो कुछ उसने कहा उसे अन्य लोगों ने और भी अच्छे ढंग से कहा है। लेकिन फिर भी उसका महत्त्व इस बात मे है कि उसका घटनाओ के विकासक्रम मे स्थान है

और कुछ इस बात में भी कि उसने एक विचित्र निराशा के वशीभूत होकर बताया कि यह विश्व अनेक बीमारियों से पीड़ित है जिसका कोई प्रभावशाली उपचार नही है। प्राकृतिक विधि मे आस्था रखते हुए उसने मानव मात्र की समानता मे विश्वास किया, अपने इर्द-गिर्द देखकर निष्कर्ष निकाला कि निजी सम्पत्ति ही मानव के समस्त दु.खों का मूल कारण है। उसकी यह राय बनी कि सादा जीवन ही श्रेयष्कर है। सक्षेप में, मेब्ल के चिन्तन का यही सैद्धान्तिक आधार है।[1]

समानता का सिद्धान्त

मेब्ल के अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। "प्रकृति हमे सैकड़ों भिन्न-भिन्न तरीको से कहती है कि तुम सब मेरी सन्तान हो और मैं तुम सबको समान रूप से प्यार करती हूँ, सारी वसुधा तुम्हारे पिता द्वारा दी गई वसीयत है, तुम सब समान थे जब तुम मेरे पास से गए थे।" मेब्ल का कथन था कि प्रकृति ने न राजा बनाए और न मजिस्ट्रेट ही, न धनी बनाए और न गरीब ही। जब प्रकृति ने मनुष्य के निर्माण का अपना कार्य पूरा किया उस समय असमानता का कोई सिद्धान्त कही भी नही था।[2] उसका कहना था कि मनुष्य सर्वत्र एकसे हैं, प्रकृति मे कितनी एक रूपता है। मनुष्य को भौगोलिक परिधि मे नही बाधा जा सकता; मौसम, भूमि, पहाड़ या मैदान आदि के भौगोलिक अन्तर विश्व के मनुष्यों मे किसी प्रकार की दरार उत्पन्न नही करते। उसने इस बात का भी उत्तर दिया कि सब मनुष्यो मे गुण समान नही होते। मेब्ल ने कहा कि यह शिक्षा है जो हमें यह गलत बात सिखाती है कि ईश्वर ने मनुष्यों को असमान बनाया है। जन्म के समय सब लोग समान होते हैं। मेब्ल इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी मनुष्यो की समान पृष्ठभूमि होती है और इसलिए उनमे किसी प्रकार का अन्तर करना अनुचित है।

सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

मेब्ल ने सम्पत्ति के उद्गम का विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि आधुनिक सम्यता के प्रारम्भ के पूर्व समाज में सम्पत्ति का कोई बोध नही था और सम्पत्ति विहीन व्यक्ति बहुत ही सुखी थे। मेब्ल ने सम्पत्ति सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किए वे बड़े ही विचित्र नजर आते हैं। उसने लिखा है कि सम्पत्ति का उद्गम उन शोषको के आलस्य में निहित है जो दूसरों के श्रम पर जीवित रहते हैं और जिनमें श्रम के प्रति प्रेम को नही जगाया जा सका। ऐसे लोगों के लिए तो केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जो श्रम नही करेगा उसे खाने का भी अधिकार नही होगा। उसने तो यह भी बताया कि मजिस्ट्रेट लोग अपने हक से अधिक भौतिक साधनों पर आधिपत्य कर लेते हैं तथा अपने रिश्तेदारों एवं मित्रो को अनुचित ढंग से लाभ पहुँचाते हैं।[3] इससे

1. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 87.
2. *Mably* : Doutes, p. 11.
3. *Mably* : De La Legislation, p. 36.

दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।[1] प्रथम, यह अकर्मण्यता जिसने प्रारम्भिक साम्यवाद को समाप्त कर दिया था, वह पुनर्स्थापित किए जाने वाले साम्यवाद को भी नष्ट कर सकती है, इसके अन्तर्गत भी दूसरो के श्रम पर जीवित रहने वाले व्यक्ति भी मौजूद रहेगे। द्वितीय, यह बडी ही विभिन्न विरोधी दलील है कि साम्यवाद ही एकमात्र अवस्था है जिसमे मनुष्य प्रसन्नता एवं नैतिकता के साथ रह सकता है तथा साथ में यह उसने कहा कि साम्यवाद को इसलिए त्यागना पड़ा कि साधारण नागरिकों ने अपने साथियो के साथ सद्व्यवहार नहीं किया जिसके परिणामस्वरूप समाज का नेतृत्व बेईमान और पक्षपात करने वाले व्यक्तियों के हाथों में आ गया। मेब्ल के अनुसार पाप का यहीं से प्रारम्भ हुआ है।

उसके कहने का सार यह है कि सम्पत्ति ही सारी बुराइयो की जड़ है। जिस क्षण सम्पत्ति की स्थापना हो गई, असमानता अनिवार्य बन गई और इसके परिणामस्वरूप धन तथा गरीबी की समस्त बुराइयो एवं सभ्यता का भ्रष्ट स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होने लगा। सम्पत्ति का बोध एवं उसका अस्तित्व प्रकृति-सम्मत नही है, इसकी स्वीकृति केवल परम्पराओ में निहित है तथा परम्परा जो बना सकती है उसे वह नष्ट भी कर सकती है।[2]

वह समानता के विचार की क्रियान्विति की दृष्टि से वह समाज के भिन्न-भिन्न व्यवसायो के व्यक्तियो को सम्मानित करने के पक्ष मे था क्योंकि समाज के निर्माण मे योगदान केवल शासक, मजिस्ट्रेट, विद्वान ही नहीं करते अपितु जिन्हें साधारण व्यक्ति कहा जाता है उनकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मेब्ल गडरियो, शिकारियों आदि तक को सावजनिक रूप से सम्मानित करने के पक्ष में था।

भविष्य पर निगाह

अतीत और वर्तमान की उसने कटु आलोचना की, लेकिन कुछ उसने भविष्य के बारे मे भी कहा। नि सन्देह, वह एक जबर्दस्त निराशावादी व्यक्ति था। वह तो यहां तक मानता था कि हमारे एकत्रित पापो के कारण हम पुन. प्रसन्नता की मंजिल तक नही पहुँच सकते हैं। समानता को पुनः लाने की आशा को उसने त्याग दिया और निराशा व्यक्त की कि कोई भी मानवीय शक्ति अब इसे पुन. स्थापित नही कर सकती। क्योंकि ऐसा करने में इतनी अव्यवस्था हो जाएगी जिसे टाला नही जाना चाहिए। वह तो इतना निराश हो गया था कि वर्तमान बुराई की जड़ें इतनी गहरी पहुँच चुकी है कि अब इसका इलाज ही सम्भव नही है।[3] हममे और प्रकृति के मध्य उत्पन्न खाई अब पाटी नही जा सकती।[4]

1. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, op cit., pp. 88 89
2. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, op. cit , p. 69.
3. "...The evil today is too deeply rooted to allow any hope of a cure" —*Mably* : Doutes, pp 12-19.
4. Ibid, p. 36

लेकिन इस भयंकर नैराश्य के बावजूद भी उसने भविष्य की ओर कुछ आशाप्रद दृष्टि से भी देखा था। उसने सोचा कि कुछ बातों को अमल में लाने से हो सकता है कि हमारे दुर्भाग्य कुछ कम हो जाएँ। उसने सुझाव दिया कि कानून ऐसे बनाए जाएँ जिसमें धन की लालसा एवं महत्वाकांक्षा को हतोत्साहित किया जा सके। मेब्ल इन दो बुराइयों को असमानता की जड़ मानता है। असमानता से अन्य अपराध पनपते हैं इसको दूर करने के लिए उसने सुझाव दिया कि राज्य को एक आदर्श उपस्थित करना चाहिए। खर्च की बहुत कम आवश्यकताएँ होनी चाहिए तथा खर्चा और कर कम से कम होने चाहिए।[1] मजिस्ट्रेटों को वेतन देने की आवश्यकता नहीं है तथा नागरिकों को अपनी साधारण सम्पत्ति से सन्तुष्ट होने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए तथा धन को अर्थहीन बना दिया जाना चाहिए।[2] वह ऐसे कानूनों के बनाने के पक्ष में था जो सबके लिए समान हों। विलासी जीवन को पूर्णतः त्याग दिया जाना चाहिए तथा कला का भी इस सादगीपूर्ण जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। वह इस राय का था कि उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून इस प्रकार बनाया जाए कि जिससे सम्पत्ति का संचय होना रुक जाए। जिस परिवार में एक लड़की हो वहाँ दो लड़के भी गोद ले लिए जायें ताकि वह इकलौती लड़की अधिक सम्पत्ति के कारण भ्रष्ट न हो जाए। वह चाहता था कि जहाँ तक हो व्यापार की मनाही हो, सरकार को तो कभी व्यापार करने की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि व्यापारी एक खतरनाक व्यक्ति होता है और उसकी किसी देश के प्रति निष्ठा नहीं होती। वह मुश्किल से ही ईश्वर का प्यारा बन सकता है क्योंकि वह सभी प्रकार के धोखे कर सकता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

मेब्ल ने सम्पत्ति रूपी संस्था पर प्रहार किया, लेकिन इसकी समाप्ति की विधि पर प्रकाश नहीं डाला। उसने सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली बुराइयों का वर्णन किया, लेकिन एक विचारक के लिए यह पर्याप्त नहीं होता। उसे उन कारणों का अध्ययन करना होता है जिनसे ऐसा हुआ तथा उसे दूर करने के लिए एक पद्धतिपूर्ण रास्ते का सृजन करना होता है।

सत्य तो यह है कि मेब्ल चर्च के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति था। उसने अपने लेखन में स्थान-स्थान पर ईश्वर का जिक्र किया है और असमानता पर प्रहार करते हुए यह बताया है कि ईश्वर ने सबको समान बनाया है। वह एक लेखक के रूप में जब ईश्वर के नाम पर अपील करता है तो ऐसा लगता है कि उसके पास तर्क का अभाव है और इसलिए अपनी बात कहने के लिए वह ईश्वर की शरण लेता है। वह न समाजवादी चिन्तन को स्पष्ट और विकसित कर पाया और न ही अपनी बात को पद्धतिपूर्ण ढंग से स्पष्ट ही कर पाया। उसके द्वारा दिए गए तत्त्व का

1. *Mably*: De La Legislation.
2. *Mably*: Ibid, p. 133

विवेचन करते हुए अलेक्जेण्डर ग्रे ने लिखा है कि उसका समाजवाद कृत्रिम, केवल बौद्धिक, अपने समय से असम्बद्ध, लेकिन फिर भी आगे आने वाले युग से सम्बन्धित था।[1]

मेब्ल की सबसे बड़ी विशेषता और उसका महत्त्वपूर्ण योगदान केवल इस बात में है कि उसने पूर्ण एकता के विचार को बड़े ही भावपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से कहा। उसने प्रकृति और ईश्वर की दुहाई देकर समाजवाद के एक मुख्य तत्त्व समानता पर प्रकाश डाला। उसने सादगी के जीवन की वकालत की और बताया कि शासक को भी विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने समस्याओं और मानवीय कष्टों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। मेब्ल का अध्ययन समस्याओं की जानकारी करने के लिए किया जाना चाहिए, और न कि उनके निवारण करने हेतु क्योंकि वह इस दृष्टि से कोई योगदान नहीं दे पाया। उसका समाजवादी चिन्तन के इतिहास में स्थान केवल इसलिए है कि उसने पूँजीपतियों एवं विलासितापूर्ण जीवन एवं असमानता की भर्त्सना कर अपने इस विचार को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया कि सब मनुष्य पूर्ण रूप से समान हैं।

विलियम गाडविन
(William Godwin, 1756–1836)

विलियम गाडविन अपने समय के प्रभावशाली व्यक्तियों में से था। एक लेखक के रूप में तो उसने अपरिमित ख्याति अर्जित की थी। उसकी महत्त्वपूर्ण कृति 'An Enquiry Concerning Political Justice' को अभूतपूर्व सफलता मिली। इसका प्रकाशन 1793 में हुआ था। ऐसी कहावत है कि ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पिट ने इस पुस्तक का इस आधार पर दमन करना अस्वीकार कर दिया था कि तीन गिनी कीमत वाली यह पुस्तक ज्यादा हानि नहीं पहुँचा सकती। उसे 37 वर्ष की अपेक्षाकृत कम आयु में ही बड़ी प्रसिद्धि मिल गई थी, यद्यपि उसका देहावसान 80 वर्ष की आयु में हुआ था। वह अपने जीवन के सध्याकाल में भयंकर कष्ट में रहा, उसे सभी प्रकार की मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ा। चाहे उसका अन्तिम समय कष्टमय रहा हो, वह विस्मृत रहा हो, लेकिन सब कुछ मिलाकर यही कहा जाएगा कि गाडविन तत्कालीन बौद्धिक जीवन का केन्द्रबिन्दु था। उसे अराजकतावाद का जनक, मेरी वोलस्टान क्राफ्ट का पति जो महिलाओं के अधिकारों की प्रथम और प्रभावशाली वकील थी, शैली जैसे सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि का श्वसुर तथा माल्थस जैसे अर्थशास्त्री का आध्यात्मिक पूर्वज बनने का श्रेय प्राप्त था। उसके लिए कहा जाता है कि वह भावनाओं से शून्य था और उसमें सामान्य बुद्धि का अभाव भी था। इसके परिणामस्वरूप वह व्यावहारिक जीवन में असफल रहा। वह तर्क और बुद्धि के आधार पर ही निर्णय एवं पारस्परिक

1. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, p. 93.

मानवीय सम्बन्धों को निर्धारित करता था। वह व्यवहार में शुष्क था और यह भूल जाता था कि मानव जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों मे तर्क एवं बुद्धि का कितना कम महत्त्व है।

मनुष्य वातावरण की उपज

गाडविन की मान्यता थी कि मनुष्य पर अपने वातावरण का पूर्ण प्रभाव पडता है और वह इसकी देन है। मनुष्य कोई गलती या पाप नही करता, वह समाज के द्वारा भ्रष्ट कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में पहल माता-पिता करते हैं क्योंकि बच्चा जन्म के समय न पापी होता है और न पुण्यात्मा ही। कहने का अर्थ यह है कि गाड़विन ने बच्चे के माता-पिता, अभिभावकों, संरक्षको एवं समाज के कर्णधारों पर सारा दोष आरोपित किया है। उसने इस बात से मना किया है कि कोई पाप या नैतिक उत्तरदायित्व भी होता है। उसका कथन यह था कि मनुष्य को उसके द्वारा किए गए किसी भी कार्य के लिए अनैतिक या दोषी नही ठहराया जाना चाहिए और उसे सुधारना है तो सर्वप्रथम वातावरण को ठीक किया जाना चाहिए।[1] उसकी दूसरी एक और मान्यता यह थी कि मनुष्य न्यायोचित बात में विश्वास करते हैं, उन्हें सही बात मानने के लिए मनाया जा सकता है तथा उद्घोषित सत्य को वे सत्य कह सकते हैं और उसके अनुकूल वे आचरण भी कर सकते हैं। उसकी मान्यता थी कि सत्य गलती का विरोध करता है और मनुष्य विवेकशून्य नहीं होते। उसी के शब्दों में, "सारा पाप त्रुटि के अतिरिक्त और कुछ भी नही हैं, ऐसी त्रुटि जो व्यवहार में आ गई है तथा जिसे आचरण मे एक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत कर लिया गया है।"[2] पुनः उसी के शब्दो मे, "सत्य को ऐसे सशक्त तथ्य के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है कि अन्ततोगत्वा यह बहुत ही जटिल पूर्वाग्रहो पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। सत्य की प्रकृति प्रसार की है।"[3]

जो कुछ हमने अब तक गाडविन के विचारो को स्पष्ट करते हुए लिखा है उसका सार यह है कि मनुष्य न अच्छा है और न बुरा ही, उसे बाह्य वातावरण ने ढाला है। लेकिन यह अवश्य है कि वह बुद्धि और तर्कसंगत बात को अवश्य समझता है और इसके अनुसार आचरण भी कर सकता है। उसके इर्द-गिर्द यदि बौद्धिक वातावरण हो तो सभी समस्याओं का समाधान ढूंढा जा सकता है। इस प्रकार गाडविन मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का स्वप्न देखता है। क्योंकि जब मनुष्य वातावरण की उपज है तो वातावरण को सुधारने पर मनुष्य स्वतः सुधारा जा सकता है। गाडविन क्रमिकवादी था और स्वीकार करता था कि निरन्तर प्रयास करते रहने पर मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है।

1. *William Godwin* : Enquiry Concerning Political
2. Ibid, p. 31.
3. Ibid, p 63.

शिक्षा

गाडविन शिक्षा को 'अपरिमित शक्ति का द्योतक' मानता था लेकिन जब तक ठीक प्रकार के अध्यापक न हो तो शिक्षा कौन देगा।[1] उसके कहने का अर्थ यह था कि सही शिक्षा के लिए सही अध्यापक चाहिए और सही अध्यापक केवल वही हो सकता है जिसने सही शिक्षा प्राप्त की है। गाडविन बड़ा ही निराश होकर यह पूछता है कि इस दूषित वातावरण में सही शिक्षा प्राप्त कैसे होगी, सही अध्यापक कहाँ से मिलेगा ?

समाज में न्याय की स्थापना

समाज में व्याप्त बुराइयों की जड़ वह दूषित सामाजिक संस्थाओं को मानता था। चोरी, डाका, धोखा-धड़ी आदि सामाजिक अपराध इसलिए होते हैं कि मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है। यदि प्रत्येक मनुष्य सहज ही में जीवन की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कर सके तो ऐसे समाज में अपराध जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहे। उसके अनुसार गरीबी ही बहुत से अपराधों के मूल में है।[2] गरीब आदमी ईर्ष्या, असन्तोष एवं निराशा के गर्त में डूबे रहते हैं।[3] गाडविन के अनुसार यही स्थिति वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। अतः आवश्यकता है कि समाज में न्याय की स्थापना हो जिसका अर्थ उसके शब्दों में यही है कि जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार सारे समाज के हित में योगदान दे। लेकिन होता इसके विपरीत है। साधन-सम्पन्न लोग केवल अपना ही हित सोचते हैं और राज्य केवल उनके लिए ही सब कुछ करता है। उसका कथन था कि केवल धनी व्यक्ति ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में राज्य के विधायक होते हैं जिसके परिणामस्वरूप समस्त दमन को एक व्यवस्था के रूप में उतार देते हैं। इस सारी व्याधि का हल न्याय में है जिसका विकल्प सामाजिक विघटन है। गाडविन मनुष्य पर समाज का बड़ा ऋण मानता था और इसलिए बहुत ही सशक्त शब्दों में उसने कहा कि मनुष्य की समस्त शक्ति, योग्यता, सम्पत्ति एवं समय अपने सामर्थ्य के अनुसार सारे व्यक्तियों के उत्थान की दिशा में केन्द्रित किए जाने चाहिएँ। न्याय यही कहता है कि यही मनुष्य का सबसे बड़ा कृत्य है। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है।[4]

सहयोग, विवाह-संस्था आदि का विरोध

गाडविन 'सहयोग' के विरुद्ध था। सहयोग में एक व्यक्ति को दूसरे की सुविधा, समझ, बुद्धि आदि के मुताबिक झुकना पड़ता है। सहयोग अल्पकालीन ही नहीं दीर्घकालीन भी होता है। हो सकता है कि दो व्यक्ति जिनमें एक समय सहयोग

1. Ibid, p. 25.
2. Ibid, pp. 34-35.
3. Ibid, p. 36.
4. Ibid, p. 432.

करने से लिए समझौता हुआ, वह उनके बौद्धिक स्तर में अन्तर होने के कारण अधिक समय तक न टिक सके। यह भी हो सकता है कि कुछ समय उपरान्त उनमें से किसी एक व्यक्ति का बौद्धिक स्तर अधिक उन्नत हो जाए जिसके फलस्वरूप दोनों में 'सहयोग' और भी मुश्किल हो जाए। दो से अधिक लोगों के बीच सहयोग तो और भी कठिन हो जाता है। गाडविन के अनुसार सहयोग का अर्थ किसी के बौद्धिक विकास को अवरुद्ध कर देना है। यह केवल तब ही सम्भव है जबकि आदमी अनुभव एवं जीवन से कुछ भी नहीं सीखे, लेकिन कोई कारण नहीं कि कल का मूर्ख आज भी मूर्ख ही रहे। किसी भी प्रकार के कोई वायदे करना (जो कि सहयोग के लिए आवश्यक है) अपने में एक भारी बुराई है। इससे बढ़कर कोई दूसरी हानि नहीं हो सकती कि जिसमे अतीत की मूर्खता के कारण भविष्य मे अर्जित बुद्धिमता से वंचित होना पड़े।[1] इसी आधार पर गाडविन विवाह संस्था पर प्रहार करता था। विवाह मे सहयोग की आवश्यकता पड़ती है और सहयोग से उसे चिढ थी।[2] वह विवाह-संस्था के विरुद्ध तीन कारणों से था—(1) विवाह वायदों पर टिका हुआ है जो कभी नहीं दिए जाने चाहिए, (2) विवाह में सहयोग की आवश्यकता पड़ती है, सहयोग का अर्थ काफी हद तक एक दूसरे पर आश्रितता होती है जिसमें एक को दूसरे के लिए अपने व्यक्तित्व को झुकाना पड़ता है, एवं (3) विवाह में बंध जाने के कारण स्त्री अथवा पुरुष अपने समय के स्वामी नहीं रह पाते। उन्हे एक दूसरे के लिए अपने समय को निश्चित करना पड़ता है और इसमें उनकी स्वतन्त्रता पर प्रहार होता है। व्यक्तियो के प्रति लगाव, सिवाय उनके गुणों के अनुपात मे अनुचित है। उसका कथन था कि हमें किसी व्यक्ति विशेष का मित्र होने के स्थान पर मनुष्य का मित्र होना चाहिए।

सरकार के प्रति विचार

गाडविन के विचारों से यह स्पष्ट है कि वह सभी प्रकार की सरकारों के विरुद्ध था। उसके मतानुसार भी सरकारें अपने मे बुराई है। वह मानता था कि समाज एक वरदान है जबकि सरकार अपनी श्रेष्ठता की अवस्था में भी एक आवश्यक बला है जो कि इसकी दुर्बलता में निहित है। अत: सरकार को न्यूनतम कार्यों तक सीमित कर दिया जाना चाहिए एवं निरन्तर उसके क्षेत्र को कम करते जाना चाहिए।[3]

गाडविन यह भी मानता था कि राज्य की आड़ मे कोई व्यक्ति अपने नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही हो सकता। वह अपनी आत्मा के प्रति उत्तरदायी होता है तथा आत्मा की आवाज उसके पास राज्य के माध्यम से नही पहुँच कर सीधी जाती है। कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मा के आदेश एवं कर्त्तव्यपालन को किसी दूसरे

1. Ibid, p. 163.
2. Ibid, p. 844
3. Ibid, p. 380.

व्यक्ति को हस्तांतरित नहीं कर सकता एवं कोर्ट द्वारा स्वीकृति हमें किसी नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं कर सकती।[1] गाडविन के कहने का अर्थ यही है कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के प्रति आज्ञापालन की कोई आवश्यकता नहीं है, हमारी आत्मा इतनी प्रबल है कि केवल इसकी आज्ञा पालन ही सर्वोपरि है। उसने बताया कि गुण का प्रथम अध्याय यहीं से प्रारम्भ होता है कि किसी मनुष्य की आज्ञा मत मानो।[2] उसका कथन यह भी था कि यदि किसी प्रकार की सरकार की किसी स्तर पर आवश्यकता हो भी जाए तो यह किस प्रकार की सरकार होगी यह एक बड़ा बौद्धिक प्रश्न है।

गाडविन ने प्रचलित सरकार के तीन प्रकारों—राजतन्त्र कुलीनतन्त्र एवं जनतन्त्र को अस्वीकृत कर दिया। राजतन्त्र मे राजा कुशिक्षित होता है और सत्य से वह बहुत दूर रहता है। प्रत्येक राजा मानव समाज का बड़ा शत्रु होता है। उसका स्पष्ट मत था कि राजतन्त्र में जनता को गुणी बनाने की कल्पना करना भी व्यर्थ है। कुलीनतन्त्र का भी वह बड़ा आलोचक था। वंशानुगत गुणों की बात करना बुद्धि और न्याय का अपमान करना है। राजतन्त्र की भांति कुलीनतन्त्र भी झूठ पर आधारित है। यह राजतन्त्र के मुकाबले अधिक कठोर है। यह असमानता और धन-संग्रह को बढ़ावा देता है। जनतन्त्र की भी गाडविन ने निन्दा की है। उसका कथन था कि ऊपरी तौर पर जनतन्त्र सरकार के अन्य दो प्रकारों से अच्छा नजर आता है लेकिन वास्तविकता इससे विपरीत है। सर्वप्रथम, यह मिथ्या एकता उत्पन्न करता है। उसने राष्ट्रीय विधान सभाओं की निन्दा करते हुए बताया कि जिस बहुमत से निर्णय लिए जाने की बात कही जाती है वह सब मिथ्या है। विधान सभाओं में कृत्रिम एकता लाने का प्रयास किया जाता है। मनुष्य अपने को एक दल के साथ बाँध लेते हैं और हर आदमी ऐसा कर अपनी आत्मा को बेच देता है। गाडविन ने मत के द्वारा किसी महत्वपूर्ण बहस और विचार-विमर्श को समाप्त करने की भी निन्दा की। उसका विचार था कि इन सभाओं में कभी ठोस और गहन चिन्तन सम्भव नहीं है। वह यह भी मानता था कि बहुमत कभी भी सही नहीं होता है और प्रायः अल्पमत ठीक बात कहता है लेकिन सदा बहुमत की बात ही मानी जाती है जो कि गलत होती है। उसने जनतन्त्र पर कटाक्ष करते हुए कहा कि यह फिर भी बर्दाश्त करने के काबिल हो जाता है यदि विधानसभाओं की बैठकें कम से कम हों। उसका कथन है कि जिस देश में शाश्वत सत्य की स्थापना हो जाए वहाँ प्रतिनिधि सभा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।[3] सार रूप में यही कहा जा सकता है कि गाडविन सरकार को व्यर्थ का झंझट मानता था और वह इस झंझट से मुक्त होने के लिए छोटे-छोटे राजनीतिक भू-भागों के पक्ष में था।

1. Ibid, pp. 148-49.
2. Ibid, p. 430.
3. Ibid, p. 552.

कानून

सरकार से जुड़ी हुई व्यवस्था कानून की है। उसने ऐसे समाज में जहाँ न्याय के सिद्धान्त की स्थापना हो गई है, कानून की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसने बताया कि कानून जटिल होता है तथा इसकी समाप्त न होने वाली एक लम्बी प्रक्रिया होती है। इस पर अनेक ग्रन्थों की रचना होती रहती है, फिर भी यह जटिल और अस्पष्ट ही रहता है। द्वितीय, गाडविन को इस बात पर सबसे बड़ी आपत्ति थी कि कानून भविष्य के निर्माण में भी अपनी दखल रखता है। यह भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करता है लेकिन यह बात गलत है क्योंकि वर्तमान और भविष्य के बीच में उपार्जित ज्ञान का कानून उपयोग करने में असमर्थ रहता है। तृतीय, कानून मनुष्यों को सद्गुणी बनाने पर रोक लगाता है क्योंकि इसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती जबकि सद्गुण का प्रारम्भ ही किसी की आज्ञा न मानने से होता है। उसने स्पष्ट बताया कि कानून एक घातक प्रवृत्ति वाली संस्था है और एक वकील ईमानदार के अतिरिक्त कुछ भी हो सकता है। उसने इस बात को आगे बढ़ाते हुए लिखा कि कानून किसी वस्तु को जो पहिले ठीक नहीं थी कभी भी ठीक नही कर सकता।

अन्त में, गाडविन के विचारो का सार प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह अराजकतावादी था। वह एक उच्च आदर्शों का अच्छा आदमी था और इस उक्ति को चरितार्थ करता था कि एक अराजकतावादी वह व्यक्ति है जो इस ससार के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह आवश्यकता से अधिक अच्छा होता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

गाडविन अराजकतावादी था और उसे समाजवादी चिन्तन के इतिहास मे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान देना अनुचित है। समाजवाद के शब्दकोष मे सहयोग एक बड़ा ही सम्मानजनक शब्द होता है क्योंकि इसके अभाव में समाज का सामूहिक स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट नही हो पाता। गाडविन सहयोग की भर्त्सना बौद्धिक दृष्टि से करता है लेकिन उसे व्यावहारिक धरातल पर उतर कर यह देखने की आवश्यकता नही अनुभव हुई कि सहयोग के बिना समाज का ढाँचा कैसे खड़ा रह सकेगा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसकी घोषणा बहुत पहिले अरस्तू ने की थी और इसके पीछे सहयोग की भावना छिपी हुई है।

निःसन्देह उसने सरकार की भर्त्सना की लेकिन इसके बिना काम किस प्रकार चल सकेगा इसको उसने स्पष्ट नहीं किया। सरकार के तीनों प्रकारों की उसने आलोचना की लेकिन वह यह नही बता पाया कि फिर चौथा कौनसा ऐसा प्रकार है जिसका परीक्षण किया जाए। इसी प्रकार उसने कानून की निरर्थकता पर प्रकाश डाला लेकिन फिर यह नही बताया कि दूसरा विकल्प क्या होगा?

गाडविन एक बुद्धिजीवी था और उसने तर्क और बुद्धि का सहारा लिया। समाजवादी चिन्तन की दृष्टि से उसका महत्त्व इस बात में है कि उसने वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की कतिपय संस्थाओं के खोखलेपन को बताया। उसने सम्पत्ति,

जनतन्त्र एव कानून की वास्तविकता को बताया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ये किस प्रकार मनुष्य के विकास मे बाधक हैं। उसने जिस प्रकार इनका खण्डन किया उसी मे उसका महत्त्व है।

सेन्ट साइमन
(Saint Simon, 1760-1825)

सेन्ट साइमन सम्भवतः पहला व्यक्ति था जिसने औद्योगिक सभ्यता के महत्त्व को समझा और उसने नए युग को सगठन का युग कह कर पुकारा।[1] उसने विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के बढ़ते चरणों की ओर ध्यान आकर्षित किया और कहा कि आने वाला समाज सुखी और समृद्धशाली हो सकता है यदि प्रबन्धकर्ता प्रशासन अर्थव्यवस्था को मानव-हित में नियंत्रित कर सकने की क्षमता रखें। 1825 मे जब उसकी मृत्यु हुई उस समय औद्योगिक क्रान्ति के बढ़ते चरण स्पष्ट हो गए थे और जनसाधारण को इससे लाभ किस विधि से प्राप्त हो, यह चिन्तन सेन्ट साइमन को मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों की पंक्ति मे बिठाता है।

कैमिट हेनरी डी सेन्ट साइमन (Comte Henri de Saint Simon) का जन्म पेरिस के एक कुलीन सामन्तवादी परिवार में हुआ था। यह परिवार फ्रांस के गौरवशाली परिवारों में से था और सेन्ट साइमन को अपने ही एक पूर्वज सुप्रसिद्ध शार्लमेन (Charlesmagne) के वशज होने पर गर्व था। उसे प्रारम्भ ही से एक महापुरुष बनने की महत्त्वाकांक्षा थी जिसने सनक का रूप भी धारण कर लिया था। उसने बचपन में ही अपने पिता से झगड़ा मोल ले लिया जिसके फलस्वरूप उसे करीब 5 लाख फ्रैंक के मूल्य की जायदाद से हाथ धोना पड़ा। उसे यह सनक सवार हो गई कि वह एक महान् कार्य के लिए इस संसार में आया है। वह कहता था कि उसने भले ही अपने विरासत में मिलने वाले धन और खिताब को खो दिया हो लेकिन इसकी एवज मे एक महान कार्य करने के संकल्प को प्राप्त कर लिया है। महान् बनने की उसकी इच्छा कितनी तीव्र थी इसका उदाहरण एक यह है कि उसने अपने नौकर को यह आज्ञा दे रखी थी कि वह रोज प्रातःकाल यह कह जगाए कि "श्रीमान् जल्दी उठिए, आपको आज महान् कार्य करने हैं।" वह सुकरात की भाँति मानव व्यापार को एक नूतन दिशा देना चाहता था। वह धर्म के घटते हुए प्रभाव को मानव के नैतिक विकास के लिए घातक समझता था और इसलिए वह चाहता था कि ईसामसीह की शिक्षाओं के प्रकाश में धार्मिक सिद्धान्तो का अभिनवीकरण किया जाए। वह मनुष्य को नैतिक बनाने के लिए सकारात्मक नैतिकता पर बल देता था।

सेन्ट साइमन के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करने के उपरान्त हम उसके विचारों का अध्ययन करेंगे। अमरीका का स्वाधीनता संग्राम

1 *Ashok Mehta :* Democratic Socialism, op. cit., p 18

जब छिड़ा हुआ था उस समय साइमन युवक ही था। स्वतंत्रता प्रेमी होने के कारण उसने स्वाधीनता के पक्ष में अपनी ओर से आहुति देने का निश्चय किया। उसने युद्ध में प्रवृत्त होकर अनुपम शौर्य का परिचय दिया जिसके फलस्वरूप वह अल्पायु में ही कर्नल बना दिया गया। लेकिन सैनिक बनना उसका ध्येय नहीं था और इसलिए वह सेना से पृथक् होकर साहित्य सृजन की ओर आकृष्ट हुआ। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के उपरान्त पदारूढ़ वहाँ की सरकार द्वारा साइमन को जेल-यातना देना एक दूसरी घटना है जिसका साइमन के विचारों पर प्रभाव पड़ा। तीसरी घटना उसकी शादी से सम्बन्धित है जो कि बहुत ही दिलचस्प है। वैसे साइमन की पारिवारिक जीवन मे कोई रुचि नहीं थी लेकिन फिर भी परीक्षण के रूप में उसने तीन वर्ष के अनुबन्ध पर एक स्त्री से विवाह कर लिया। उसका यह परीक्षण सर्वथा असफल रहा और एक वर्ष के उपरान्त ही दाम्पत्य काल समाप्त हो गया। एक अन्य उल्लेखनीय घटना इस कुलीन परिवार में जन्मे व्यक्ति के जीवन के उत्तरार्द्ध में गरीबी से सबंधित है। अपने विचारों के प्रसार हेतु उसने अपने खर्चे पर अनेक भोजों का आयोजन किया था जिससे वह निर्धन हो गया। विवश होकर उसने एक क्लर्क का कार्य भी किया जिससे उसकी उदरपूर्ति तो होने लग गई लेकिन साहित्य सृजन का कार्य अवरुद्ध हो गया। फिर भी गरीबी से जूझता हुआ वह अधिकांश समय लेखन में ही देता था। उसकी हालत पर तरस खाकर उसके एक भूतपूर्व नौकर ने उसकी कुछ आर्थिक सहायता की लेकिन दैविक इच्छा ऐसी रही कि वह नौकर भी शीघ्र ही मर गया। अब तो साइमन ने विवश हो कर जनता से उसकी आर्थिक सहायता करने के लिए अपील की। इस पर उसके परिवार वालों ने उसे कुछ राशि देना प्रारम्भ किया जो उसकी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने में पर्याप्त न थी। अन्त में गरीबी से निरन्तर संघर्ष करता हुआ साइमन 1825 में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

साइमन के विचार उसकी पुस्तकों में मिलते हैं जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(1) Letters of a Resident of Geneva (1802),
(2) The Reorganisation of European Society (1814),
(3) The Industrial System (1821),
(4) The New Christianity (1825).

सेन्ट साइमन उन्नीसवी शताब्दी का प्रथम विचारक[1] कहा जाता है जिसने समाज विज्ञान की दृष्टि दी। उसने समाजवाद विधेयात्मक-वाद (Positivism) एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के विचारों का पूर्वाभास दिया जो कि आधुनिक राजनीतिक शास्त्र की प्रमुख अवधारणाएँ हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा सचालित एक औद्योगिक राज्य जिसकी साइमन ने कल्पना की थी वह आज एक यथार्थ है।

1. *Maxey* : Political Philosophy (revised ed.), pp. 543-44.

उत्पत्ति के विज्ञान के रूप में परिभाषित राजनीति

सेन्ट साइमन की एक प्रमुख देन यह है कि उसने राजनीति को उत्पत्ति के विज्ञान (Science of Production) के रूप में परिभाषित किया। वह विज्ञान के बढ़ते चरणों के महत्व को समझता था और समाज पर इसके पड़ने वाले प्रभाव को भी जानता था। वह विज्ञान को मानव की सेवा में प्रवृत्त करने का इच्छुक था। वह मानता था कि आने वाला युग वीरों का नहीं, वैज्ञानिकों का है (Down with the Alexanders, Long Live the Archimedes)। उसने बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के निर्माण पर बल दिया। मैक्सिको के सम्राट से पनामा नहर बनाने का आग्रह किया। उसने और भी कई योजनाओं के लिए प्रस्ताव रखे लेकिन उसे अव्यावहारिक एवं काल्पनिक समझा गया। हाँ, उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके एक शिष्य ने स्वेज नहर एवं दूसरे ने फ्रांस में सबसे बड़ी रेल लाइन के निर्माण की जिम्मेदारी वहन की। वह राजनीति और राजनीतिज्ञों को कोई विशेष अच्छी निगाह से नहीं देखता था। वह पादरियों, उच्चकुलीन व्यक्तियों एवं अन्य ऐसे लोगों को, जो उत्पादन मे योगदान नहीं देते, कोई महत्व नहीं देता था। उसके लिए तो तकनीकी ज्ञान वाले लोग जैसे इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि ही युग निर्माता थे। अशोक मेहता के शब्दों में सेन्ट साइमन ने एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया है।[1]

सेन्ट साइमन के सामाजिक व्यवस्था, सम्पत्ति एवं धर्म आदि के सम्बन्ध में विचारों का वर्णन करने के पूर्व उसकी एक अनोखी योजना का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा।

न्यूटन की समिति
(Council of Newton)

सेन्ट साइमन के मस्तिष्क में भावी समाज की क्या रूपरेखा थी इसकी एक झलक न्यूटन समिति की योजना मे मिलती है। इस योजना के अन्तर्गत 21 सदस्यों की एक सलाहकार समिति के गठन की व्यवस्था है जिनका निर्वाचन विद्वता एवं बौद्धिक प्रखरता के आधार पर जनता करेगी। इन सदस्यो में 3 प्रमुख गणितज्ञ, भौतिक शास्त्री, शरीर वैज्ञानिक, चित्रकार, लेखक, संगीतज्ञ सभी तीन-तीन होंगे। शेष तीन अन्य व्यक्ति होंगे। प्लेटो के दार्शनिक संरक्षकों की भांति समिति की ये बुद्धिजीवी उन्नत आत्माएँ भी समाज का नेतृत्व करेगी।

सेन्ट साइमन ने अपनी योजना को सफल बनाने के लिए पूंजीपतियों को चेतावनी देते हुए उनसे धन की मांग की। उसने कहा कि पूंजीपति युद्ध हार चुके हैं और आगामी संकट से मुक्ति पाने के लिए उनके पास उपर्युक्त योजना को सफल बनाने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। कोई भी पूंजीपति साइमन की योजना से प्रभावित नहीं हुआ। यह योजना अव्यावहारिक सिद्ध हुई। आगे चलकर यह

1. *Ashok Mehta* : Democratic Socialism, op. cit, p. 18.

हास्यास्पद और बन गई क्योंकि साइमन ने कहा कि इस योजना को ईश्वर ने उसे दर्शन देकर अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। उसने कहा कि समिति के बुद्धिजीवी सदस्य पादरियों के स्थान पर पृथ्वी पर ईश्वर द्वारा समर्थित किए गए हैं। स्त्रियों के मताधिकार को भी उसने प्रभु सम्मत बताया। इस सारी योजना के मूल में साइमन का उद्देश्य समाज एवं शासन का संचालन वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों को सुपुर्द कर देना था। वह और उसके अनुयायी राष्ट्र-राज्यों (Nation States) को विस्तृत उत्पादक निगमों के रूप में परिवर्तित कर देना चाहते थे जिनका नियन्त्रण तकनीकी एवं व्यापारिक योग्यताओं वाले विशेषज्ञों द्वारा किया जाएगा। विज्ञान और समाज के गठबन्धन से चिर प्रतिक्षित आदर्श राज्य (युटोपिया) का जन्म होगा।[1]

नूतन सामाजिक व्यवस्था

सेन्ट साइमन जिस नूतन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था, उसमें उसने उत्पादक उद्योगों और वर्गों में तथा दूसरी ओर अनुत्पादक उद्योगों एवं वर्गों के बीच अन्तर को स्पष्ट किया है। उसने एक इस बात पर बल देना चाहा है कि आने वाले समाज मे केवल उत्पादक अर्थात श्रमजीवी वर्ग का ही वर्चस्व स्थापित होगा क्योंकि केवल यह वर्ग ही समाज को सत्ता और शासन दे सकता है। समाज का अधिकाश भाग चाहता है कि व्यवस्था एवं शान्ति बनी रहे। यह केवल उत्पादक वर्ग ही दे सकता है। साइमन के अनुसार यह वह वर्ग है जो अधिक उत्पादन, कम खर्च, सुरक्षा एवं व्यवस्था में विश्वास रखता है। यह वह वर्ग है जिसने अपनी विशेष योग्यता के कारण समाज के उत्पादन में योग दिया है। केवल श्रमिक को ही जीवित रहने का अधिकार होगा। उसका कथन था कि किसी भी देश के प्रशासन तथा कानूनों के औचित्य की कसौटी केवल यही है कि वे उत्पादन में सहायक हैं अथवा नहीं। समाज के अस्तित्व का आधार ही उद्योग है, चाहे युद्ध हो या शान्ति, उद्योग ही सबका सार है।

उसने इस बात पर क्षोभ व्यक्त किया कि समाज में उत्पादकों को न्यायोचित स्थान नहीं प्राप्त हुआ है। उत्पादक समाज के उच्च वर्ग में आते हैं।[2] लेकिन उन्हें समाज मे नीचा स्थान प्राप्त है जो कि भावी समाज के विकास में बाधक है। उसने उत्पादक वर्ग से अपील की कि उन्हें संगठित होकर सामन्तवादियों एवं कुलीनतन्त्रीय लोगों से लोहा लेना चाहिए। उन्हें राजा का साथ देकर उसे ही समाज के सर्वोच्च उद्योगपति के रूप मे पदासीन करना चाहिए। उसका विचार था कि समाज की शक्ति सामन्तवादियों मे विभाजित रहती है और इसलिए एक राजा में शक्ति का केन्द्रित होना उसके औद्योगिक विकास में सहायक होता है।

1. *Ashok Mehta* : Studies in Socialism, p. 20.
2. Quoted by *Alexander Gray* in "The Socialist Tradition" Moses to Lenin, op. cit , p. 153.

यद्यपि साइमन समाज का शीर्षतम स्थान राजा को देने के पक्ष में है लेकिन फिर भी वह विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका शक्तियों को तीन सदनों के बीच विभक्त कर देना चाहता था। वह इस मत का था कि तीनों सदनों का संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों द्वारा किया जाए। विधायिका सदन में कवि चित्रकार, शिल्पकार आदि व्यक्ति होने चाहिए। इनका कार्य विधेयक के सम्बन्ध में दूसरे सदन के समक्ष अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना है। दूसरे सदन में मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एव गणितज्ञ होने चाहिए जिनका कार्य प्रथम सदन द्वारा प्रस्तुत सिफारिशों को कानून का रूप देना है। तीसरे सदन में उद्योगों के कर्णधार एवं व्यवस्थापक होने चाहिए जिनका कार्य विधियों को लागू करना है। इन तीनों सदनों के सम्मिलित नाम को ही संसद कहा गया है। साइमन के अनुसार राज्य का सबसे बड़ा उद्देश्य नागरिकों की आर्थिक उन्नति करना है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, साइमन के अनुसार यह उन्नति केवल तब ही सम्भव है जबकि सामाजिक सत्ता श्रमिकों में निहित हो। उसने अपनी नूतन सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रीय सार इस एक वाक्य में दर्शाया है, "समाज में एक ऐसी व्यवस्था हो, जिसमें समाज के सभी सदस्यों को अपनी शक्तियों के अधिकतम विकास के लिए पूरा-पूरा अवकाश मिले और प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करे जिसकी योग्यता उसे प्रकृति से प्राप्त हुई है और उसका उसे उतना ही पारितोषिक मिले जितनी कि वह मेहनत करता है।"

सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

सम्पत्ति के सम्बन्ध मे भी साइमन के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उसने सम्पत्ति उपार्जन एवं उसके उपभोग को नैतिक नियमों से जोड़ दिया। उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल उपयोगी कार्य के माध्यम द्वारा ही धन कमाना चाहिए तथा इस प्रकार अर्जित सम्पत्ति का उपयोग कभी सामूहिक हित के विपरीत नहीं किया जाना चाहिए। संक्षेप मे उसकी मान्यता यह थी कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्जन एव उसका उपभोग सामाजिक सम्पदा की वृद्धि मे सहायक होना चाहिए।[1]

सेंट साइमन की मान्यता है कि "सामाजिक व्यवस्था में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं हो सकता जो सम्पत्ति के परिवर्तन के बिना पैदा हो।" उसने अप्रत्यक्ष रूप मे वर्ग संघर्ष की बात कह दी है। उसकी धारणा थी कि जो लोग श्रम द्वारा सम्पत्ति का अर्जन नही करते उनसे किसी न किसी दिन श्रमिकों का संघर्ष अनिवार्य है क्योंकि शोषण करने वाले नए समाज में अधिक समय तक टिक नही पाएँगे। इस प्रकार उसने सम्पत्ति मे ही वर्ग संघर्ष की बात ढूँढ़ ली थी। उसने बताया कि श्रमिक को उसके वास्तविक परिश्रम के अनुसार ही पारिश्रमिक मिलना चाहिए। उसके द्वारा बनाई गई सामाजिक व्यवस्था में सभी लोगों को अनिवार्यतः श्रम करना पड़ेगा। मुफ्त-खोरों को उसने चोरों की सजा दी है जिनका खात्मा आवश्यक है। उसने उत्तराधिकार

1. Quoted by *Alexander Gray* in "The Socialist Tradition", Moses to Lenin, op. cit., p. 155.

की प्रणाली का भी विरोध किया क्योंकि वह मनुष्य में निष्क्रियता एव अकर्मण्यता लाती है। वह श्रम और पूंजी के बीच सहयोग की बात सोचता था ताकि इससे समाज को अधिकाधिक लाभ मिल सके। उसके आशावादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति इस बात में मिलती है कि "मनुष्यता का वास्तविक स्वर्ण-युग हमारे पीछे न होकर इसके आगे है।" गत युग की भर्त्सना के पीछे उसका यह मन्तव्य था कि यह सामन्तवादी व्यवस्था थी जिसने मानव को आगे बढने से रोका। आगामी सामाजिक व्यवस्था का आधार समाजवादी नियमो के आधार पर होने के कारण उसने इसे वास्तविक स्वर्ण युग की सज्ञा दी।

सेंट साइमन के कतिपय अन्य विचार

साइमन ने धर्म, दर्शन, शिक्षा, जनतन्त्र आदि पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनका यहाँ, सक्षेप में, उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

उसने प्रारम्भ मे वैज्ञानिक धर्म की बात सोची थी और कहा कि न्यूटन समिति ही पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधित्व करेगी। लेकिन शीघ्र ही उसने अपने इन विचारों मे परिवर्तन किया क्योंकि जनसाधारण ईश्वर के व्यक्तिगत रूप की कल्पना त्यागने को तत्पर न था। उसने धर्म को नैतिकता से जोड़ दिया और कहा कि धर्म सबको भ्रातृभाव की शिक्षा देता है तथा इसका उपयोग गरीबो की अवस्था को सुधारने मे किया जाना चाहिए।

उसकी मान्यता है कि राजनीतिक क्रान्ति की जड़ वैचारिक क्रान्ति है। वह मानव इतिहास को निर्माण एवं विनाश की दो प्रक्रियाओं में से गुजरता देखता है। सभी मानवीय संस्थाएँ इन दो प्रक्रियाओं में से होकर निकलती है। एक संस्था के विनाश पर दूसरी संस्था के अंकुर निकलते हैं और इतिहास की यह प्रक्रिया चलती रहती है। साइमन की मान्यता है कि यह इतिहास की प्रगति की प्रक्रिया है जो निरन्तर अबाध गति से चलती रहती है।

साइमन प्रगति के प्रति आश्वस्त था लेकिन परिवर्तन का रास्ता शांतिमय सहयोग पर आधारित मानता था। यद्यपि वह सैनिक भी रह चुका था, लेकिन उसने बाद मे अपने विचारों को बदल दिया था। उसने हिंसा को घृणा से जोड़ा तथा अहिंसा का शांति एवं प्रगति से सम्बन्ध बताया। सार यह है कि वह समाज परिवर्तन का शातिपूर्ण कानूनी रास्ता बताता था केवल जिसके द्वारा ही प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इन कानूनी तरीको में आस्था रखने के कारण उसकी आस्था जनतंत्र में भी बन गई थी। यद्यपि वह प्रजातन्त्र को अज्ञानो एव मूर्खों का शासन मानता था लेकिन विशेषज्ञो एवं उत्पादको के नेतृत्व मे वह जनतन्त्र की सफलता का समर्थक भी बन गया था। उसका प्लेटो और टामस मूर की भाँति शिक्षा पर भी भारी जोर था। सुशिक्षा के लागू किए जाने पर जनतन्त्र की सफलता में उसे किसी प्रकार का सदेह ही नहीं था। यद्यपि साइमन शिक्षा पर बल देता था और प्लेटो का अनुयायी था लेकिन उसमे प्लेटो की प्रतिभा नही थी कि वह शिक्षा की नई प्रणालियों

की खोज कर उन्हें सामाजिक व्यवस्था से जोड़ने की क्षमता रखता। साइमन का रूझान सार्वजनिक प्रारम्भिक शिक्षा की ओर था। इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उसने प्राथमिक पाठशालाएँ खुलवाने पर जोर दिया जहाँ सामान्य ज्ञान और विज्ञान की समन्वित शिक्षा की व्यवस्था हो।

आलोचना एवं मूल्यांकन

सेंट साइमन को इतिहास के सर्वाधिक भ्रांत व्यक्तियों में से माना गया है।[1] उसकी सुप्रसिद्ध न्यूटन समिति की योजना को काल्पनिक, अव्यावहारिक एवं हास्यास्पद माना गया है। एक ओर स्वतन्त्र निर्वाचन का विचार और दूसरी ओर इसके माध्यम से केवल बुद्धिजीवियों का निर्वाचन यह परस्पर विरोधी बातें हैं जिनमें कहीं भी तालमेल सम्भव नहीं है। फिर ईश्वर को बीच में ले आना और उसके नाम पर लागू करना वैज्ञानिक चिन्तन से मेल नहीं खाता।[2]

उसने विशेषज्ञों एवं बुद्धिजीवियों के शासन की बात कही लेकिन न तो यह व्यावहारिक है और न सम्भव ही। विशेषज्ञ एवं बुद्धिजीवी समाज से तटस्थ हो जाते हैं और समाज से तटस्थ व्यक्ति जनतंत्रीय संस्थाओं में कार्य नहीं कर सकते।

यह भी आश्चर्य की बात है कि एक ओर साइमन पूँजीपतियों को भय दिखाता है और चेतावनी देता है लेकिन दूसरी ओर एक नूतन समाज के निर्माण में उनके सहयोग की कामना एवं अपील करता है।

साइमन के चिन्तन में समाजवादी तत्व तो अवश्य ढूँढे जा सकते हैं लेकिन वह भी समाजवाद के सिद्धान्त को कोई ठोस व वैज्ञानिक धरातल नहीं दे पाया। वह इस प्रकार की कोई व्यावहारिक योजना अथवा रचनात्मक सुझाव नहीं दे पाया जिसके आधार पर कि समाज की संरचना की जा सके।

अन्त में, सेंट साइमन का समाजवादी चिन्तन के इतिहास में स्थान ढूँढ़ा जा सकता है। उसने समाजवाद की सेवा की अथवा इसे हास्यास्पद बना दिया—इन दोनों ही मान्यताओं के पक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। ए. जे. बूथ[3] (A. J. Booth) ने साइमन के समाजवाद के लिए दिए गए योगदान की सराहना की है। बूथ ने तो 'साइमनवाद' तक कह दिया और उसे श्रमिक वर्ग का प्रथम प्रबल पोषक बताया। एक अन्य विद्वान हैरी लेडलर[4] (Harry W. Laidler) ने भी उसके विचारों की समाजवादी आन्दोलनों पर छाप पाई है। वह सामन्तवादी एवं मध्ययुगीन विचारों एवं संस्थाओं का कट्टर आलोचक था। उसने सामंतवादी व्यवस्था की कब्र पर एक औद्योगिक समाज की स्थापना की बात सोची थी जिसमें उत्पादक एवं श्रमिक वर्ग का वर्चस्व स्थापित होता। यह समाजवाद की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया थी। अनुत्पादक

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 136.
2. Quoted by *Alexander Gray* in 'The Socialist Tradition' op. cit., p. 141.
3. *A. J. Booth* : Saint Simon and Saint Simonism.
4. *Harry W. Laidler* : Social and Economic Movements

वर्ग पर उसकी कड़ी निगाह थी और अर्नाजित सम्पत्ति को उसने चोरी कहा है। इसमे कोई सन्देह नही कि उसने एक शोषण एवं अन्याय मुक्त समाज का विचार प्रस्तुत किया था। उसने आगस्ट कामटे (August Comte), लुई ब्लॉ (Louis Blanc), रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) को प्रभावित किया है। कुछ लेखको ने जो उसके प्रभाव की छाप कार्ल मार्क्स पर भी बताई है।

दूसरी ओर एक विचारधारा यह भी है कि सेंट साइमन इतना भ्रांत एवं अस्पष्ट लेखक था कि उसका समाजवाद के प्रति योगदान संदिग्ध है। अलेक्जेण्डर ग्रे इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है जिसके अनुसार सेंट साइमन की समाजवादी विरासत सन्देह से परे नही है। ग्रे के अनुसार वह एक आध्यात्मिक शक्ति के निर्माण की बात सोचता था जो औद्योगिक युग का धर्म बन सके। लेकिन इस नूतन समाज को विशेषताओ का वर्णन करते समय वह औद्योगिक वर्ग के गुण गान बखानता हुआ उद्योगपतियो का समर्थक बन जाता है। इन्ही कारणो से उसे समाजवादी विचारधारा के उन्नायको मे स्थान देना बड़ा मुश्किल हो जाता है।[1]

सेंट साइमन के समाजवाद के प्रति योगदान के सम्बन्ध में सभी प्रकार के विचारों को दृष्टिगत रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसे स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारक कहने मे कोई परेशानी नही है। उसने सामन्तवादी व्यवस्था की भर्त्सना कर एक नूतन समाज की स्थापना का विचार रखा जिसमे श्रमिको एव उत्पादको का वर्चस्व होगा। उसने जन साधारण को अपने चिन्तन मे स्थान दिया और उसे रोजगार और शिक्षा देने की जिम्मेदारी सरकार पर रखी। ये कतिपय विचार हैं जिनके इर्द-गिर्द समाजवादी चिन्तन का ताना-बाना बुना जा सकता है। फिर जैसा कि अलेक्जेण्डर ग्रे ने लिखा है कि सेन्ट साइमन अपनी मृत्यु के बाद जीवित हो उठा था और उसके अनुयायियों के माध्यम से वह समाजवादी विकास की मुख्य धारा से जोड़ दिया गया।[2]

चार्ल्स फोरियर (1772–1837)
(Charles Fourier)

सेंट साइमन की भाँति चार्ल्स फोरियर भी एक फ्रांसीसी स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारक था लेकिन दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि में जमीन आसमान का अन्तर है। सेंट साइमन एक उच्चकुलीन सामन्तवादी परिवार का सदस्य था जो अपनी कुलाभिमान प्रेरणा ग्रहण कर आगे बढ़ना चाहता था। वह अपने पूर्वजो मे शार्लमेन को याद कर गौरवान्वित अनुभव करता था लेकिन फोरियर एक साधारण कपडे के व्यापारी का लडका था। शिक्षा-दीक्षा समाप्त कर फोरियर व्यापार में प्रवृत्त हो गया लेकिन शीघ्र ही उसकी व्यापार में अरुचि पैदा हो गई। जिन कारणों से ऐसा हुआ उनकी गहराई मे जाना भी आवश्यक है क्योंकि इससे उसके जीवन की

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 159.
2. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit., pp. 159-60.

दिशा ही बदल गई। ऐसी दो घटनाएँ हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। बचपन मे अपने पिता की दूकान पर रखे खराब सामान के गुप्त रहस्य को उसने ग्राहक को बता दिया जिसके परिणामस्वरूप वह सामान नहीं बिका। इस पर फोरियर के पिता ने क्रुद्ध होकर उसे पीटा। उसे यह देखकर भारी वेदना हुई कि आखिर व्यापार मे झूठ एव बेईमानी की आवश्यकता क्यों पडती है। एक और घटना जिसने उसे व्यथित किया वह यह थी जबकि मार्सेलीज के एक चावल के व्यापारी ने भूख से पीड़ित जनता को चावल न देकर समुद्र में फेंकना उचित समझा। फोरियर इस व्यापारी के यहाँ नौकरी करता था। इस घटना से उसे यह समझने में देर न लगी कि निजी व्यापार अनैतिक एवं अमानवीय व्यवहार पर आधारित है।

36 वर्ष की आयु में फोरियर का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ जबकि उसने सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए एक पुस्तक को प्रकाशित करवाया। उसने जहाँ एक ओर तत्कालीन व्यवस्था की आलोचना की वहाँ दूसरी ओर उसने एक आदर्श समाज की एक योजना भी प्रस्तुत की। उसकी यह योजना एक गरीब, निराश एव असहाय मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए थी जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करता था।[1] साधनविहीन एव भय-ग्रस्त सामान्य व्यक्ति की बात को वर्तमान समय में उसने आगे बढ़ाया और इसी कारण उसे समाजवाद का जनक कहा गया।[2] उसने एक आदर्श समाज की योजना अवश्य प्रस्तुत की ताकि गरीब वर्ग का कल्याण हो सके, लेकिन इसको पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता थी जो कि किसी पूँजीपति से ही प्राप्त हो सकता था। फोरियर की यह तीव्र अभिलाषा थी कि कोई धनी व्यक्ति उसकी योजना को साकार बनाने हेतु धन दे लेकिन उसे निराशा ही हाथ लगी। वह पूरे बारह वर्ष तक एक ऐसे परोपकारी पूँजीपति की प्रतीक्षा करता रहा जो उसके परीक्षण को सफल करने के लिए कम से कम दस लाख फ्रैंक का धन दे। अन्त में एक सासद ने वसियत मे अपनी जायदाद का एक हिस्सा फोरियर को अवश्य दिया, जहाँ उसने एक बस्ती स्थापित की। फोरियर ने योजना के अनुसार अपने अनुयायियों को बसा भी दिया लेकिन बस्ती की व्यवस्था ठीक नहीं की जा सकी। परिणामस्वरूप उसे बड़ी निराशा हुई। इसी निराशा को लेकर वह 1837 मे इस ससार से चल बसा। यद्यपि फोरियर को सफलता प्राप्त न हो सकी,लेकिन उसके विचारों के प्रसार को कोई नही रोक सका। उसकी मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम उसके विचार अमेरिका पहुँचे जिनका एल्बर्ट ब्रिसबेन ग्रीले आदि विचारकों ने स्वागत किया। धीरे-धीरे फोरियर के अनुयायियों की संख्या बढने लगी। वैसे फोरियर के विचारों को आधार मानकर कोई ठोस कार्य नही हुआ लेकिन उनका सामान्य व्यक्ति के उत्थान

1. *Ashok Mehta* : Democratic Socialism, p. 19
2. Quoted in *Maxey*, Political Philosophies, p. 520.

हेतु किए गए चिन्तन के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। फोरियर के विचारों का सार यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार फोरियर के समस्त चिन्तन की विशेषता यह है कि उसने ससार में जो कुछ देखा वह उसे त्रुटिपूर्ण ही लगा, उसे सारी व्यवस्था दूषित लगी। एक प्रकार से वह अठारहवी शताब्दी में एक शक्तिशाली आवाज जे जे. रूसो की प्रतिध्वनि था। रूसो की आवाज़ मे अधिक बल था लेकिन फोरियर *अपेक्षाकृत दुर्बल होते हुए भी एक बात में विशेषता लिए हुए था और वह यह थी कि* उसने समाज को सुधारने के लिए रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किए। रूसो समाज मे व्याप्त बुराइयों से निराश हो चुका था जबकि फोरियर के मस्तिष्क में समाज को ठीक करने की एक निश्चित योजना थी। वह मानता था कि नैतिकता को छोड़ना आवश्यक है, यह सभ्यता की कलुषित वसीयत है। यदि हम हमारे महज मनोवेगो के अनुसार आचरण करें तो हम सारी बदमाशो, धोखेबाजी, आत्म-प्रवंचना विशृंखलित हितों एवं शोषण को, जो आधुनिक सभ्यता के अंग हैं, समाप्त कर सकते है। इससे *सामन्जस्य की स्थापना होगी जो कार्यरत प्रफुल्लित मनुष्यो का सहयोग है।* फोरियर का विश्वास था कि इसे कार्यान्वित करने हेतु केवल एक पूंजीपति की आवश्यकता है, वह भी कोई बहुत बड़े पूंजीपति की नही, जो इसे प्रारम्भ करदे और शेष तो एक मकान को ढहाने के सदृश आसान कार्य है।[1]

हम फोरियर के विचारो को दो भागो मे बांट देते हैं—प्रथम, वे विचार जिनको गम्भीर मानकर समाजवाद से जोड़ा जा सकता है तथा दूसरे, वे जो स्वप्न-लोकीय अस्पष्ट बेबुनियाद एवं हास्यास्पद हैं।

समाज पर प्रहार

जहां फोरियर को गम्भीरता से लिया जाना चाहिए वे उसके समाज में व्याप्त त्रुटियों से सम्बन्धित विचार है। जैसा कि लिखा भी जा चुका है, फोरियर तत्कालीन सभ्यता के तत्त्व बदमाशी, धोखेबाजी, आत्म प्रवंचना, शोषण आदि बताता था। उसने बताया कि समस्त समाज दुर्भावना, ईर्ष्या, शत्रुता, कुंठा आदि पर टिका हुआ है। *सब एक दूसरे के दुर्भाग्य की कामना करते हैं। उसका कथन था कि इस* ससार मे गुण के स्थान पर बुराई ज्यादा फलदायक होती है। सफलता प्राप्त करने के लिए बुराई का रास्ता ज्यादा उपयुक्त होना है। अवांछनीय व्यक्ति शिखर पर पहुँच जाते हैं जबकि ईमानदारी एव सच्चरित्रता असफलता का निकटतम रास्ता है। ऐसा लगता है कि फोरियर हॉब्स द्वारा चित्रित प्रकृति के राज्य जैसा वर्णन प्रस्तुत करता है।[2] उसने उदाहरण देते हुए बताया कि एक चिकित्सक की इच्छा और कोशिश यह होती है कि समाज में बिमारियाँ फैले, लोगो का स्वास्थ्य दुर्बल हो ताकि

1. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, op cit, pp. 171-72.
2. Selections from the works of Fourier, Social Science Series, Vol. 6, pp. 33-34.

उसकी खूब पैदा हो। इसी प्रकार से वकील भी समाज में मुकदमेबाजी और लड़ाई-झगड़े चाहता है। इसी प्रकार अन्य व्यवसायी व्यक्ति भी दुर्भावना पर जीवित रहते हैं। यहाँ तक कि न्यायालय भी समाज में अपने अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करने एवं इसे बनाए रखने के लिए समाज में अशान्ति की कामना करते हैं।

फोरियर ने समाज में व्याप्त केवल व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा, घृणा एवं ईर्ष्या का ही वर्णन नहीं किया बल्कि उसने समाज के अन्य शत्रुओं पर भी प्रहार किया है। उसने पराश्रित लोगों एवं मुफ्तखोरों का उल्लेख किया एवं उनकी निन्दा भी की। उसने नैतिक आचरण में गिरावट को भी निन्दनीय बताया। उसने व्यापारी वर्ग को भी समाज का शत्रु बताया। चीजों में मिलावट करने वालों की उसने घोर निन्दा की।

मानव स्वभाव एवं आकर्षण का सिद्धान्त

फोरियर मानव स्वभाव को सनातन मानता था। उसका विचार था कि मनुष्य की प्रकृति आज भी वैसी ही है जैसी कि पहले कभी थी। उसके अनुसार बाह्य वातावरण का मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वातावरण अवश्य बदलता है लेकिन मनुष्य सदा एकसा ही रहता है। अतः वह इसे एक निर्मूल धारणा मानता था कि बाह्य वातावरण में परिवर्तन कर मनुष्य की प्रकृति को बदला जा सकता है। वह यह मानता था कि विज्ञान की सहायता से मनुष्य वातावरण का स्वामी बनता जा रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि वातावरण को परिवर्तित कर उसे मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल कर दिया जाए। वह इसको मानव एवं समाज के विकास में एक महत्त्वपूर्ण योगदान मानता था।

वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी मानव स्वभाव को देखता था। उसका विचार था कि मनुष्य का सबसे बड़ा उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है और इसके लिए उसे सभी वे वस्तुएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए जिनसे कि उसके आनन्द में वृद्धि हो। सुस्वादु भोजन, सुन्दर आवास एवं वस्त्र आदि की व्यवस्था होना बहुत आवश्यक है। उसने इस प्रकार उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फोरियर ने यह भी चेतावनी दी कि यदि मनुष्यों की इच्छाओं का दमन जारी रहा तो एक दिन यह असन्तोष विस्फोटक भी सिद्ध हो सकता है।

फोरियर जीवन को लावण्यमय, सुख-सुविधापूर्ण एवं आकर्षक देखना चाहता था। वह कहता था कि ईश्वर ने इस संसार और जीवन को आकर्षक बनाया है और उसकी यही इच्छा है कि हम इसका उपयोग कर आनन्दित हों।[1] फोरियर की मान्यता थी कि आकर्षण ही सर्वव्यापी शक्ति है जिसके कारण यह विश्व टिका हुआ है। सुन्दरता मनुष्य को अपनी ओर खींच लेती है। सारे जीवन को यदि सुन्दर और आकर्षक बना दिया जाए तो भय, लोभ, काम से जी चुराना, हिचकिचाहट आदि

1. Selections from the works of Fourier, Social Science Series, Vol. I, p. 272.

कोई भी बुराई न रहे। मनुष्य हँसता-हँसता श्रम करेगा और श्रम से उसे आनन्द की प्राप्ति भी होगी और इस श्रम से सामाजिक धन की अभिवृद्धि होगी। उसका कथन है कि मनुष्य आकर्षण से बँधा हुआ जो कार्य करता है वह सहज और श्रेष्ठ होता है और आकर्षण रहित जो कार्य करता है वह शुष्क तथा निम्न स्तर का होता है। वह अपनी तीव् अभिलाषा और लालसा के वशीभूत होकर आकर्षक वस्तुओं की ओर बढ़ता है। देखना, श्रवण करना, सूंघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना मनुष्य के पाँच बोध हैं। मैत्री एव प्रेम करना, सन्तानोत्पत्ति एवं परिवार में रहना तथा महत्त्वाकांक्षा उसकी सामूहिक लालसाएँ बताई गई हैं। योजना, परिवर्तन एवं एकता को फोरियर ने तीन वितरणीय लालसायें बताई हैं। सच तो यह है कि फोरियर के आकर्षण सम्बन्धी सिद्धान्त के मूल मे उसके धार्मिक विचार हैं।[1] उसकी ईश्वर में पूर्ण आस्था थी और वह उसे सौन्दर्य, मित्रता एवं आकर्षण का उद्गम स्थल मानता था। उसके धार्मिक विचारों को अधिक गम्भीरता से नही लिया जाता यदि वह उन्हें समाज से नहीं जोड़ देता। उसने कहा कि वे लोग अज्ञानी हैं जो यह नहीं जानते कि ईश्वर हमारे मनुष्य को आनन्दित बनाए रखने को कितना महत्त्व देता है। ईश्वर इस आकर्षण द्वारा विश्व पर शासन करता है, वह इसी के द्वारा नक्षत्रों एव जीव-जन्तुओं पर शासन करता है और मनुष्य पर शासन करने का भी उसका यही इरादा था। लेकिन आज हम जो दु:खी हैं उसके लिए हम स्वय उत्तरदायी हैं। उसने हमें सुखी होने के लिए बनाया था और इसलिए ईश्वर की आज्ञा और इच्छा का उल्लघन न कर हमें यह समझना चाहिए कि हम किस प्रकार आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।[2]

अन्य विचार

उसने श्रम को अधिक आकर्षक बनाने की दृष्टि से विभिन्न धन्धों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसका मन्तव्य यह था कि यदि मनुष्य के समक्ष अनेक धन्धों की व्यवस्था होगी तो वह अपनी रुचि के अनुसार उनमें से चयन कर सकता है। इसके अलावा उसने यह भी बताया कि यदि मनुष्य को एक साथ विभिन्न प्रकार के कार्यों मे संलग्न कर दिए जाने की व्यवस्था हो तो उसे कभी श्रम से अरुचि न होगी। सार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए।

फोरियर ने एक शिक्षाविद् होने का भी परिचय दिया है। शिक्षा पर उसका बहुत बल है, वह मानता था कि सही शिक्षा वह है जो मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल हो। स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल होने पर वह सहज ही मे ग्राह्य होती है और ऊपर से थोपी हुई शिक्षा न कभी रुचिकर हो सकती है और न कभी लाभदायक ही। उसका शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त भी आकर्षण पर आधारित है। उसने शिक्षा को

1. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, op. cit., p 172.
2. Selections from the works of Fourier, op. cit., Vol. III, p. 272.

आकर्षक बनाने का एक सुझाव भी दिया कि विद्यार्थियों को अधिक आय वाले व्यक्तियों के साथ कार्य पर लगा देना चाहिए। फोरियर का विचार था कि इससे शिक्षा आकर्षक एवं व्यवहारिक बनेगी। उसका किताबी ज्ञान से विरोध था। जो शिक्षा मनुष्य को जीवन के संग्राम के लिए तैयार करने में सक्षम न हो, वह व्यर्थ है।

फैलेंक्स (Phalanx) की योजना

अब तक हमने फोरियर द्वारा वर्तमान समाज की आलोचना एवं आकर्षण पर आधारित एक सिद्धान्त का अध्ययन किया तथा उसके विविध व्यवसायों एवं शिक्षा सम्बन्धी विचारों का भी अध्ययन किया। इनसे यह सिद्ध हुआ कि वह एक ऐसे समाज का कटु-आलोचक था जो प्रतिस्पर्द्धात्मक व्यक्तिवाद पर निर्मित हो। जिस कारण से उसे समाजवादी विचार से अनिवार्यतः जोड़ दिया गया है वह उसकी एक व्यावहारिक योजना है जिसे फैलेक्स की योजना भी कहा जाता है। फैलेंक्स ऐसे मनुष्यों के समुदाय का नाम है जो पारस्परिक सहयोग एवं प्रेम पर आधारित एक आत्म-निर्भर इकाई है। इस इकाई की सदस्यता के बारे मे दो भिन्न रायें हैं। हैरी लैंडलर के अनुसार प्रत्येक फैलेंक्स में कम से कम 400 और ज्यादा से ज्यादा 2000 व्यक्ति हो सकते थे। अलेक्जेन्डर ग्रे ने बताया कि यह संख्या 1600 से 1800 के बीच हो सकती थी।

फोरियर के मस्तिष्क मे प्रत्येक फैलेंक्स को आत्म निर्भर एवं स्वायत्त बनाने की योजना थी। वह चाहता था कि प्रत्येक फैलेंक्स के पास करीब 5000 एकड़ भूमि हो जिसमे सामूहिक खेती की जाए। वह फैलेंक्स निवासियों का मुख्य व्यवसाय खेती ही मानता था यद्यपि वे अपनी इच्छानुसार अन्य व्यवसाय का चयन भी कर सकते थे वह यह चाहता था कि समान रुचि वाले व्यक्ति व्यावसायिक समूह का निर्माण करें जिसकी सबसे छोटी इकाई के सदस्य नौ व्यक्ति होंगे। इस इकाई को सीरीज कहा गया है। ऐसी अनेक सीरीज मिलकर समूह (ग्रुप) कहलायेंगी। एक समूह में अनेक सीरीज होगी जो समूह के कार्यों मे सहायता देगी। प्रत्येक समूह को एक विशेष प्रकार का कार्य दिया जाएगा। फोरियर इस मत का था कि इनके सदस्यों को अपनी रुचि के अनुकूल व्यवसाय करने की छूट होनी चाहिए और वह यह आशा करता था कि पृथक्-पृथक् समय पर पृथक्-पृथक् कार्य करने की वजह से मनुष्य ऊबेगा नहीं और उसमे अधिक कार्य करने की रुचि और शक्ति बनी रहेगी। वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय के चयन की स्वतन्त्रता देने के पक्ष में था। वह सोचता था कि प्रत्येक व्यक्ति को 30 से 50 तक समूहों मे काम करने का अवसर मिल सकेगा। उसका यह भी विचार था कि मुमकिन है कि इसमे समूहों मे पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा विकसित हो जाए जिससे उत्पादन कई गुना बढ़ सकता है। उसकी यह भी कल्पना थी कि इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण युवा व्यक्ति अल्पकाल मे ही इतना कमा लेंगे जो कि उनके सारे जीवन के लिए पर्याप्त होगा।

इस प्रकार फॅलैंक्स की योजना सामूहिक जीवन को प्रोत्साहन देती है। फॅलैंक्स के सदस्यों को केवल जीवन निर्वाह के लिए श्रम करना होगा और समाज में प्रतिदिन ली जाने वाली बेगार से उन्हें मुक्ति मिलेगी। मनुष्य अपने संकीर्ण घरों से बाहर निकलेंगे, वे अपने निजी मकान नहीं बनाएँगे, अलग-अलग अपना खाना नही पकाएँगे बल्कि सभी एक सामुदायिक जीवन में आबद्ध होंगे।

वैसे फॅलैंक्स के सदस्यों के विभिन्न व्यवसाय हो सकते थे लेकिन फोरियर कृषि को ज्यादा महत्त्व देता था। वह अनाज के अतिरिक्त फल, सब्जी आदि सभी को कृषि में सम्मिलित करता था और चाहता था कि प्रत्येक फॅलैंक्स स्वावलम्बी बन जाए।

फोरियर के अन्य विचार

सरकार—वैसे फोरियर ने सरकार के सम्बन्ध मे कोई विशेप रूप से प्रकाश नहीं डाला, लेकिन ऐसा कहा जा सकता है कि वह सरकार को अनावश्यक ही मानता था। जिस भावी समाज की वह कल्पना करता था उसमें सरकार की कोई भूमिका नहीं थी। वह यह मानता था कि यदि फॅलैंक्स सर्वत्र स्थापित हो गए तो सरकार पूर्णतः अनावश्यक हो जाएगी।

आर्थिक विचार—फोरियर पूर्ण आर्थिक सामनता को मानव प्रकृति के अनुकूल नही मानता था। वह इसमे विश्वास करता था कि मनुष्यों को उसकी योग्यता एव परिश्रम के अनुकूल ही पारिश्रमिक मिलना चाहिए। लेकिन उसने आर्थिक विषमता को कम करने के लिए बड़े पूँजीपतियों को कम मुनाफा देने का प्रस्ताव रखा। फॅलैंक्स के विकास में वह पूँजीपतियों से धन लगाने की आशा रखता था लेकिन साथ ही यह भी चाहता था कि बड़े पूँजीपतियों को अन्य लोगों के मुकाबले उनके द्वारा लगाई गई पूँजी पर कम ब्याज मिलना चाहिए। इस प्रकार अपेक्षाकृत दुर्बल वर्ग के लोगों को अधिक लाभ प्राप्त होगा और बड़े पूँजीपतियों के धन में अधिक वृद्धि भी नही होगी। उसने उद्योगो द्वारा उत्पादित धनराशि के वितरण की विधि बनाई जिसके अनुसार श्रम को 5/12, पूँजी को 1/3 तथा शेष 1/4 औद्योगिक प्रतिष्ठान मे संगठन एवं सचालन करने वालों को प्राप्त होना चाहिए। जैसा कि कहा जा चुका है वह प्रतिस्पर्द्धा को उत्पादन बढ़ाने के लिए अनुचित नहीं मानता था और इसको उसने श्रमिक वर्ग मे भी लागू करना चाहा। वह श्रमिक वर्ग मे भी कई उपवर्ग चाहता था और उनकी योग्यता, क्षमता एवं परिश्रम के आधार पर वह वेतन देने के पक्ष मे था। उसने श्रम को–(1) आवश्यक श्रम, (2) उपयोगी श्रम, तथा (3) रुचिकर श्रम में विभाजित किया। आवश्यक श्रम वह है जिसके अभाव में सार्वजनिक सेवाएँ ठप्प हो जाएँगी। यह श्रम रुचिकर हो अथवा नहीं, लेकिन करना ही पड़ता है। वह ऐसे श्रमिकों को, जिन्हें सार्वजनिक हित मे अपनी रुचि के विरुद्ध भी कार्य करना पड़ता है, सर्वाधिक वेतन देना चाहता था। उपयोगी श्रम वह है जिसके करने से सामूहिक सुख मे वृद्धि होती है। इन

श्रमिकों का वेतन आवश्यक श्रम करने वालों से कम होगा। रुचिकर श्रम में सलग्न श्रमिको को उसने न्यूनतम वेतन देने की बात कही है।

स्वर्ण युग का उदय—फोरियर यह आशा संजोए था कि मानव इतिहास का स्वर्णिम युग दूर नहीं है। वह अपनी फैलेंक्स की योजना को इतनी प्रभावशाली मानता था कि यदि उन्हें कार्यान्वित करने के लिए प्रयास किए जाएँ तो स्वर्णिम युग बहुत ही जल्दी आ सकता है। वह आशावादी विचारक होने के साथ ही साथ शान्तिप्रिय व्यक्ति था और अहिंसा के रास्ते से ही परिवर्तन लाने में विश्वास रखता था।

आलोचना एवं मूल्यांकन

चार्ल्स फोरियर के कतिपय विचारों को ध्यान में रखने पर उसे समाजवादी चिन्तन के इतिहास में रखने पर कुछ आपत्ति खड़ी हो जाती है। उसकी फैलेंक्स की योजना एवं जगदोत्पत्ति का सिद्धान्त उसे अव्यावहारिक एवं काल्पनिक बना देते हैं। उसकी फैलेंक्स की योजना को जब कार्यान्वित किया गया तो वह पूर्णतः असफल हुई। केवल अमरीका मे 34 परीक्षण हुए जिन्होंने योजना के खोखलेपन को सामने ला दिया। उसके द्वारा प्रतिपादित विभिन्न व्यवसायों के सिद्धान्त में भी कोई ठोसपन नही है। जैसा कि लिखा जा चुका है वह व्यावसायिक स्वतन्त्रता और अपनी रुचि के अनुसार व्यवसाय परिवर्तन की बात कहता था। सैद्धान्तिक धरातल पर बातें ठीक नजर आती हैं लेकिन व्यवहार में ये कहीं भी नहीं ठहर पातीं। इससे उत्पादन बढ़ने के स्थान पर घटेगा एव किसी को भी इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकेगा। उत्पादन तब बढ़ सकता है जब कि दीर्घकाल तक एक ही काम करने का एक व्यक्ति को अनुभव एवं कुशलता प्राप्त हो। इसमें एक यह भी संभावना बनी रहती है कि कुछ ऐसे उपयोगी कार्य, जिनमें किसी की भी रुचि न हो, संपादित ही नहीं किए जा सकें। आज का विशिष्टीकरण का युग है जब कि फोरियर का व्यवसाय परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त इसके प्रतिकूल है।

उसने अपने विभिन्न जगदोत्पत्ति के सिद्धान्त में कई अलग-अलग बातें बताई हैं। उसने बताया कि सृष्टि का जीवन 80,000 वर्ष का होता है, आधे वर्ष चढाई के और शेष आधे गिरावट के होते हैं। इस प्रकार उसने ढाई-ढाई हजार वर्षों के बत्तीस युग बताए तथा अपने समय के समाज को उत्थान के पाँचवें युग में बताया और कहा कि शेष 35,000 वर्ष श्रेष्ठ होंगे जिन्हे इसने हार्मनी का नाम दिया। फिर ह्रास का समय होगा तथा कुल 80,000 वर्ष समाप्त हो जाने पर जो पृथ्वी पर बचेगा उसे अन्य ग्रहो पर ले जाया जायेगा। इतना ही नही, उसने आनन्द के युग का भी विशद वर्णन किया है। इस काल मे मनुष्य की आयु करीब 144 वर्ष होगी जिसमें 120 वर्ष तक वह युवा बना रहेगा। उसने मुक्त प्रेमाचार की वकालत की है। प्रेम और सन्तानोत्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय ही नही बल्कि अन्तरग्रही होगी तथा नक्षत्र भी एक दूसरे से प्रणय करेंगे। ये सब बड़े ही अटपटे विचार

हैं। अपनी विचित्र जगदोत्पत्ति के सिद्धान्त का वर्णन करते समय ऐसा लगता है कि फोरियर ने अपनी बुद्धि का कोई उपयोग नहीं किया। वह कल्पना के ससार में गोते खाता रहा और वह एक समाज वैज्ञानिक की दृष्टि नही अपना पाया।

उसके आर्थिक विचार भी उसे समाजवादी चिन्तन से बहुत दूर ले जाते हैं। उसके विचारो मे निजी सम्पत्ति एवं बिना कमाए धन के औचित्य को बल मिलता है। वह फैलैक्स की योजना की कार्यान्विति पूँजीपतियो पर छोड़ता है जो कि आश्चर्यजनक है। पूँजीपतियों से ऐसे सामूहिक कार्य की पूर्ति, जिसमे उनका हित सर्वोपरि नही रहता, कैसे सम्भव हो सकती है ? ऐसे कार्य राज्य द्वारा सम्पादित हो सकते हैं लेकिन फोरियर ने यह कार्य राज्य के स्थान पर पूँजीपतियो से करवाने की बात कही जो हास्यास्पद तथा समाजवादी दृष्टिकोण से आश्चर्यजनक एवं कष्टदायक ही कही जा सकती है। सार यही है कि फोरियर ने जिस व्यवस्था की बात कही वह पूँजीवादी व्यवस्था से कोई विशेष भिन्न नही है।

सामाजवादी आन्दोलन को उसकी देन का उल्लेख करते हुए इतना कहा जा सकता है कि उसने वर्तमान समाज व्यवस्था पर निर्मम प्रहार किया जो अपने मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसने वर्तमान समाज की जोरदार शब्दो मे भर्त्सना करते हुए बताया कि किस प्रकार समाज व्यवस्था असन्तुलित हो गई है और यह अनियन्त्रित व्यक्तिवाद के कारण है। फोरियर का सहकारी आन्दोलन के विकास में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सहयोग के द्वारा बर्बादी रोकी जा सकती है और इस विचार का एक बहुत बड़ा उन्नायक चार्ल्स फोरियर था।

रॉबर्ट ओवन
(Robert Owen, 1771-1858)

रॉबर्ट ओवन का समाजवादी चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसको वर्तमान समय के दो महत्त्वपूर्ण संगठनों के विचार को आगे बढ़ाने का श्रेय प्राप्त है। यह दो संगठन मजदूर संगठन और उपभोक्ता सहकारी संस्थाएँ हैं। आज इनके इर्दगिर्द श्रमिक सघ सगठित हैं। रॉबर्ट ओवन कोरा विचारक ही नहीं था, उसने व्यवहारिक जगत मे भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इंगलैंड में जो कुछ उसने किया उसके आधार पर उसे अंग्रेजी समाजवाद का जनक कहा जाता है।

ऐसे रोमांचकारी जीवन के धनी रॉबर्ट ओवन का जन्म इंगलैंड मे सन् 1771 मे हुआ था। ओवन का जीवन बहुत ही अद्‌भुत रहा है। उसने जीवन में बहुत ही अनुभव अर्जित किया, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सफलता प्राप्त की और वह उस पर अमिट छाप भी छोड़ गया। जी. डी. एच. कोल ने उसके इस धनी और अद्‌भुत जीवन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्न दृष्टा, इतना लोकप्रिय और फिर भी कितना अनुशासन

प्रेमी, इतना उपहास का विषय फिर भी इतना प्रभावशाली नहीं था जितना कि रॉबर्ट ओवन। उसके सप्तरंगी जीवन का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि वह एक दूकान पर साधारण नौकर से लेकर एक बड़ा उद्योगपति, तकनीकी विशेषज्ञ, मजदूर संघ का संस्थापक और नेता, शिक्षा शास्त्री, समाजवादी विचारक एवं धर्म निरपेक्षवादी सब कुछ रहा। अलेक्जेण्डर ग्रे ने उसके जीवन को स्मरणीय बताया है जिसने सम्पन्न और सफल होते हुए भी अपने साथियों की मुक्ति के लिए सब कुछ न्योछावर कर दिया। मैक्सी के अनुसार ओवन एक स्वप्न दृष्टा था जो प्रतिस्पर्धात्मक समाज के अत्याचारों एवं दमन कार्यों से व्यक्ति को मुक्त करना चाहता था। सामाजिक संघर्ष की बुराइयों को समाप्त करने के लिए उसने एक उदार पितृतुल्य समाज व्यवस्था की बात कही। लैड्लर ने उसे साम्यवादी बताया है और कहा है कि उसका विश्व के सामाजिक चिन्तनधारा पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। उसने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की बर्बादी, इसके अत्याचार और इसमें व्याप्त बेरोजगारी पर प्रहार करते हुए सामाजिक प्रसन्नता को ही मानव प्रगति का आदर्श बताया है। लैड्लर के अनुसार ओवन ने उत्पादन और वितरण के लिए सामाजिक सहयोग का विचार दिया था। यही कारण था कि उसका अथक परिश्रम और निष्ठा-मय जीवन हम सभी लोगों के लिए प्रेरणा दायक सिद्ध हुआ जिन्होंने श्रमिक संगठनों सहकारी सस्थाओं, बाल कल्याण, जेल सुधार और श्रमिक कानूनों मे रुचि ली। इगलैण्ड में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ओवन और उसके सहयोगियों का इंगलैण्ड के जन जीवन पर काफी प्रभाव रहा। उसके द्वारा चलाया हुआ आन्दोलन तत्कालीन इंगलैण्ड मे हुए अनेक राजनीतिक सुधारों के लिए प्रेरणादायक रहा। ओवन की दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं जो 1812 मे प्रकाशित हुई थी। जिनमे से एक A New View of Society है और दूसरी The Book of the New Moral World है जिसका प्रकाशन 1820 में हुआ।

ओवन मनुष्य जीवन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता था जिसके निर्माण मे भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों द्वारा भूमिका अदा की जाती है। ओवन मानता था कि पूँजीवादी व्यवस्था ने मनुष्य के समुचित विकास को अवरुद्ध कर दिया है और कतिपय सामाजिक संस्थाएँ जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म, परम्पराएँ, विवाह आदि मे प्रतिस्पर्द्धात्मक पूँजीवादी व्यवस्था की झलक मिलती है। वह दरिद्रता को मानव जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप मानता था और अन्य बुराइयाँ जैसे कायरता, अज्ञानता एवं रुग्णता आदि का जन्म दरिद्रता मे बताया। वह आशा करता था कि समुचित औद्योगिक विकास के उपरान्त मानव को दरिद्रता के चंगुल से मुक्त किया जा सकेगा।

न्यू लेनार्क का परीक्षण

रॉबर्ट ओवन एक व्यावहारिक विचारक था जिसने केवल सिद्धान्त ही नहीं दिए बल्कि उन्हें व्यावहारिक धरातल पर लागू करने का प्रयास भी किया। इसके

एक बहुत बड़ा उदाहरण न्यू लेनार्क बस्ती में उसके द्वारा किया गया परीक्षण है। यह बस्ती करीब 2500 आदमियों की थी और यह भारी गन्दगी और बीमारी का केन्द्र थी। यह एक औद्योगिक बस्ती थी जिसकी ओवन ने काया पलट कर दी। उसने इस बस्ती में एक कपड़े की मिल लगाई और फिर सम्पूर्ण गाँव की जमीन ही खरीद ली। जब उसने इस बस्ती को खरीदा उस समय इसकी हालत बहुत ही दयनीय थी। यह बस्ती शराब, जूए और भ्रष्टाचार का केन्द्र थी। छोटी आयु के बच्चों को भी कठोर परिश्रम करना पड़ता था और तेरह घण्टे तक मजदूरी करने के उपरान्त भी इनको भरपेट रोटी नहीं मिलती थी। इन भयावह परिस्थितियों के होते हुए भी ओवन ने हिम्मत नही हारी और उसने इसमें आमूलचूल परिवर्तन लाने का निश्चय कर लिया। देखते ही देखते इस बस्ती की काया पलट हो गई। कुछ समय उपरान्त यह एक स्वच्छ कस्बे के रूप में परिवर्तित हो गई। आदर्श बस्तियाँ और कारखाने यहाँ स्थापित हो गए और विश्व के दूर-दूर के भागों से लोग इसे देखने के लिए आने लगे। ओवन को इस परीक्षण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिल गई और अनेक राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक एवं उद्योगपति उससे परामर्श लेने के लिए आने लगे। इस बस्ती को आदर्श मानकर अमेरिका में कई बस्तियाँ बनाई गईं। दुर्भाग्यवश धार्मिक मतभेदों के कारण ओवन को 1828 में अपनी ही स्थापित की गई मिल से सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा और वह अधिक समय तक इस परीक्षण को आगे नही बढ़ा सका।

अन्य योजनाएँ

ओवन ने कुछ अन्य योजनाएँ भी प्रस्तावित की जिन्हें आदर्श स्वप्नलोकीय योजनाएँ कहा गया। उसने इगलैंड में इस प्रकार की योजनाएँ प्रारम्भ की। उसने साम्यवाद की स्थापना पर जोर दिया। उसने जिन छोटी-छोटी बस्तियो की कल्पना की उनमें उत्पादन और वितरण के साधनो पर वहाँ के निवासियों का समान रूप से अधिकार बताया। इन बस्तियों में सबका भोजन एक ही स्थान पर तैयार होता था और सब एक साथ ही भोजन करते थे। बस्तियो के निवासियों की आय का प्रमुख साधन कृषि था लेकिन बस्तियों मे उद्योगधन्धों की स्थापना पर भी बल दिया गया। ओवन की यह योजना थी कि गाँवों में कोई भी व्यक्ति बेकार या भूखा न रहे और सभी पदार्थों का सब लोग मिलकर संयुक्त रूप से उपयोग करें। इन बस्तियो को कोई समर्थन नही मिला और ओवन को असफलता ही मिली। लेकिन इन प्रस्तावित बस्तियों के निर्माण के पीछे ओवन का एक महत्वपूर्ण विचार छिपा था और वह उसका साम्यवाद का सिद्धान्त था। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का कट्टर शत्रु बन गया और उसने इन सारी समस्याओ के मूल में निहित बुराइयों का हल साम्यवादी चिंतन मे बताया। इसकी स्पष्ट झलक उसकी पुस्तक सामाजिक पद्धति में मिलती है।

यद्यपि ओवन को सफलता नही मिली लेकिन वह हिम्मत हारने वाला प्राणी नहीं था। उसने अपने परीक्षण को सफल बनाने के लिए अमेरिका की तरफ देखा।

उसने अमेरिका में एक 30,000 एकड़ की जमीन खरीद ली और उसे एक आदर्श बस्ती बनाने की दृष्टि से अपना परीक्षण प्रारम्भ किया। इस बस्ती को उसने न्यू हारमनी नाम दिया। ओवन को यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि उसका स्वागत करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति एवं करीब-करीब सभी उच्च पदाधिकारी उपस्थित थे। ओवन ने सर्वप्रथम सौ व्यक्तियों का शिक्षा और योग्यता के आधार पर चयन किया और उन्हें विद्वानों के सरक्षण में रखा गया। न्यू हारमनी बस्ती का परीक्षण भी असफल रहा क्योंकि वहाँ पर बसाए गए विद्वानों में भयंकर मतभेद प्रारम्भ हो गए। यह मतभेद इतने अधिक बढ़ गए कि 3 वर्ष के अल्प काल में ही ओवन को अपनी असफलता स्वीकार करनी पड़ी। चाहे यह योजना असफल रही हो, लेकिन इसका प्रभाव अमेरिका के जन जीवन पर अवश्य पड़ा। ओवन के उत्तरार्द्ध काल मे ओवन को निरन्तर एक के बाद दूसरी असफलता ही मिली और इसी वेदना और मन:स्थिति को लेकर 87 वर्ष की आयु में सन् 1858 में वह इस दुनियाँ से चल बसा। इस प्रकार एक सप्तरगी जीवन के धनी ओवन का निधन हो गया।

ओवन के विचार

ओवन को समाजवादी चिन्तन के इतिहास से पृथक् करना सम्भव नहीं है। उसको ब्रिटिश समाजवाद का जनक कहा जाता है। "एक ऐसा समाजवाद जो घृणा और संघर्ष से दूर है, समाजवाद जो सौहार्द्रपूर्ण सहयोग एवं सरकार, संसद, चर्च और जनता के बीच सहयोग पर आधारित है।" वह ऐसे समाजवाद पर विश्वास रखता था जो परिवर्तन के लिए राज्य के स्थान पर व्यक्ति को देखता था एवं जो अज्ञान, अभाव बीमारी एवं गन्दगी से मुक्त था। उसका आदर्श एक ऐसा समाजवादी समाज था जिसमे शिक्षा, मानवीय अच्छाई और त्याग के द्वारा इस धरातल पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना की जा सके।

ओवन के दर्शन का मूलाधार सहयोग है। उसका जोर इस बात पर था कि समाज के सभी लोग व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक हित की भावना से अनुप्राणित होकर कार्य करे। इससे वर्ग-संघर्ष, युद्ध और प्रतिस्पर्द्धा के दोष स्वतः दूर हो जाएँगे।[1] ओवन पूँजीपति और मजदूर के बीच कभी संघर्ष की बात नहीं सोचता था तथा अन्ततोगत्वा अपने आदर्श समाज मे पूँजीवाद को समाप्त करना चाहता था। उसने श्रमिकों को यही सलाह दी कि वे अपने शोषण कर्ताओं के प्रति कभी भी कोई क्रोध या कटुता का भाव नहीं आने दे। उसकी मान्यता थी कि मूलतः श्रमिक और पूँजीपति दोनों ही श्रेष्ठ हैं और दोनों ही के इरादे नेक हैं लेकिन परिस्थितियों के कारण वे एक दूसरे के विरोधी मालूम देते हैं। इस प्रकार ओवन मनुष्य के चरित्र निर्माण में परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान समझता था और इसलिए परिस्थितियों के परिवर्तन पर उसका ध्यान अधिक केन्द्रित था।

1. G D.H. Cole on Owen in *Political Thought in Perspective* written by William Ebenstein, p. 454.

ओवन ने सहयोग, सहकारिता एवं एकता पर आधारित एक योजना भी प्रस्तुत की जिसे पैरलैलो ग्राम (Parallelo grams) की योजना भी कहा जाता है। उसकी मान्यता थी कि इस योजना को लागू करने पर कोई भी निर्धन अथवा बेरोजगार नहीं रहेगा। यद्यपि यह योजना काल्पनिक ही मानी गई और यहाँ तक कि इसको श्रमिकों ने भी अस्वीकृत कर दिया लेकिन फिर भी इसका महत्व है।

योजना का सार यह था कि बेरोजगार लोगों के लिए सहकारिता पर आधारित ग्राम बसाए जाए। प्रत्येक ग्राम में पाँच सौ से लेकर दो हजार व्यक्ति तक रखे जाएँ जिनके पास एक हजार या पन्द्रह सौ एकड़ भूमि हो। इन लोगों को सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँगी।

ओवन ने सविस्तार बताया कि किस प्रकार की सहकारिता पर आधारित इनका जीवन होगा। उसने ग्रामवासियों के सामाजिक, व्यक्तिगत एवं पारिवारिक पक्ष पर भी ध्यान दिया। उसने यह भी बताया कि प्रशासनिक कार्यों हेतु वयोवृद्धों की एक समिति भी होगी। उसने ग्रामवासियों हेतु समुचित शिक्षा व्यवस्था को भी अपनी योजना में सम्मिलित किया।

ओवन वैसे भी बेन्थम की भांति उपयोगितावादी भी था। वह प्रसन्नता को मनुष्य और समाज दोनों का ही ध्येय मानता था। वैसे जेरेमी बेन्थम और रॉबर्ट ओवन परस्पर घनिष्ठ मित्र भी थे। ओवन इस बात से सहमत था कि प्रत्येक मनुष्य को स्वयं को तो सुखी रहना ही चाहिए साथ ही मे सामूहिक सुख की वृद्धि मे भी योगदान देना चाहिए। उसका जोर सामूहिक सुख पर अधिक था क्योंकि बाह्य वातावरण का मनुष्य पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि वह सामूहिक सुख के बिना व्यक्तिगत रूप से सुखी रह ही नही सकता। उसका कथन है कि "जीवन का प्रथम और आवश्यक लक्ष्य प्रसन्नता है....परन्तु प्रसन्नता व्यक्तिगत रूप में प्राप्त नही की जा सकती। अन्य व्यक्तियों से अलग रह कर ऐकान्त में प्रसन्नता प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ होता है। प्रसन्नता के या तो सभी भागीदार होगे अथवा ऐकान्त में प्रसन्नता प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ होता है।" ओवन का यह विचार इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और यहाँ वह सावयव दृष्टि से देखता है। जैसे शरीर के किसी एक भाग में पीड़ा होने से सारा शरीर कांप उठता है और भी कष्ट में रहता है, ठीक उसी प्रकार एक व्यक्ति की पीडा सारे समाज की पीड़ा है। ओवन सामूहिक प्रसन्नता के विचार को केवल एक आदर्श ही नही मानता था बल्कि उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने न्यूलेनार्क की बस्ती की कायापलट करने का निश्चय किया और उसे वहाँ पर रहने वाले परिवारों की सामूहिक सुख वृद्धि के लिए अनेक योजनाएँ भी बनाईं।

ओवन ने श्रमिकों की दशा को सुधारने पर बहुत जोर दिया। उसका कथन था कि श्रमिकों को केवल जीविकोपार्जन जितना पारिश्रमिक ही नहीं मिलना चाहिए

बल्कि उन्हें इतनी सुख-सुविधाएँ मिलनी चाहिए ताकि वे दिल लगाकर श्रम करें, स्वस्थ रह सकें एवं समाज के औद्योगिक विकास में योगदान दे सकें।

उसने समाज और पूंजीपति दोनों ही के हित में यह आह्वान किया कि पूंजीपति को उत्पादन के तकनीकी पक्ष के साथ ही साथ उसके मानवीय पक्ष को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। उसने साफ-साफ कहा कि यदि निर्जीव मशीनों की समुचित देख-रेख इतनी उपयोगी सिद्ध हो सकती है तो क्या यह नहीं हो सकता कि हम उन शक्तिशाली मशीनों (श्रमिक) के प्रति भी समान रवैया अपनाएँ जो इन निर्जीव मशीनों से कहीं अधिक सुचारू रूप से निर्मित की गई हैं।"

रॉबर्ट ओवन के इन विचारों का इंगलैंड के सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ा। सन् 1815 में हुए इगलैंड के व्यापारियों एवं उत्पादकों के एक सम्मेलन में उसने उन श्रमहितकारी योजनाओं को प्रस्तुत किया जिनका परीक्षण वह न्यूलेनार्क में कर चुका था। उसने श्रमिक को 12 घण्टे[1] से अधिक काम न करने और दस वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को फैक्ट्रियों में न लगाने के प्रस्ताव प्रस्तुत किए। कहा जा सकता है कि सन् 1819 में रॉबर्ट पील द्वारा प्रस्तुत प्रथम श्रम सुधार सम्बन्धी विधेयक रॉबर्ट ओवन द्वारा निर्मित वातावरण का प्रतिफल था।

अपनी नई पुस्तक A New View of Society में जो कि सन् 1813 में प्रकाशित हुई थी, ओवन ने समाज के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किए। उसने श्रमिकों को वृद्धावस्था पेन्शन देने, वृद्धों के लिए मनोरंजन की व्यवस्था करने, श्रमिकों के लिए आरामदायक गृह-निर्माण करने, बच्चों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करने तथा दुर्बल वर्ग के लोगों के लिए अधिकाधिक सुख-सुविधा का प्रबन्ध करने के लिए अनेकानेक सुझाव दिए।

रॉबर्ट ओवन ने शिक्षा पर बहुत जोर दिया। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है वह मनुष्य को परिस्थितियों की उपज मानता है। उसने तो यहाँ तक कहा कि वह एक नए विज्ञान का निर्माता है और वह है परिस्थितियों के प्रभाव का विज्ञान, (Science of the influence of the Circumstances)। उसकी मान्यता थी कि मनुष्य का चरित्र बाह्य वातावरण से प्रभावित होता है। इस बाह्य वातावरण को बदलने में वह शिक्षा का भरपूर योगदान मानता है। उसे इस बात का दुःख था कि मनुष्य स्वयं अपने चरित्र का निर्माण करने में असमर्थ रहता है क्योंकि उस पर उसके-पूर्वजों एवं बाह्य वातावरण की गहरी छाप होती है।[2] लेकिन इस बाह्य वातावरण और मिलने वाली वसीयत को शिक्षा पूर्णतः बदल कर मनुष्य की प्रसन्नता में वृद्धि कर सकती है। शिक्षा मनुष्य के मानस को बदल सकती है, वह उसे एक ऐसे जीवन में ढाल सकती है जिसमें न अकर्मण्यता हो, न गरीबी हो और न

1. तत्कालीन इंगलैंड में मजदूर को 16 घंटे कार्य करना पड़ता था।
2. *Robert Owen* : A New View of Society, Third Essay (Everyman), p. 45.

उसमें अपराध करने की प्रवृत्ति हो। ओवन की मान्यता है कि ये सारी बुराइयाँ अज्ञानता के परिणाम हैं।[1]

रॉबर्ट ओवन उन कानूनों को समाप्त करने के पक्ष में था जो इस नियम पर आधारित हैं कि मनुष्य स्वयं अपने चरित्र के निर्माण के लिए उत्तरदायी है। उसने ऐसे कानूनों को तत्काल वापिस लेने पर जोर दिया जो मनुष्यों को अनेक प्रकार के अपराध करने के लिए उत्साहित करते हैं। उसने उदाहरण देते हुए बताया कि जैसे शराब, जुए, लाटरी आदि को बनाए रखने वाले कानून तत्काल वापिस ले लिए जाने चाहिए।

ओवन का एक ऐसा भी प्रस्ताव था जिससे यह सिद्ध होता है कि वह अपने समय से बहुत ही आगे था। उसका सुझाव था कि बेरोजगार लोगों को काम देने की दृष्टि से श्रम के वैज्ञानिक ढंग पर आंकड़े रखे जाने चाहिए। उसने श्रमिकों की स्थिति को सुधारने एवं उनकी निरन्तर प्रगति हेतु एक श्रम मन्त्रालय की स्थापना पर जोर दिया। उसने 'An Address to the Working Class' में श्रमिकों को आश्वासन दिया कि आने वाला समय उनके अनुकूल है। उसने श्रमिकों को रोजगार देने एव उनकी स्थिति को सुधारने की जिम्मेदारी सरकार की ठहराई।

अन्त में, ओवन के दो और विचारों का संक्षेप में अध्ययन किया जा सकता है। उसका एक विचार यह था कि हमे खेत से फैक्ट्री की तरफ आना है। इसका एक बड़ा कारण जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होना एवं परिवर्तित विश्व-व्यवस्था थी। दूसरा उसका विचार मूल्य के निर्धारण से सम्बन्धित था। उसकी मान्यता थी कि मूल्य के निर्धारण का स्वाभाविक मापदण्ड मानव श्रम है जो कि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का सम्मिलित प्रयास है।[2]

मूल्यांकन

सेन्ट साइमन की भांति रॉबर्ट ओवन का समाजवादी चिन्तन के इतिहास में स्थान संदिग्ध नहीं है। उसने श्रमिकों के हित की स्पष्ट रूप से वकालत की है। उसने समाजवादी योजनाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें समस्त भौतिक पदार्थों पर सामूहिक स्वामित्व दर्शाया गया है। उसने व्यक्तिगत पूंजी पर प्रहार किया है और पूंजी के सार्वजनिक उपभोग पर बल दिया है।

उसने मनुष्य पर परिस्थितियों की छाप बताते हुए उसे अपराधी मानने से इन्कार कर दिया। उसने बाह्य वातावरण के बदलने के लिए एक आशावादी दृष्टिकोण अपनाया और शिक्षा को इसका माध्यम समझा। श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए उसने सुझाव दिए, वे एक प्रगतिशील मस्तिष्क की उपज थे। वह एक शोधकर्त्ता की भांति नए-नए परीक्षण करता चला गया और एक नूतन समाज के निर्माण हेतु पूर्ण उत्साह, त्याग और निष्ठा के साथ कार्य करता रहा।

1. *Robert Owen* : A new view of Society, op cit., p. 37.
2 *Robert Owen* : Report to the County of Lanark, p. 250.

ओवन को एक स्वप्नद्रष्टा समाजवादी भी कहा गया है। उसने पूंजीपतियों को चेतावनी दी और एक समाजवादी समाज की स्थापना के लिए पूंजीपतियों और मजदूरों के सहयोग की कामना की। उसने वर्ग-संघर्ष, युद्ध और प्रतिस्पर्धा को अनावश्यक बताया। ऐसा लगता है कि ओवन पूंजीपतियों की इन्सानियत में विश्वास रखता था (वैसे वह स्वयं कालान्तर में उनमें से एक बन गया था) और समझता था कि अपील कर देने मात्र से उनमें परिवर्तन आ जाएगा। इस प्रकार की अभिव्यक्ति उसके मजदूरों को दिए गए इस कथन में मिलती है, 'यह जानकर तुमको सन्तोष होना चाहिए कि मेरे पास, अनेक बड़े आदमियों से बात करने के बाद इस प्रकार के प्रमाण हैं कि अब उनकी इच्छा आप लोगों की स्थिति को सुधारने की है।'[1]

निष्कर्ष रूप में, हम ओवन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को कुछ विद्वान लेखकों के शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

प्रो० जी. डी. एच. कोल ने कहा है कि "ओवन एक दूकान पर काम करने वाला श्रमिक, एक उत्पादक, फैक्ट्री सुधारक और शिक्षा शास्त्री, आदर्श समुदायों का संस्थापक,व्यापारी था जो अपने और आनेवाले युगोंके लिए एक पहेली बन गया था। किसी एक व्यक्ति ने इतने आन्दोलनों को एक साथ जन्म नहीं दिया और इतने पर उसके विचार सरल एवं अपरिवर्तित बने रहे। निश्चित ही कोई एक व्यक्ति इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रिय और साथ कार्य करने में इतना कठोर, इतना हास्यास्पद एवं फिर भी इतना प्रभावशाली शायद ही रहा हो। बहुत ऐसे कम व्यक्ति हैं जो इतने चर्चित हों लेकिन जिनके ग्रन्थ इतने कम पढ़े जाते हों।"[2]

अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार, "ओवन का जीवन इस अर्थ में स्मरणीय है चाहे अद्वितीय न सही पर जिसने धन और सफलता को तुच्छ समझ कर समाज की मुक्ति हेतु त्याग किया।"[3]

मैक्सी के अनुसार, "उसका (ओवन का) स्वप्न मनुष्य को एक प्रतिस्पर्द्धात्मक एवं समाज के दमन कार्यों एवं कुण्ठाओं से मुक्त करना था। एक विकल्प के रूप में उसने एक उदार पितृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रस्ताव रखा जो सामाजिक संघर्ष की बुराइयों को समाप्त कर सके।"[4]

लेडलर ने रॉबर्ट ओवन के सारे चिन्तन का सार इन शब्दों में प्रस्तुत किया है--

"उसकी (ओवन की) निर्णय सम्बन्धी त्रुटियों एवं योजनाओं की असफलताओं के बावजूद भी, इस विशाल हृदय कपास के व्यापारी और साम्यवादी ने विश्व के सामाजिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला। उसकी वर्तमान-समाज पर

1. *Robert Owen :* An Address to the Working Classes, op cit , p. 153.
2. *G D H Cole* in Everyman's Political Thought in Perspective, p. 449.
3. *Alexander Gray*, op. cit., p. 217.
4. *Maxey*, op cit , pp. 519-20.

इसकी फिजूल-खर्ची, अन्यायों, एवं बेरोजगारी के कारण लाँछित; उसकी सामाजिक प्रसन्नता को मानव प्रगति का आदर्श मानना, उसका आग्रह कि सामाजिक वातावरण ही चरित्र का निर्धारण करता है, उसकी ये जरूरी दलीलें कि सामान्य हित मे धन के उत्पादन एवं वितरण हेतु सबका सहयोग—इन सबका भावी पीढ़ियो पर प्रभाव पड़ा। उसका अथक् निष्ठा और त्याग का जीवन उन सब लोगो के लिए प्रेरणादायक रहा जिन्होने बाद में समाजवादी, सहकारी और मजदूर आन्दोलनों एवं शिशु प्रशिक्षण, श्रम विधायन, जेल सुधारों एवं अन्य ऐसी ही गतिविधियों मे भाग लिया।'[1]

सार यह है कि रॉबर्ट ओवन को यद्यपि वैज्ञानिक समाजवादी तो नही कह सकते (यह स्थान तो केवल कार्ल मार्क्स के लिए सुरक्षित है) लेकिन उसे सर टामस मूर एवं सेन्ट साइमन की भाँति स्वप्नलोकीय समाजवादी कह कर भी नहीं टाल सकते। उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ओवन का समाजवादी चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लुई ब्लां
(Louis Blanc, 1813-1882)

समाजवादी विचारको में लुई ब्लां का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक समाजवादी दार्शनिक होने के साथ ही साथ एक सफल वकील और पत्रकार भी था। उसका जन्म 1813 में स्पेन में हुआ था। उसकी माँ स्पेनिश थी और बाप फ्रेंच। 1849 मे इसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सगठन' प्रकाशित की जिसमे उसके अधिकांश विचारों का उल्लेख किया गया है। उसकी ऐतिहासिक कृतियाँ भी बडी महत्त्वपूर्ण हैं जिनमे इसने फ्रांस के इतिहास का अध्ययन किया है। ब्ला ने तत्कालीन इग्लैण्ड का भी अध्ययन किया है। वह इग्लैण्ड मे काफी समय तक रहा था और वह उस देश से प्रभावित भी था। 1870 में वह पुन. फ्रांस में आ गया और अपने अन्तिम दिनों में वह एक साधारण संसद सदस्य के रूप मे रहा।

जी. डी. एच कौल[2] के अनुसार लुई ब्लां अपने मुख्य विचारो में आधुनिक जनतान्त्रिक समाजवाद का अग्रगामी कहा जा सकता है। अलेक्जेन्डर ग्रे[3] ने भी लुई ब्लां को श्रमिक समाजवाद का प्रतिनिधि माना है। ग्रे के अनुसार काल्पनिक समाजवाद से श्रमिक समाजवाद तक के विकास के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। अशोक मेहता ने इसको विकासवादी समाजवाद के प्रथम उन्नायकों में से एक बताया है। वह मानव मस्तिष्क को सीमित करने में विश्वास नहीं करता। वह मनुष्य को विकासोन्मुखी मानता है और यह स्वीकार करता है कि उसका विकास केवल समाज मे ही संभव है। एक सच्चे जनतांत्रिक समाजवादी के नाते वह व्यक्तित्व

1. *Laidler*, quoted by R. P. Sharma in Modern Western Political Thought, Vol. II, p. 22.
2. *G.D.H. Cole* : A History of Political Thought, Vol. 3, p. 119.
3. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, p. 249.

के विकास को ही समस्त सामाजिक क्रिया-कलापों का उच्चतम ध्येय स्वीकार करता है। वह हर मनुष्य को उसके मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास के अवसर की समानता देना चाहता है। उसने प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न बुराइयों की भर्त्सना की है और वह यह मानता था कि सबका नैतिक और भौतिक उत्थान स्वेच्छा पर आधारित सहयोग और भाईचारे से सम्भव है। उसने कहा कि राजनीतिक सुधार से सामाजिक सुधार होगा और श्रमिकों की मुक्ति के लिए राज्य की समस्त शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। उसने आर्थिक नियोजन और लोक कल्याणकारी कार्यों में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। उसके सारे चिन्तन में राज्य को केन्द्रीय स्थान प्राप्त था, लेकिन उसका राज्य वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र का प्रतिनिधि था। वह सोचता था कि वयस्क मताधिकार के लागू होने पर राज्य प्रगति और लोक कल्याण का माध्यम बन जाएगा। यद्यपि वह पूँजीवाद और प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित समाज का जिसमें कि श्रमिकों को अनन्त मुसीबतों का सामना करना पड़ता है कटु-आलोचक था, लेकिन वह वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का भी कट्टर शत्रु था। वह किसी वर्ग विशेष की सुदृढ़ता मे विश्वास नहीं करता था बल्कि वह सभी वर्गों के श्रेष्ठ आदमियों को सम्बोधित करता था। यद्यपि वह पूँजीवाद को समाप्त करने के पक्ष में था, लेकिन इसके लिए उसने क्रान्ति का रास्ता नहीं चुना, सम्मति के द्वारा वह परिवर्तन चाहता था। वह बहुमत के निर्णय को सही निर्णय मानता था लेकिन शक्ति के स्थान पर उसने तर्क पर जोर दिया।[1] वह इस राय का था कि जनतांत्रिक राज्य को औद्योगिक संगठनों का निर्माण करना चाहिए ताकि व्यक्तिगत प्रतिष्ठानों की समाप्ति हो सके। वह चाहता था कि सामाजिक प्रतिष्ठानों का राज्य ही निर्माण करे और ये प्रतिष्ठान आत्म-निर्भर और आत्म-शासित हों। उसका मत था कि राज्य को समाज की ओर से प्रतिस्पर्द्धात्मक व्यवस्था से उत्पन्न कष्ट, अराजकता और शोषण दूर करने के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए। वह मानता था कि ज्यों ही सामूहिक पूँजी बढ़ेगी व्यक्तिगत पूँजी के अवसर और उसके साथ ही पूँजीपतियों की नृशंसता स्वतः समाप्त हो जाएगी। वह राज्य को गरीबों का बैंकर बनाना चाहता था और उसके अनुसार राज्य का कार्य श्रमिक वर्ग के हितों का सम्पादन करना था। वह सभी को योजनाबद्ध तरीके से रोजगार देने के पक्ष में था। यद्यपि वह सबकी बौद्धिक क्षमता समान नहीं मानता था लेकिन वह सबको अवसर की समानता देने के पक्ष मे था ताकि मनुष्य अपनी प्रतिभा के अनुसार अपना पूर्ण विकास कर सके। लेकिन इस विकास का अर्थ दूसरे का शोषण नहीं है। वह योग्यता और आवश्यकता दोनों पर आधारित वेतन देने के पक्ष मे था।

इस प्रकार ब्लां एक नूतन सामाजिक व्यवस्था के निर्माण हेतु राज्य का पूर्ण उपयोग करना चाहता था। श्रमिक वर्ग को मुक्ति दिलाने हेतु वह राज्य की शक्ति को अपरिहार्य मानता था। लेकिन वह राज्य का कुछ समय के लिए ही उपभोग

1. *Cole G D H., op. cit., p 169.*

करना चाहता था। जिस समय निम्न वर्ग नहीं रहेंगे और समाज में मोहताज व्यक्ति नहीं होंगे तब उसके अनुसार राज्य की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस विचार के प्रेरणा के रूप में वह मार्क्स का अगुवा है जिसने राज्य के आगे चलकर के मुरझाने की बात कही। सर परसिवल ग्रिफिथ ने[1] ब्लां को कार्ल मार्क्स का इस अर्थ में अग्रगामी बताया कि राज्य गरीबों के हित में काम करे और फिर जब गरीब-गरीब नहीं रहे तो फिर राज्य, जैसा कि बाद मे जाकर एन्जिल्स ने कहा, मुरझा जाए क्योंकि इसकी फिर आवश्यकता नहीं रहेगी। ब्लां पहला व्यक्ति था जिसने समाज के प्रत्येक नागरिक को काम का अधिकार दिलाने की बात कही। वह पहला व्यक्ति था जिसने राज्य का गरीबों के बैंकर के रूप मे उपभोग करने का विचार दिया और वह उस अर्थ में भी पहला व्यक्ति था जिसने समाजवाद को राजनीति के साथ जोड दिया क्योंकि राज्य के बिना यह परिवर्तन सम्भव नहीं है।

जैसा कि कहा भी जा चुका है कि ब्लां राज्य का समाज परिवर्तन के लिए उपयोग करने का पक्षपाती था। वह स्वतन्त्रता को साकार बनाने के लिए राज्य की सत्ता के प्रयोग की बात करता था। उसकी मान्यता थी कि समाज में जहाँ शक्तिशाली व्यक्ति अथवा वर्ग से दुर्बल व्यक्ति अथवा वर्ग का मुकाबला होता है वहाँ स्वतन्त्रता निवास नही कर सकती। अतः वह मानता था कि अधिकारों को साकार तो केवल राज्य ही बना सकता है और इस कार्य हेतु राज्य का शक्तिशाली होना अधिक आवश्यक है ताकि यह दुर्बल वर्ग को संरक्षण दे सके।

यह सत्य है कि एक ओर लुई ब्लां राज्य की अनिवार्यता में विश्वास करता था और दूसरी ओर इसकी समाप्ति की बात कहता था। वह मानता था कि जब समाज में कोई भी दलित और दीन वर्ग नही रहेगा तो राज्य की फिर कोई आवश्यकता नही रहेगी। राज्य के मुरझाने की बात मार्क्स और ऐन्जिल्स ने भी कही थी। फिर ब्लां और मार्क्स के विचारों में राज्य के सम्बन्ध में मूल अन्तर क्या है? मार्क्सऔर ऐन्जिल्स राज्य को समाज के प्रभुता-सम्पन्न वर्ग की कठपुतली मानते थे जो गरीबों का शोषण करता है। लेकिन ब्लां राज्य को साधन विहीन व्यक्ति की हितकारी संस्था मानता था। मार्क्स और एन्जिल्स कहते थे कि राज्य सदा एक वर्ग के हित में कार्य करता है। श्रमिकों के द्वारा राज्य को पूँजीपतियों के हाथों से छीन लेने पर अब राज्य पूँजीपतियों के शोषण में प्रवृत्त होगा। अन्ततोगत्वा समाज में एक ही वर्ग रह जाएगा तो राज्य का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाएगा। लेकिन ब्लां का कथन था कि राज्य दुर्बल वर्ग को सबल बना देगा और जब समाज में कोई दुर्बल वर्ग ही नहीं बचेगा तो राज्य की एक कमजोर के संरक्षक के रूप मे कोई आवश्यकता ही नही रहेगी।

1. *Sir Percival Griffiths* : The Changing Face of Communism, p. 13.

ब्ला उन प्रभावशाली विचारकों में से था जिसने प्रतिस्पर्द्धा को मजदूर के अहित में सिद्ध किया। उसने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रतिस्पर्द्धा के घातक परिणाम को बताया। उसने बताया कि किस प्रकार मजदूर का शोषण किया जाता है। ब्ला का कथन था, वह यह है कि एक प्रकार से पूंजीपति मजदूर का निचोड़ निकाल लेता है। उसने इसे बहुत ही मर्मस्पर्शी शब्दों में बताया।[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

ब्ला मजदूर वर्ग की वकालत करता था लेकिन अनेक स्थानों पर उसके विचारो में असम्बद्धता एव हल्कापन आ जाता है। उदाहरण के लिए उसने मजदूरों को सलाह दी कि वे किसी प्रकार की बचत न करें क्योंकि यह उन प्रचलित परिस्थितियो में गुण न होकर पाप है। इसका कारण उसने यही बताया कि बचत करने से मजदूर में सुरक्षा की भावना आएगी और वह वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने की कोशिश करेगा। फिर जो कुछ वह बचाएगा वह किसी न किसी रूप में राज्य के नियन्त्रण में ही रहेगा और इसलिए मजदूर राज्य को बनाए रखने के पक्ष में रहेगा। इसके अतिरिक्त ब्लां यह भी मानता था कि बचत की भावना से व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को बल मिलता है। मनुष्य बचत इसलिए करता है कि बुढ़ापे में वह आराम से रह सके। इसका अर्थ यह हुआ कि उसको अपने साथियों पर भरोसा नही है और इसलिए वह बचत की सोचता है। ब्लां इस प्रकार बचत और बचत-बैंको के विरुद्ध अपने विचार रखता था।

ब्लां के इन विचारों की बड़ी आलोचना की गई है। अलेक्जेन्डर ग्रे का कथन है कि ब्लां कभी-कभी अर्थहीन बात को भी कहने से नहीं चूकता था। ग्रे के अनुसार यदि ब्ला यह कहता कि मजदूर की क्षमता ही कहाँ कि वह अल्प मजदूरी में से कुछ बचा सके तो फिर भी यह बात समझ में आ सकती थी। बचत को पाप कहना कहाँ तक न्यायोचित था ? लुई ब्ला ने बचत बैंकों द्वारा सामाजिक विकास मे दिए जाने वाले योगदान को पूर्णतः विस्मृत कर दिया है।

ब्ला के चिन्तन में एक दूसरी कमी यह है कि उसने एक ओर राज्य को दुर्बल वर्ग का सरक्षक माना और दूसरी ओर सोचा कि एक समय आएगा जब कि राज्य की आवश्यकता ही नही रहेगी। राज्य यदि दुर्बल वर्ग का संरक्षक है तो उसे सुदृढ करना आवश्यक है। फिर मजदूरों की बचत यदि राज्य के अधीन भी हो जाती है तो इससे आपत्तिजनक बात क्या हो सकती है ?. यदि राज्य दुर्बल वर्ग का संरक्षक एवं समाज परिवर्तन का साधन है तो फिर उसे समाप्त करने की आवश्यकता क्या है। ब्ला की इस दलील मे "कोई तथ्य नही है कि जब समाज में कोई दुर्बल वर्ग ही नही रहेगा तो राज्य अनावश्यक हो जाएगा। इस प्रतिस्पर्द्धात्मक समाज में दुर्बल वर्ग कैसे सबल बन जाएगा—इसके सम्बन्ध में ब्लां कोई ठोस दलील नही दे पाया।

1. *Louis Blanc* : Organisation de Travail (Sir John Manloth's edition), p. 30.

इन कमियों के बावजूद भी ब्लां का समाजवादी चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अशोक मेहता के शब्दो मे उसके स्थान को निर्धारित करते हुए यह कह सकते हैं कि "वह मार्क्स के पूर्ववर्ती स्वप्नलोकीय एवं उसके बाद वाले समाजवादियो के बीच में एक पुल का काम करता है।"[1]

विलियम थॉमसन
(William Thompson)

मेजर ने विलियम थॉमसन को वैज्ञानिक समाजवाद का प्रसिद्ध संस्थापक माना है।[2] फॉक्सवेल ने उसे अंग्रेजी समाजवादी विचारधारा का उन्नायक कहकर सम्बोधित किया है। वैसे इन दोनों कथनों की सत्यता को अनेक व्यक्तियों ने सन्देह की दृष्टि से देखा है। इसका कारण यह है कि सन् 1834 मे प्रकाशित उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ *"An Enquiry into the Principles of the Distribution of Wealth"* मे निराशाजनक स्थिति की अभिव्यक्ति मिलती है। थॉमसन एक आरामप्रिय व्यक्ति था और उसने बड़ी ही फुरसत में अपने विचारों को प्रस्तुत किया। उसकी शैली को देखने से लगता है कि वह 18वीं शताब्दी की उपज था और उसने करीब 600 पृष्ठो में बड़े शानशौकत से अपने विचारों को रखा है। कहीं-कहीं तो उसने बहुत ही विस्तार से एक वाक्य को एक गद्यांश (पैरेग्राफ) मे और एक गद्यांश को एक पेज मे विस्तार के साथ लिखने में अपनी रुचि प्रकट की है।

थॉमसन ने उपयोगितावादी विचार प्रस्तुत किया। वह अधिकाधिक लोगो का अधिकाधिक हित, सम्पूर्ण समुदाय की प्रसन्नता, समाज का सुख आदि उक्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अधिकतम प्रसन्नता जहाँ कहीं सम्भव हो प्राप्त करने का ध्येय होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर सके कि उसे प्रकृति ने अन्य व्यक्तियों की तुलना में प्रसन्न रहने की अधिक क्षमता प्रदान की है तो धन और प्रसन्नता को प्राप्त करने के अन्य साधनों से सम्बन्धित बात भी उस पर लागू होती है।[3] *उसका कथन था कि यदि 10 आदमियों में से* 9 आदमियों की गुलामी और दसवें व्यक्ति की महती प्रसन्नता मानव-प्रसन्नता का प्रतिनिधित्व करती है तो यह प्रसन्नता विभाजन स्वीकार किया जाना चाहिए।

विलियम थॉमसन ने यद्यपि इन सैद्धान्तिक सम्भावनाओ की व्याख्या की, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर वह प्रसन्नता किसमें कितनी है और क्यो, इसका कोई मापदण्ड नहीं ढूंढ पाया। इस उलझन से बचने के लिए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति धन के समान उपभोग से समान प्रसन्नता

1. 'He is the bridge that connects the pre-Marxian utopians with the post-Marxian socialists.' —*Asoka Mehta* : Democratic Socialism, p. 24.
2. *Menger* : The Right to the Whole Produce of Labour, quoted by *Gray Alexandar* : *The Socialist Tradition, p 269.*
3. Enquiry into the Principles of the Distribution of Wealth, p. 19.

प्राप्त करने में सक्षम है।[1] थॉमसन ने इस बात को इसलिए भी स्वीकार किया कि इसके विपरीत कोई भी सिद्धान्त व्यावहारिक सतह पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसीलिए उसने कहा कि प्रसन्नता के उपभोग की क्षमता में असमानता का कोई भी अस्तित्व नहीं होता···यह कोई तरल पदार्थ नहीं है जिसे रोक कर नापा जा सके।[2] यह सही है कि प्रसन्नता का नापा-जोखा एक दुष्कर कार्य है, लेकिन थॉमसन इसी विचार का था कि मानव जीवन का उद्देश्य प्रसन्नता प्राप्त करना है और चूँकि धन का निर्माण प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए किया जाता है, अतः सामूहिक हित में समाज को ही धन पर नियन्त्रण करना चाहिए जो इसका निर्माण करता है।[3]

थॉमसन ने इस प्रकार धन को प्रसन्नता से जोड़ा था। उसने धन की परिभाषा इस प्रकार की कि "यह भौतिक साधनों, मानव परिश्रम तथा बुद्धि का वह संयुक्त प्रयोग है जिससे प्राकृतिक उत्पादन होता है जो कि मनुष्य के लिए प्रसन्नता प्रदान करने वाला होता है।[4] उसने परिश्रम पर इतना जोर दिया कि इसी को धन का एकमात्र जनक कहा।[5] थॉमसन ने कहा कि सौंदर्य, अभाव, उपभोग की इच्छा, आवश्यकता, उपयोगिता आदि किसी से भी धन का उत्पादन नहीं होता, केवल श्रम से ही इसकी उत्पत्ति होती है।"[6] थॉमसन का यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है कि उसने धन का उत्पादन केवल श्रम से जोड़ा।

हमने प्रारम्भ मे ही थॉमसन को उपयोगितावादी विचारक कहा है। उसने समानता को न्याय की अन्तिम अभिव्यक्ति कहा था और श्रमिक को उत्साहित करने की दृष्टि से उसे श्रम से उत्पन्न समस्त धन का स्वामी कहा था। थॉमसन श्रमिक को 'सुरक्षा' प्रदान करना चाहता था। उसने सुरक्षा को दो भागों में बाँटा जिन्हें वास्तविक (Genuine) और मिथ्या (False) सुरक्षा कहा। उसने इन दोनों मे अन्तर भी स्पष्ट किया। वास्तविक सुरक्षा को परिभाषित करते हुए उसने बताया कि यह एक श्रमिक द्वारा अपने श्रम के समस्त लाभों का पूर्ण स्वामित्व है।[7] दूसरे शब्दों में श्रमिक ही उस धन का स्वामी है जिसका उसने उत्पादन किया है। यह इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना श्रमिक मेहनत करने के लिए प्रेरित नहीं होगा। मिथ्या

1. "...all same individuals are capable of equal enjoyment from equal portions of the objects of wealth."
   —Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth, p. 21
2. Ibid, p. 22.
3. Ibid, p. 19.
4. Ibid, p. 6.
5. "Labour is the sole parent of wealth". —Inquiry into the Principles of Distribution of Wealth, pp. 6-7.
6. "Neither sanity nor beauty, not the pleasure to be derived from it, neither necessity nor utility can make an object of wealth. Wealth springs from labour alone". —Inquiry into Principles of Distribution of Wealth, p.17
7. "The exclusive possession by everyman of all the advantages of his labour".

सुरक्षा श्रमिक को धोखा देने के लिए होती है, लेकिन वास्तविकता यह है कि इससे केवल पूँजीपतियों को ही लाभ होता है। वैसे थॉमसन का उद्देश्य केवल समानता लाने का ही नहीं था, वह अधिक उत्पादन पर भी जोर देता था। वह सोचता था कि समानता अधिक उत्पादन में सहायक होगी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित में अधिक उत्पादन के लिए अपनी शक्ति केन्द्रित करेगा। लेकिन वह यह भी मानता था कि यदि समानता अधिक उत्पादन लाती है तब तो यह ठीक है लेकिन यदि इससे उत्पादन घटता है तो फिर इसकी आवश्यकता नहीं है।[1] सार यह है कि वह गैर-उत्पादन को वितरण की असमानता से ज्यादा बड़ी बुराई मानता था।[2]

नया कानून

थॉमसन इस पक्ष में था कि एक कानून बनाया जाना चाहिए जिसमे सर्वप्रथम श्रमिक को 'सुरक्षा' प्रदान की जाए। इसमे यदि कुछ असमानता भी आ सकती है लेकिन वह कम से कम होनी चाहिए। दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि श्रमिक को उस समझौते का आभास कराया जाना चाहिए जो उसे करना पड़ता है और तृतीय, सारे विनिमय जो श्रम विभाजन के इस संसार मे अनिवार्य हैं, मुक्त एवं स्वेच्छा पर आधारित होने चाहिए। इसी प्रसंग मे थॉमसन का मार्क्स का पूर्ववर्ती विचार खुलकर हमारे समक्ष आता है। थॉमसन को यह लगा कि अबतक का इतिहास यह बताता है कि सारी व्यवस्था का उद्देश्य समाज के अधिकांश भाग की कीमत पर एक शक्तिशाली वर्ग को धनी बनाना है और इसमें शक्ति द्वारा श्रमिको के श्रम को छीना जाता है।[3] अब तक के बने नियम श्रमिक विरोधी रहे हैं और उनके अधीन सभी पूंजीपतियों एवं प्रभावशाली वर्ग के हितों को संरक्षण प्राप्त हुआ है।

थॉमसन पूर्ण रूप से पूंजीपतियों के विरुद्ध न था। वह श्रमिक को उसके श्रम का पूर्ण फल देने के पक्ष में अवश्य था, लेकिन फिर भी वह यह चाहता था कि श्रमिक को पूंजी, किराया ब्याज एवं लाभ मे जो पूँजीपति का हक है उसे चुकाना चाहिए। यह श्रमिक का दुर्भाग्य है कि वह पूंजी का स्वामी नही है।[4] लेकिन साथ ही वह यह भी कहता था कि पूंजीपति यह कदापि न भूलें कि पूंजी, भवन, औजार, ज्ञान सब बेकार हैं यदि श्रमिक उनका उपयोग न करें। उसने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि श्रम ने ही इन सब उपकरणों को मूल्य प्रदान किया और अपने अतिरिक्त श्रम द्वारा इनका मूल्य और भी बढ़ाया जा सकता है।[5] यद्यपि उसने पूंजीपति को उसकी पूंजी की एवज मे दिए जाने की बात अवश्य कही, लेकिन साथ ही उसने उसे तिरस्कार की नजर से देखते हुए यह भी कह दिया कि लाभ, कर, चोरी आदि ये सब चीजें उत्पादन को कम करती हैं।[6]

जब एक केन्द्रीय समस्या यह है कि पूंजी के बदले में श्रमिक द्वारा पूंजीपति को कितना दिया जाना चाहिए ? उसने यहाँ श्रमिक और पूंजीपति दोनों ही के दृष्टिकोण सामने रखे हैं । श्रमिक की दृष्टि से यह भुगतान इतना हो ताकि पूंजी का मूल्य कम न हो पाए तथा साथ में पूंजीपति को इतना मिल जाए कि वह आराम से जीवनयापन कर सके । पूंजीपति का दृष्टिकोण श्रमिक से पूर्णतया भिन्न होगा। थॉमसन के अनुसार वह यह चाहेगा कि सारा अतिरिक्त मूल्य का वह ही हकदार हो क्योंकि उसके पास उच्च स्तरीय बुद्धि एवं कौशल हैं, उसने औजार एवं मशीनें कार्य करने के लिए जुटाई हैं तथा अपनी संगठन कुशलता से इन सबको व्यवस्थित रूप दिया है । अलेक्जेन्डर ग्रे ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का उल्लेख किए जाने के कारण उसे समाजवादी साहित्य के इतिहास में एक उच्च स्थान दिया है ।

थॉमसन श्रमिक वर्ग की सुरक्षा और समानता के बीच व्याप्त भारी अन्तर से परेशान था । इस गुत्थी को सुलझाने की दृष्टि से उसने धन के वितरण में स्वेच्छा पर आधारित समानता[1] की बात कही । इससे उसका आशय सहयोग से था । शनैः शनैः वह इस रायका बनने लगा था कि यदि प्रत्येक मजदूर अपने श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु का अपने लिए उपयोग करने लगेगा तो समाज में धन कहाँ से आएगा । उसके विचार में इससे कई बुरे परिणाम भी निकल सकते हैं । बच्चे, महिलाएँ एवं वृद्ध भूखे मर सकते हैं । यद्यपि उसने इस तर्क को फिर आगे तो नहीं बढ़ाया लेकिन इस समस्या के समाधान के रूप में उसने पारस्परिक सहयोग एवं सामान्य बीमे की बात अवश्य कही । उसने अपनी पुस्तिका (Labour Rewarded) में सहकारिता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया ।

आलोचना एवं मूल्यांकन

निःसन्देह थॉमसन ने श्रम को सम्पदा का जन्मदाता बताया लेकिन पूंजीपतियों के प्रति भी उसके दिल में स्थान था । जैसा कि कहा जा चुका है वह पूंजीपति को ही पूंजी का स्वामी मानकर चलता था और इसलिए उसने उद्योग में लगी पूंजी के कारण पूंजीपति को उसका हक देने की बात कही । उसने सामान्य तौर पर समानता की बात कही लेकिन यदि इससे उत्पादन घटता है तो वह इसका त्याग करने को तैयार था । इसका अर्थ यह हुआ कि उसके मस्तिष्क में उत्पादन की वृद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण थी तथा इसे प्राप्त करने लिए समानता का बलिदान किया जा सकता है । यह तर्क निजी उद्योगों की स्थापना के पक्ष में अधिक जाता है क्योंकि स्वामी अधिकाधिक लाभ कमाने की दृष्टि से मजदूरों से अधिक श्रम लेता है और उन्हें कम मजदूरी देता है । यह सही है कि अधिक उत्पादन सार्वजनिक उद्योगों के स्थान पर निजी उद्योगों में अधिक सम्भव है । लेकिन अधिक उत्पादन ही केवल वांछनीय नहीं है, जो आवश्यक है वह यह कि कोई किसी का शोषण न करे

1. "Voluntary equality in the distribution of wealth."

और उत्पादन और वितरण दोनों ही सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित हों। पूँजीपति के अस्तित्व को मान्यता देने पर अनेक पेचीदगियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सारी व्यवस्था में उनका एक विशिष्ट स्थान हो जाता है और इसके कारण व्यवस्था पर ही उनका वर्चस्व स्थापित हो जाता है।

मूल्यांकन

थॉमसन की समस्त विचारधारा का अध्ययन कर लेने के उपरान्त उसे समाजवादी कहने में कोई दिक्कत नहीं आती। श्रम के प्रति उसकी निष्ठा उपर्युक्त पृष्ठों में स्पष्ट की जा चुकी है। कम लोगों ने श्रम और श्रमिक को इतना पूजनीय स्थान दिया है जितना कि थॉमसन ने दिया है। उसने श्रमिक की सुरक्षा की बात कही तथा उसे सामाजिक न्याय दिलाने की जोरदार वकालत भी की। यद्यपि उसने पूँजीपति को उसके द्वारा लगाई गई पूँजी के कारण लाभ में हिस्सा देने के लिए अवश्य कहा लेकिन साथ में यह भी कहा कि यह इसलिए करना पड़ता है कि दुर्भाग्य से मजदूर के पास पूँजी नहीं है। इसके अतिरिक्त उसने पूँजीपति को व्यवस्था का स्वामी नहीं बताया, उसे केवल लाभ मे हिस्सा देने के लिए कहा। यह हिस्सा कितना हो यह भी उसने कहा जिसका कि उपर्युक्त पृष्ठों मे वर्णन किया जा चुका है। समाजवादी चिन्तन के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए भी है कि उसने मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक होते हुए भी अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने उन्मुक्त प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न बुराइयों की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। उदाहरण के लिए उसने बताया कि किस प्रकार डाक्टर बीमारियों का इलाज चाहता है। डाक्टर चाहता है कि बीमारियाँ बनी रहें अन्यथा उसका व्यापार गिर जाएगा।[1] थॉमसन ने उन्मुक्त प्रतिस्पर्द्धा की जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी घोर निन्दा की लेकिन एक यथार्थवादी समाजवादी की भाँति यह भी बताया कि पूँजीपति को समाप्त करना कितना दुष्कर कार्य है।[2] इतना मानते हुए भी उसने श्रम और श्रमिक को धन का सृजनहार बता कर उसे समाज मे सम्मानजनक स्थान दिलाने में कोई कसर नही छोड़ी।

थामस हॉगसकिन (1787–1869)
(Thomas Hodgskin)

मार्क्स के अंग्रेजी पूर्ववर्ती विचारको में थामस हॉगसकिन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रखर बुद्धजीवी था और एक प्रसिद्ध विचारक के रूप में वह अपने युग को अधिक प्रभावित करने की क्षमता भी रखता था लेकिन समय व परिस्थितियों के साथ उसका मेल न होने के कारण उसके भाग्य में यह प्रसिद्धि न लिखी थी। नेवी मे वह एक अधिकारी था और अन्याय के प्रति उसके दिल मे भयंकर वेदना थी और इससे प्रेरित होकर इसने "An Essay on Naval Discipline" की 1813 में रचना की। इसके परिणामस्वरूप उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ा। 1815 में वह

1 *Quoted by Gray Alexander*: The Socialist Tradition, op. cit, p. 277.
2. *Ibid*, p. 226.

भ्रमणार्थ निकल पड़ा और 3 वर्ष तक उसने फ्रांस, इटली, जर्मनी और अन्य देशों का अधिकांश पैदल ही दौरा किया। वापिस लौटकर 1820 में उसने "Travels in the North of Germany" के नाम से एक मोटा ग्रन्थ लिखा। 1825 में उसने एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की जिसके प्रकाशन से उसे समाजवादी चिन्तन के इतिहास में स्थान मिल गया। इस पुस्तिका का नाम था "Labour Defended against the Claims of Capital". उसने लन्दन में कई भाषण दिए जो फिर "Popular Political Economy" के नाम से प्रकाशित भी हुए। कुछ समय उपरान्त उसने लॉर्ड ब्रोगम को लिखे गए अपने पत्रों को एक पुस्तक के रूप में "The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted" शीर्षक के अन्तर्गत छपवाया।

अलेक्जेन्डर ग्रे का मत है कि हॉग्सकिन के विचारों मे एडमस्मिथ और गार्डविन के चिन्तन का समन्वय है। उसका राज्य के प्रति उदारवादी अविश्वास है लेकिन उसने किसी भी स्थिति मे व्यक्तिवाद को नही छोड़ा। उसकी जर्मनी की यात्रा सम्बन्धी पुस्तक जिसका कि हम उल्लेख कर चुके हैं, उसमें उन जर्मन देशों में सरकार के अधिक हस्तक्षेप की निन्दा की है। उसका स्पष्ट मत था कि व्यक्ति स्वयं अपने हित को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं और अपनी समृद्धि को बढ़ा सकते हैं मुकाबले एक छोटे से समुदाय के जो सरकार के नाम पर काम करता है।[1] यहाँ हमें हॉग्सकिन के अराजकतावादी विचार मिलते हैं। इसकी और भी स्पष्ट अभिव्यक्ति निम्नलिखित वाक्य में मिलती है। यह वाक्य हनोवर सरकार पर लिखे गए एक अध्याय में से लिया गया है। उसने लिखा कि जब यह कहा जाता है कि राष्ट्र की समृद्धि वहाँ की सरकार की शक्ति और हस्तक्षेप के अनुपात मे होती है तो हमे ऐसा लगता है कि यह बात सही है और सरकारें आवश्यक और लाभदायक हैं। लेकिन यह उन सामान्य पूर्वाग्रहो मे से एक है जो मनुष्यों ने अज्ञानी और जगली युग से वसीयत मे प्राप्त किया है और इस भ्रान्ति को विस्तृत ज्ञान और विशाल सभ्यता एक दिन यह सिद्ध कर देगी कि यह त्रुटिपूर्ण बुराई है।[2]

उसने विधान सभाओं और संसदों की निरर्थकता को ओर भी सकेत दिया था। उसने यूरोप के अनेक देशों मे प्रचलित व्यवस्थापिकाओ के सदस्यो तथा उनकी क्रिया-कलापो का अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि जहाँ तक धन के उत्पादन का सम्बन्ध है वह प्राकृतिक नियमों की हत्या है जिनसे धन का उत्पादन किया जाता है। हाग्सकिन, जैसा कि उसके विचारो में झलक मिलती है, अधिक शासन के पक्ष मे नहीं था। उसका कथन था कि प्रकृति ने ही व्यक्तियों और राष्ट्रों के आचरण हेतु इतने नियम बना दिए हैं कि अधिक नियम बनाने की गुंजायश ही नहीं है—विधान सभाओं द्वारा बनाए गए कानून सरकार के हस्तक्षेप को बढ़ाएंगे जो

1. Travels in the North of Germany, Vol. I, p. 292.
2. Ibid, p. 417.

कि अपने में एक बुराई है । हॉगसकिन ने ठेठ अराजकतावादी विचार का समर्थन किया कि अधिक नियम-संहिताओं का निर्माण अन्तर्विरोध को लिए हुए है। इससे हमारे मस्तिष्क में ज्यादा बुरे विचार आते हैं और हम ऐसे कुकृत्य करने को उतारू हो जाते हैं जिनकी कल्पना पहले कभी हमारे मस्तिष्क में आ भी नहीं सकती थी। जितने कानून बनते हैं उतना ही समाज में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता है और सरकार कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकती । मनुष्य कानूनों को तोड़ने की विधि भी सोचता-सीखता जाता है और इस प्रकार शनैः-शनैः वह बुराई की ओर प्रवृत्त हो जाता है। अतः हॉगसकिन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि संसद और अन्य इससे मिलती-जुलती संस्थाओं से दूर रहना चाहिए और एक ऐसे समय की ओर आशाभरी दृष्टि से देखना चाहिए जब कि मानव जाति उस मिथ्याश्रद्धा को छोड़ देगी जिसके साथ आज वह कुछ व्यक्तियों की पूजा करती है तथा वह इनके स्थान पर अपने आपको केवल बुद्धि को अपना प्राकृतिक स्वामी और सम्प्रभु मानकर स्वयं को समर्पित कर देगी। इस प्रकार जो हॉगसकिन ने लिखा उसमें अराजकतावादी विचारों की स्पष्ट व्याख्या मिलती है।

हॉगसकिन के कुछ विचार और भी हैं जिनमें उसका विवेक और सहिष्णुता मिलती हैं। प्रायः अराजकतावादी दुनियां की वास्तविकता से परे होते हैं जिसकी वे भर्त्सना करते हैं, लेकिन हॉगसकिन के साथ यह बात नहीं थी। उसने Popular Political Economy मे *व्यापार के सम्बन्ध में जो कहा वह प्रशंसनीय है।* उसने खैरूज व्यापारियों (Retail dealers) को आवश्यक बताया और उसने ओवन की आलोचना की जिसने अपनी व्यवस्था मे इनका कोई भी स्थान नहीं माना । हॉगसकिन ने थोक व्यापारियों की भी प्रशंसा की और एक प्रकार से उन्मुक्त व्यापार पर जोर दिया। कहा जा सकता है कि एडमस्मिथ भी इससे अधिक अच्छे तरीके से अपने विचारों को नहीं रख सकता था। उसने उन्मुक्त व्यापार की जो प्रशंसा की है वह उन दलीलों के आधार पर ही है जो प्रायः इनके पक्ष में दी जाती है। उसका विचार था कि यह व्यापारी वर्ग अपनी जन्मजात प्रकृति के कारण इस व्यवसाय की ओर आकृष्ट होते हैं और अपने हित में काम करते हुए भी दूसरों का हित सम्पादित करते हैं। उसने रुपया देने वाले साहूकार को भी बहुत महत्त्वपूर्ण बताया और उन्हें लाभदायक मजदूर कह कर पुकारा।[2] उसने बहुत स्पष्ट कहा कि राजनीतिज्ञों द्वारा व्यापारियों के कार्य मे हस्तक्षेप अनुचित है क्योंकि रुपये का लेन-देन आदि पूर्णतः अपना एक निजी धन्धा है।[3]

यद्यपि हॉगसकिन को मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी चिन्तकों में शामिल किया गया है, लेकिन उसके उन्मुक्त व्यापार सम्बन्धी विचार उसे इस धारा से बहुत दूर

1. Ibid, p. 205.
2 Popular Political Economy, p. 206.
3. Ibid, p. 218.

ले जाते हैं । उसके इन विचारों का वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है । उसने और भी जोरदार शब्दों में अपने व्यक्तिवाद को अभिव्यक्त किया है । यद्यपि उसने बाजार की कीमत और प्राकृतिक कीमत में अन्तर किया है लेकिन वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा उसमें कोई क्रान्तिकारी प्रस्ताव निहित नहीं है । वह जिन निष्कर्षों पर पहुँचा वे उसे समाजवाद विरोधी भी बना देते हैं । उसने लिखा कि कीमत का निर्धारण केवल समाज की आवश्यकताओं द्वारा ही नहीं होता, यह वास्तव में एक ईश्वरीय सकेत है जो सब मनुष्यों को यह बताता है कि वह अपने समय और अपने प्रतिभा का अपने लिए और सारे समाज के लिए अधिकतम उपयोग कैसे करें ।[1]

समाजवादी तत्त्व

हॉगसकिन मे व्यक्तिवाद और अराजकतावाद दोनों का ही सम्मिश्रण है । अब हमें उसके चिन्तन के उन तत्त्वों का अध्ययन करना है जो उसे मार्क्स का पूर्ववर्ती समाजवादी विचारक बनाते हैं। इस दृष्टि से यही कहा जा सकता हैकि उसने श्रम को सर्वोच्च महत्त्व दिया और उसने इस पर आधारित व्यवस्थित विचारों का सृजन किया । उसके लिए श्रम सब कुछ था और इसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा ।[2] अपनी छोटी पुस्तिका (Labour defended against the claims of Capital) मे उसने उत्पादन के उपकरण के रूप मे पूंजीवाद की समाप्ति की बात कही थी । उसने बताया कि श्रमिक कार्यरत रहता हुआ भी दूसरो पर आश्रित रहता है ।[3] कोई भी पूँजीपति श्रमिक को सुरक्षा नहीं देता और न ही वह उसे सुविधाएँ प्रदान करता है । वह श्रम करता हुआ भी असुरक्षित रहता है । उसे अपने जीवनयापन की वस्तुओं के लिए अपने सहयोगी श्रमिकों की सहायता लेनी पडती है क्योंकि कोई भी पूँजीपति ये चीजें मजदूर के प्रयोगार्थ अपने पास नहीं रखता है ।[4] उसका कथन था कि पूँजी अपने में निष्क्रिय, पतनशील एवं मृतप्राय वस्तु है, केवल श्रम ही इसे गतिमान बनाता है। केवल वर्तमान श्रम ही पूँजीपति को समृद्ध एवं क्रियाशील बनाता है और समाज में सम्मान एवं अधिकार दिलाता है ।[5] संक्षेप में हॉगसकिन ने तीन विशेष बातें कही जो उसे महत्त्वपूर्ण बनाती हैं—प्रथम, उसने श्रमिक द्वारा उत्पादित वस्तु पर उसके अधिकार की बात कही; द्वितीय, उसने सहकारी श्रम पर जोर दिया यद्यपि वह कहीं-कहीं घोर व्यक्तिवादी भी बन जाता था । यह उसके विचार मे असंगति है जिसका यथास्थान पर वर्णन किया जाएगा । उसने बताया कि कोई भी वस्तु व्यक्तिगत श्रम का प्रतिफल नहीं होती और अन्ततोगत्वा यह सहकारी श्रम की ही देन होती है । तृतीय, पूँजीपति और व्यवस्थापक का अन्तर भी उसने स्पष्ट किया । पूँजीपति के रूप मे वे शोषक हैं लेकिन व्यवस्थापक के रूप मे

1. Popular Political Economy, p 235.
2. Ibid, p. 16.
3. Labour defended against the claims of capital, p. 38.
4. Ibid, p 44.
5. Ibid, p. 45.

वे भी श्रमिक हैं तथा उनके हित श्रमिकों के समान ही होते हैं। लेकिन व्यवस्थापक का वेतन पूँजीपति के लाभ में मिल जाता है और चाहे उनको अत्यधिक वेतन मिलता है लेकिन यह उनको उनके श्रम के लिए मिलता है। इस प्रकार उसने पूँजीपति द्वारा किए गए कार्य को भी श्रम की संज्ञा दी और उसे भी श्रमिक कहा। इसे 'व्यवस्था की मजदूरी' कहा जा सकता है। उसने तो यहाँ तक कहा कि केवल पूँजीपति होने के नाते उनका मिलने वाला लाभ कम हो सकता है लेकिन एक कुशल श्रमिक के रूप में उद्योग से प्राप्त होने वाले अधिक लाभ मे उनका हिस्सा होगा।[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

जैसा कि लिखा जा चुका है कि हॉगसकिन के विचारों में व्यक्तिवाद और अराजकतावाद दोनों का सम्मिश्रण है। उपर्युक्त पृष्ठों में उसके चिन्तन में मिलने वाले इन दोनों तत्त्वों का उल्लेख भी किया जा चुका है। लेकिन जिस आधार पर यहाँ उसकी आलोचना करनी है वह कार्ल मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी विचारक के रूप मे उसके विचारों में व्याप्त असंगति से सम्बन्धित है। वह राज्य-विरोधी विचारों में इतना बह गया कि उसने उन्मुक्त व्यापार की जोरदार वकालत करना प्रारम्भ कर दिया। उसने व्यापारियों की प्रशंसा में जो कुछ कहा और उन्हें जो प्रशस्ति-पत्र दिए उसके आधार पर उसे समाजवादी विचारक तक कहने में दिक्कत आ जाती है। वह यह भूल गया कि राज्य द्वारा लगाए गए नियन्त्रण के अभाव में व्यापारी समाज की समस्त आर्थिक शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित कर लेंगे। उसने व्यापारियों को प्रतिभावान बताते हुए उसके पक्ष में यहाँ तक कह दिया कि ये अपने और समाज दोनों ही के हित में कार्य करते हैं। उसने तो अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ तक कह दिया कि इन लोगो ने ईश्वर प्रदत्त शक्ति और समय का सदुपयोग किया है। यह सत्य है कि हॉगसकिन का राज्य विरोध उसे घोर व्यक्तिवादी बना देता है और व्यक्तिवाद का समाजवाद से मेल नहीं होता। उसने मनुष्य को केवल अपने लिए कार्य करने के लिए भी प्रेरित किया क्योंकि प्रकृति ने दूसरे व्यक्ति को अपने हित में कार्य करने के लिए सक्षम बनाया है।[2] निःसन्देह, इन विचारों को समाजवादी ढाँचे में रखना असम्भव है। लेकिन उसके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है।

हॉगसकिन को जिन कारणों से समाजवादी विचारकों की पंक्ति में रखा गया है उसका भी उल्लेख इन पृष्ठो मे किया जा चुका है। उसके Labour defended against the claims of capital मे वर्णित विचार उसे मार्क्स के महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती समाजवादी विचारो मे ला देते है। उदाहरणार्थ, उसका अग्रलिखित वाक्य किसी

1. Labour defended against the claims of capital, p. 90.
2. Travels in the North of Germany, vol. 2, p, 86.

भी क्रान्तिकारी समाजवादी के मुँह से शोभा दे सकता है। उसने कहा कि जबतक श्रम की विजय पूर्ण नहीं होती, जबतक उत्पादन उद्योग समृद्ध नहीं होता, जब तक केवल आलसी ही दीन नहीं होता, जब तक कि यह प्रशंसनीय सिद्धान्त, कि 'वह जो बोएगा वही उसका उपभोग करेगा' स्थापित नहीं होता, जब तक कि सम्पत्ति का अधिकार दासता पर न होकर न्याय के सिद्धान्त पर आधारित नहीं होता, जबतक कि मानव जिस धरती पर चले उस पर सम्मानित नहीं होता, तब तक इस संसार में न शान्ति और प्रेम हो सकता है और न यह होना ही चाहिए।[1]

1. Labour defended against the claims of capital, pp. 104-105.

3 वैज्ञानिक समाजवाद : मार्क्स और एंजिल्स

(Scientific Socialism : Marx and Engels)

"दार्शनिकों ने विश्व की व्याख्या की है लेकिन जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इसे बदल दिया जाए।"[1] यह आत्म-विश्वास से ओतप्रोत वाक्य कार्ल मार्क्स का है। मार्क्स विश्व के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक दार्शनिकों में से एक है जिसके विचार केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही नहीं रहे बल्कि जिन्होंने आज आधी दुनियाँ के स्वरूप को ही बदल दिया। शेष आधी दुनियाँ में भी मार्क्स के विचारों ने हलचल मचा दी है। मार्क्स पहला विचारक है जिसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का जनक कहा जा सकता है। मार्क्स के सभी पूर्ववर्ती विचारक जैसे टामस मूर, सेन्ट साइमेन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन, लुई ब्ला, प्रोदां, केबे आदि ने समाजवादी चिन्तन की पृष्ठभूमि अवश्य तैयार की लेकिन इनमें से अधिकांश स्वप्नलोकीय थे जो समाजवाद के विचार को पद्धतिपूर्ण एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाए। यही कारण है कि आधुनिक समय में जब भी समाजवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है, मार्क्स का नाम अनिवार्यतः उसके साथ जुड जाता है। मार्क्स का इतना प्रचण्ड प्रभाव रहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाजवाद और मार्क्स एकाकार हो गए हैं। इस कारण सर्वप्रथम मार्क्स और उसके योगदान के सम्बन्ध में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की धारणाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

"मार्क्स ने श्रमिकों की चिन्ताओं को आशाओं में परिणत कर दिया। उसने उनके राजनीतिक क्रिया-कलापों को नूतन समाज की आधारशिला बना दिया। उसका उद्देश्य श्रमिकों के कन्धों से उस बोझ को हटा देना था जिसके नीचे वे दबे जा रहे थे। वह कई बार गलत भी होता था, मुश्किल से ही वह दयावान रहता था, वह सदा कटु बना रहता था, लेकिन फिर भी मानव की मुक्ति में उसकी एक जबर्दस्त भूमिका थी, बहुत कम लोगों को मार्क्स के बराबर सम्मान मिला है और शायद किसी को भी इतनी ख्याति प्राप्त नहीं हुई।"[2] —लास्की

"मार्क्स और एंजिल्स दोनों को समाजवादी चिन्तन को एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने अनगिनत व्यक्तियों के मस्तिष्कों पर अपने व्यक्तित्व

1. *Quoted in C.L. Wayper*, Political Thought, p. 194.
2. हेराल्ड जे. लास्की, कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 46.

की छाप छोड़ दी है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन की स्थापना की जो पिछले पचास वर्षों मे इतना व्यापक बन गया।"[1] —बर्टेन्ड रसल

"कार्ल मार्क्स और फेड्रिक एंजिल्स ने जिस वैज्ञानिक समाज का वर्णन किया उसने सारे यूरोपीय इतिहास के विकास क्रम को प्रभावित कर दिया।"[2] —स्पार

"मार्क्सवाद अब भी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ का विवादग्रस्त विषय बना हुआ है जिनमे प्रत्येक एक दूसरे पर मार्क्स के विचारो से पृथक जाने का आरोप लगाता है।"[3] —मोरिस हिल

'मार्क्स का सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक कार्यक्रम कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के चन्द पृष्ठो मे वर्णित है।'[4] —कोकर

"जिस प्रकार डार्विन ने सावयव प्रकृति के विकास का कानून खोजा, एंजिल्स के शब्दो मे 'मार्क्स ने मानव इतिहास के विकासवादी' कानून को ढूँढ लिया।'[5] —लेडलर

कार्ल मार्क्स का जन्म सन् 1818 मे जर्मनी में एक मध्यम श्रेणी के यहूदी परिवार मे हुआ था। मार्क्स के बाल्यकाल में ही उसके पिता ने इसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था जिसका मूल कारण तत्कालीन जर्मन समाज में यहूदियों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार से बचना था। बालक मार्क्स के मानस को इससे आघात पहुँचा और उसे धर्म अव्यावहारिक एवं व्यर्थ का झंझट लगा। आगे चलकर उसने धर्म को अफीम कहा है। वह एक अत्यन्त मेधावी छात्र था एवं इसका परिचय उसने बोन एव बर्लिन विश्वविद्यालय मे दिया। 1838 मे उसके पिता का देहान्त हो गया और उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिल गई जिसके परिणामस्वरूप मार्क्स को यथेष्ठ आर्थिक सहायता की आशा न रही। 1841 में उसे पी-एच. डी. की डिग्री मिली। उसने जेना विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक बनने का असफल प्रयास भी किया। इस असफलता का मार्क्स के दिल पर गहरा असर पडा। इसके उपरांत उसने एक पत्रकार और लेखक बनने का फैसला किया। जिन कार्यों ने मार्क्स को अमरता प्रदान की वे महत्त्वपूर्ण कृतियां अब प्रारम्भ होने को थी। उसके जीवन के इस ऐतिहासिक भाग का वर्णन करने से पूर्व उसके जीवन की एक दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन करना असंगत न होगा। यह घटना उसके प्रेमालाप एवं इसकी विवाह मे परिणति मे सम्बन्धित थी। सत्रह वर्ष की आयु में ही मार्क्स एक संभ्रान्त कुल की सुन्दरी जेनी से प्रेम करने लगा था। जेनी के माता-पिता इस प्रेमालाप को अनुचित समझते थे। लेकिन मार्क्स ने जेनी से विवाह करने का निश्चय

1. Roads to Freedom (Kitabistan, 1946), p. 23.
2 Readings in Recent Political Philosophy, p 333.
3 From Marx to Lenin (1921). p 6
4. Recent Political Thought (1957), p. 53.
5 A History of Socialist Thought, p. 196.

कर लिया था। करीब 7 वर्ष तक मार्क्स और जेनी ने अपने-अपने भाव-जगत में उठने वाले तूफान को रोके रखा। अन्त मे विजयश्री इन्ही को प्राप्त हुई और वे दोनों दाम्पत्य सूत्र मे आबद्ध हो गए। मार्क्स को बाह्य जगत के अनेक झंझावतों से संघर्ष करना पड़ा, लेकिन अपने भावनात्मक जगत मे वह बडा ही सुखी एव संतुष्ट व्यक्ति था। वह जीवन भर पारिवारिक जीवन की वाटिका मे आनन्द की बशी बजाता रहा। लेखकों का मत है कि मार्क्स के साहित्यिक एव राजनीतिक जीवन की सफलता में उसके सुखद परिवार का भी योगदान है।

अब उसके जीवन का वह भाग प्रारम्भ हुआ जिसने उसको विश्व के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक दार्शनिकों की पंक्ति मे ला दिया।[1] जैसा कि कहा जा चुका है जेना विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद न मिलने पर मार्क्स ने पत्रकार बनने का निश्चय किया था। उसने रेनिश टाइम्स (Rhenish Times) का सम्पादन किया लेकिन शीघ्र ही उसे इस पत्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पडा। उसने फ्रांस और जर्मनी के अनेक नगरो में पत्रकारिता का कार्य किया लेकिन वह किसी एक स्थान पर टिक नहीं पाता था क्योंकि सरकारी नीति की तीव्र आलोचना करने के कारण उसे उस देश से निर्वासित कर दिया जाता था। अपने प्रवासकाल में मार्क्स अपने समय के प्रसिद्ध विचारकों के सम्पर्क मे भी आया जिनमे फ्रेड्रिक एंजिल्स (Fredrick Engels) भी था। एंजिल्स के साथ मैत्री सभी दृष्टियों से मार्क्स के लिए हितकारी सिद्ध हुई। ऐंजिल्स एक धनी व्यक्ति होने के साथ ही साथ एक उच्च कोटि का बुद्धिजीवी भी था। उसने न केवल मार्क्स को आर्थिक सहायता ही दी बल्कि उसकी अनेक कृतियों के निर्माण मे भी सहयोग दिया। मार्क्स ने उसके योगदान को स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी सिद्धान्त को 'हमारा सिद्धान्त' कहा है। लेकिन इतिहास ने एंजिल्स के साथ न्याय नहीं किया। उसे निःसन्देह ख्याति और मान्यता मिली है तथा उसका नाम साम्यवादी चिन्तन के साथ जुड़ गया है लेकिन यह भी सच है कि उसको वह यश नहीं प्राप्त हुआ जिसको कि उसने मार्क्स की भाँति अर्जित किया था। अन्य उसके समकालीन प्रसिद्ध व्यक्ति जिनके सम्पर्क में मार्क्स आया उनमे केबेट (Cabet), प्रोधां (Proudhan) एव बैकुनिन (Bakunin) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मार्क्स ने 1848 में अपनी प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति 'दि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' की एंजिल्स के सहयोग से रचना की। इसके प्रकाशन से यूरोप मे तहलका मच गया। यहाँ से मार्क्स का क्रियाशील एव नियमित साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया और फिर एक के बाद दूसरे ग्रंथों की धड़ाधड़ रचना होने लगी। लेकिन यह सब उसके लन्दन प्रस्थान के बाद ही संभव हुआ। यह ऐतिहासिक घटना 1849 की है। लन्दन का वातावरण उसे मोहक

1. "...Marx must be regarded as one of the most important, most influential, political philosophers who have ever lived".
—*C. L. Wayper*, Political Thought, op. cit

लगा। उसने अपने जीवन के शेष 34 वर्ष यहाँ व्यतीत किए। उसके इस जीवन-काल पर प्रकाश डालते हुए कोकर ने लिखा है कि 'उसका जीवन, अधिकांशतः एक शान्तिप्रिय विद्वान के समान व्यतीत हुआ तथापि सन् 1864 में जो प्रथम समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ उसकी प्रमुख प्रेरणा मार्क्स से मिली और उस समय से समाजवादी आन्दोलन का वही प्रमुख नेता बना रहा। लन्दन स्थित एकांत निवास-स्थान से उसने अपने शेष जीवन में सैद्धान्तिक लेखन, व्यावहारिक मार्ग दर्शन, सभा-सम्मेलनों एव पत्र व्यवहार द्वारा पश्चिमी यूरोप में समाजवादी आन्दोलन तथा विचारधारा के अपूर्व नेता के रूप में, अपनी स्थिति बनाए रखी।'[1] सन् 1883 में उसका देहावसान हो गया।

मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. The Poverty of Philosophy (1847).
2. The Communist Manifesto (1848) (in collaboration with *Engels*)
3. The Critique of Political Economy (1859).
4. Value, Price and Profit (1865).
5. Capital (Das Capital), 1867.
6. Civil War in France (1870-71)

मार्क्स के दर्शन का स्रोत एवं उसकी प्रकृति
(Sources of Marxian Philosophy and its Nature)

मार्क्स के दर्शन के अनेक स्रोत हैं। ग्रे ने कहा है कि उसने कई स्थानों से ईंटें एकत्रित कर अपने ढंग का भवन निर्मित किया था।[2] यह कथन ठोस है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके भवन की सारी ईंटें बाहर की हैं।

मार्क्स ने अपने विचार को पुष्ट बनाने के लिए एक विद्वान की भाँति इतिहास से तथ्य लिए हैं। अनेक विचारकों से सामग्री ली है लेकिन जो भवन उसने खडा किया है वह उसका अपना स्वयं का है एवं इसका आधार वैज्ञानिक है। यही कारण है कि वह उसके पूर्ववर्ती स्वप्न लोकीय समाजवादी विचारकों से सर्वथा भिन्न है। उसने उनका खण्डन करके एक वैज्ञानिक धरातल पर समाजवाद का भवन खडा किया है जिसके कारण वह वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कहलाता है। मार्क्स के चिन्तन के चार विशिष्ट तत्त्व हैं वे हैं—(1) इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था (Materialistic Interpretation of History), (2) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class War), (3) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) एवं (4) राज्य को एक वर्ग के रूप मे परिभाषित कर (State as a class) अन्ततोगत्वा उसके मुर्झा जाने की बात कहना (Withering away of the State)। मार्क्स कोरा सैद्धान्तिक विचारक ही न था उसने इसको क्रियान्वित करने के लिए श्रमिक वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया।

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 41.
2. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, 1963, p. 299.

मार्क्स को जर्मन आदर्शवादी विचारकों, ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्रियों एव फ्रांस के क्रांतिकारियो ने प्रभावित किया था। जर्मन आदर्शवादियो मे हीगल (Hegel) और फ्यूग्ररबेक (Fuerback) से मार्क्स ने ग्रहण किया है। हीगल से उसने यह सीखा कि इतिहास का निरन्तर और तर्क युक्त विकास हो रहा है। हीगल के इस अध्ययन से मार्क्स सहमत था कि विकास विभिन्नता और संघर्ष से होता है। मार्क्स ने इस द्वन्द्ववादी पद्धति (Dialectical Method) को तो स्वीकार कर लिया, लेकिन दोनो के निर्वचन मे महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हीगल ने इतिहास का आदर्शात्मक एवं विचारात्मक निर्वचन किया है जबकि मार्क्स इतिहास का निर्वचन भौतिक अथवा आर्थिक शक्तियों के द्वारा मानता है। यद्यपि मार्क्स ने हीगल से द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार ग्रहण किया है, लेकिन मार्क्स की पद्धति हीगल से भिन्न ही नही बल्कि उसके विपरीत भी है। इस विषय पर अधिक विस्तार से यथास्थान पर लिखा जाएगा। मार्क्स ने हीगल और फ्यूग्ररबेक के अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्रियों से भी प्रेरणा ली है जिनमें एड्मस्मिथ, रिकार्डो एवं विलियम थॉमसन का विशेष तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। इन लोगों से मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ग्रहण किया। यद्यपि इन अर्थशास्त्रियों ने इन सिद्धान्तों का पूँजीपतियो के हित मे प्रयोग किया लेकिन मार्क्स ने इनका उपयोग सर्वहारा वर्ग के हित में किया।

अब तक जिनका उल्लेख किया गया है ये व्यक्ति है, लेकिन मार्क्स पर कुछ आन्दोलनों का भी प्रभाव पड़ा है जिनका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। मार्क्स पर फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव पड़ा है जिससे उसने अपने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त और क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को विकसित किया है। एक अन्य आन्दोलन से वह प्रभावित हुआ है और वह औद्योगिक क्रान्ति है। मार्क्स को औद्योगिक क्रान्ति का शिशु कहा जाता है। मार्क्स एक दूरदर्शी सामाजिक वैज्ञानिक था जो औद्योगिक क्रान्ति के परिणामों से चिंतित हो उठा था। उसके जीवन काल मे विज्ञान निर्बाध गति से आगे बढ़ रहा था जिसका लाभ चन्द लोगों को प्राप्त होने लगा था। मार्क्स यह जानता था कि विज्ञान का चरमोत्कर्ष केवल चन्द लोगों के हित मे ही होगा और जिसके परिणामस्वरूप समाज मे अधिक विघटन की प्रक्रिया हो जाएगी। मार्क्स मानववादी था और आगामी समाज में होने वाली निष्ठुर प्रतिस्पर्द्धा और प्राणघातक संघर्ष से व्यथित होकर इस समाज को बदलने की सोचने लगा।

प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी

मार्क्स को प्रथम समाजवादी कहा गया है जिसने इसे वैज्ञानिक धरातल प्रदान किया। मार्क्स ने जो कुछ लिखा और प्रतिपादित किया उसके पीछे उसने तर्क और वैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया है। उसकी विचारधारा के निम्नलिखित मुख्य आधारस्तम्भ हैं :—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद,

(2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या,

(3) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त,
(4) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त,
(5) मजदूरों की तानाशाही, एवं
(6) वर्ग विहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना।

कुछ लेखकों ने यद्यपि मार्क्स की विशेषता मौलिकता न मानकर उसके विचारों की समन्वित क्रम बद्धता कही है, लेकिन यह कथन पूर्णतः सत्य नही है। मार्क्स एक मौलिक विचारक था जिसने चिंतन को यथार्थ के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। राजनीतिक चिंतन के सम्पूर्ण इतिहास मे केवल दो ही नाम ऐसे हैं जो चिंतन को वैज्ञानिक कसौटी पर कसते हैं। इनमे एक अरस्तु है और दूसरा मार्क्स। दर्शन के क्षेत्र मे मार्क्स प्रत्यक्षवादी न होकर भौतिकवादी है। समाजवादी चिन्तन का वास्तविक इतिहास तो मार्क्स से ही प्रारम्भ होता है जिसने इसे मखौल की स्थिति से ऊपर उठाकर गम्भीर चिंतन का विषय बना दिया। उसने केवल वैज्ञानिक समाजवाद का दर्शन ही नही दिया बल्कि व्यावहारिक जगत मे इसकी क्रियान्विति का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया। यही कारण है कि उसने, प्रोफेसर लास्की के अनुसार 'समाजवाद को एक कोलाहल के रूप मे पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा।'[1,2] उपरोक्त छः सिद्धान्तो के कारण मार्क्स विश्व के अब तक हुए सर्वाधिक मौलिक विचारको मे से एक है। अब हम मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित इन छः सिद्धान्तो का अध्ययन करते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

डायलेक्टिक (Dialectic) यूनानी शब्द डाइलेगो (Dialego) से बना है जिसका अर्थ है विचार विमर्श करना। इसके अनुसार वाद-विवाद के आधार पर सत्य की खोज निकालने का प्रयत्न किया जाना था। इस पद्धति का आशय वाद-विवाद के माध्यम से दूसरे के तर्क मे मे विरोधी तत्त्व निकालना और इस आधार पर सही उत्तर खोजना था। कालान्तर मे इस शब्द का अर्थ संघर्ष से लिया जाने लगा। हीगल ने इतिहास के अध्ययन मे इस द्वद्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया है। मार्क्स ने भी इतिहास के अध्ययन के लिए इस पद्धति को स्वीकार किया है। हीगल के अनुसार विकास का प्रथम तत्त्व वाद (Thesis) है। इस वाद का एक दूसरा पक्ष .नका विपरीत पक्ष भी है जिससे एक विरोधी तत्त्व पैदा होता है जिसे प्रतिवाद (Anti-thesis) कहते हैं। इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी वस्तु पैदा होती है जो सम्वाद (Synthesis) कहलाती है। हीगल और मार्क्स दोनो ही विकास की इस प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि यह सदैव सक्रिय रहती है। इन दोनो में विकास की प्रक्रिया को लेकर जो समानता नजर आती है वह केवल ऊपरी है। यथार्थ मे ये दोनो पद्धतियाँ केवल भिन्न

1 Marx found socialism a chaos and left it a movement
2. *Laski.*

ही नही हैं बल्कि एक दूसरे के विपरीत भी हैं। अपनी पद्धति की हीगल से तुलना करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि 'मेरी द्वद्वात्मक पद्धति, हीगल की पद्धति से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि विपरीत भी है।' हीगल के लिए विचार की प्रक्रिया, जिसे वह विश्वात्मा के नाम से एक स्वतन्त्र विषय के रूप मे परिवर्तित कर देता है वास्तविक संसार की उत्पत्ति का कारण है तथा वास्तविक संसार इस विश्वात्मा का बाह्य प्रासंगिक स्वरूप मात्र है, इसके विरुद्ध मेरे लिए विश्वात्मा अथवा विचार मानव मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिंबित विचार के रूप मे भौतिक संसार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

हीगल बुद्धिवादी था और उसने समाज को गतिमय मानते हुए विश्वात्मा या सूक्ष्मतम आत्मतत्व को उसका नियामक बताया। वह यह मानता था कि इस संसार के स्थूल पदार्थों का ज्ञान उस प्रच्छन्न आत्मशक्ति द्वारा ही सम्भव है। मार्क्स, हीगल के द्वद्वावाद से प्रभावित अवश्य हुआ, लेकिन उसकी मान्यता थी कि विश्व एक भौतिक जगत है। इसमे वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरे से पृथक न होकर पूर्णतया सम्बद्ध रहती हैं। उसका कहना है कि चूंकि भौतिक जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है इसलिए सामाजिक जीवन मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस परिवर्तन क्रम में एक अवस्था ऐसी आती है जबकि परिमाणगत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन एकाएक हो जाता है। भौतिक जगत से इस सम्बन्ध मे उदाहरण दिए जा सकते हैं जैसे जब पानी गरम हो जाता है तो उसमें गुणगत परिवर्तन मालूम नही देता लेकिन जब वह 100° से० ग्रेड तापक्रम पर उबलने लगता है तो एकाएक वह भाप बनना शुरू होता है। लोहे को दिया जाने वाला तापमान एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाता है तो वह लोहा एक ठोस तत्त्व न रहकर तरल पदार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार किसी वाद्य के तार को कम या अधिक खीच दिए जाने पर सगीत के स्वर मे भी गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। यह गुणगत परिवर्तन हुआ। भौतिक जगत की यह बात सामाजिक जीवन पर भी लागू होती है क्योकि जैसा कि कहा जा चुका है कि भौतिक जगत में होने वाला परिवर्तन सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करता है। सामाजिक जीवन मे पर्याप्त लम्बे समय तक परिवर्तन धीरे धीरे चलता है, परन्तु फिर उसमे एकाएक गुणगत परिवर्तन उपस्थित होता है। इसी को मार्क्स परिमाणगत परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन (From quantitative to qualitative change) कहता है। पर ऐसा परिवर्तन क्यों होता है ? मार्क्स के अनुसार इस परिवर्तन क्रम में आर्थिक तत्त्व प्रधान है और न कोई विचार तत्त्व जैसा कि हीगल ने कहा है। मार्क्स सामन्तवादी समाज के बाद आने वाली सामाजिक अवस्था को समाजवाद कहता है। इस प्रकार वह इन तीन अवस्थाओ, सामन्तवाद, पूँजीवाद, और समाजवाद को वाद, प्रतिवाद और संवाद रूप मे द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित करता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया है कि किस प्रकार मार्क्स ने हीगल से द्वन्द्वात्मक पद्धति ग्रहण की, लेकिन उसमे उसने इतना मौलिक परिवर्तन कर दिया कि

यह इसके विपरीत बन गई। यही कारण है कि सेबाइन ने अपनी पुस्तक राजनीतिक दर्शन के इतिहास में लिखा है कि 'हीगल के विचारों में द्वंद्वात्मक चिंतन शीर्षासन कर रहा था, मार्क्स ने आदर्शवादी भ्रांतियाँ दूर कर उसे प्राकृतिक स्थिति में पैरों के बल पर खड़ा कर दिया'। मार्क्स और हीगल में कितनी समानता और कितनी विभिन्नता है इसको स्पष्ट करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से हीगल के दर्शन से मिलता था। मार्क्स ने हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति को कायम रखा और उसकी आर्थिक नियतिवाद (Economic determinism) के रूप में व्याख्या की। विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं। हीगल के चिंतन में यह धारणा जरा बिखरे हुए रूप में मिलती है। मार्क्स ने इस धारणा को क्रमबद्ध किया और उसे आधुनिक चिंतन में प्रतिष्ठित स्थान दिया। हीगल के दर्शन के उदारतावाद विरोधी तत्व मार्क्स के उग्रवाद में समाविष्ट हो गए।

लेनिन के शब्दों में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विकासवाद का एक सिद्धान्त है। अन्य कई लोगों ने इसे गति सम्बन्धी सिद्धान्त भी कहा है। मार्क्सवादियों के अनुसार द्वंद्वात्मक संसार की प्रकृति ही द्वंद्वात्मक है। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक आशावादी सिद्धान्त है जो मानव के उत्तरोत्तर विकास में विश्वास रखता है।

यद्यपि मार्क्स ने भौतिकवाद शब्द की व्याख्या नहीं की। लेकिन फिर भी उसने जिस तरीके से इसका उपयोग किया है उससे इसका आशय स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स की मान्यता है कि समाज के इतिहास में वास्तविक प्रेरक शक्तियाँ उसकी भौतिक अवस्थाएँ होती हैं। द्वितीय, मार्क्स का भौतिकवाद धर्म को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार केवल द्वंद्वात्मक पद्धति ही अन्तिम सत्य को उद्घोषित करती है जबकि धर्म काल्पनिक मनगढ़ंत आनन्द देता है। जैसाकि सेबाइन[1] ने कहा है कि मार्क्स व मार्क्सवादियों के लिए भौतिकवाद धर्म विरोधी धर्म निरपेक्षवाद है जो किसी भी सामाजिक सुधार की पूर्वस्थिति है।[2] तृतीय, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सामाजिक क्रान्ति का सबसे प्रभावशाली प्रकार है जो एक नूतन और श्रेष्ठ समाज का निर्माण करेगी। मार्क्स का कथन है कि इसके पूर्व हुई क्रान्तियों में सत्ता एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथों में गई थी लेकिन यह क्रान्ति उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण कर मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण समाप्त कर देगी। इस प्रकार वर्ग विहीन समाज सामाजिक विकास का अन्तिम चरण है।

अन्त में मार्क्स के ही शब्दों में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है। उसके अनुसार "मनुष्य सामाजिक उत्पादन का जो कार्य करते हैं उसके अनुसार वे निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लेते हैं। इन सम्बन्धों के बिना काम नहीं चल सकता अत: वे अपरिहार्य होते हैं, मनुष्यों की इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं।

1. जार्ज एच॰ सेबाइन : राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ॰ 703.
2. *Sabine, George H* : History of Political Philosophy, op cit, p. 764.

उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन के भौतिक तत्वों के विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हुआ करते हैं। *उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज का* आर्थिक ढांचा बनता है। वही ढांचा असली नीव होता है जिस पर वैधिक और राजनीतिक अवस्थाओं का निर्माण होता है और इसी ढांचे के अनुरूप मनुष्य की सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन मे उत्पादन की जो पद्धति होती है उसी से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक एव आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्य का जीवन उनकी चेतना से निर्धारित नही होता है बल्कि उनके सामाजिक जीवन से उनकी चेतना बनती है। समाज के विकास मे ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि उत्पादन के भौतिक तत्वों और विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों के बीच सघर्ष उठ खड़ा होता है। दूसरे शब्दो मे, यह सम्बन्ध उत्पादन के तत्वो के विकास में बाधा डालने लगते हैं तब सामाजिक क्रान्ति का युग प्रारम्भ होता है। इस प्रकार आर्थिक नियम के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है। इस परिवर्तन पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की परिशुद्धता के साथ निर्धारित हो सकता है और वैधिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्य सम्बन्धी तथा दार्शनिक, संक्षेप मे, वैचारिक रूपों, जिनमें आदमी संघर्ष को समझने लगता है और उनसे जूझता है, के परिवर्तन के बीच सदैव भेद रखना चाहिए "किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नही होती जब तक कि पुराने समाज की कोख मे ही उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नही हो जाती। इसलिए मनुष्य जाति उन्ही समस्याओ को अपने हाथों मे लेती है जिन्हे वह हल कर सकती है बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि जबकि *उसको हल करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा* कम उत्पन्न होने लगती हैं।" मार्क्स के उपर्युक्त महत्वपूर्ण कथन से सेबाइन ने चार मुख्य बातें निकाली हैं—

(1) प्रथम, यह विभिन्न अवस्थाओं का अनुक्रम है जिनमें से प्रत्येक अवस्था मे वस्तुओ के उत्पादन एव विनिमय की एक विशिष्ट अवस्था हुआ करती है। उत्पादन शक्तियों की यह व्यवस्था, अपने विशिष्ट एव उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा मे विधि और राजनीति तो शामिल हैं ही, *सभ्यता के तथाकथित आध्यात्मिक तत्व भी शामिल हैं जैसे कि आचार, धन, कला* और दर्शन। एक आदर्श प्रतिमान के रूप मे प्रत्येक अवस्था पूर्ण व व्यवस्थित होती है। वह एक समन्वित इकाई होती है जिसमें वैचारिकता उत्पादन की शक्तियों के साथ घुलमिल जाती है। वास्तविक व्यवहार में उदाहरण के लिए कैपिटल के विवरणात्मक व ऐतिहासिक अध्यायो मे अपने सिद्धान्त की तार्किक कठोरता को कम कर दिया है, उत्पादन की शक्तियाँ एक ही समय मे विभिन्न देशो में विभिन्न रीति से कार्य करती हैं। उनमें पुरानी एवं नई व्यवस्था के स्मारक के अंकुर होते हैं। फलतः *एक ही जनसंख्या के विभिन्न स्तरों की विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं।*

(2) सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है। उत्पादन की नई विकासशील प्रक्रिया तथा पुरानी प्रक्रिया के बीच जो आन्तरिक संघर्ष होता है,वही उसकी प्रेरक शक्ति होती है। उत्पादन की नई पद्धति अपने को एक विरोधी वैचारिक वातावरण में पाती है। नई उत्पादन पद्धति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी पद्धति नष्ट हो जाए। पुरानी पद्धति की विचारधारा नई पद्धति का अधिकाधिक बहिष्कार करती है। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खिंचाव व तनाव यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि वे टूटने लगते हैं। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही एक नया सामाजिक वर्ग पैदा हो जाता है। उसकी सामाजिक परिस्थिति के अनुसार नई विचारधारा होती है। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा से संघर्ष होता है। विकास का सामान्य क्रम यही रहता है। उत्पादन की नई व्यवस्था के अनुरूप ही नई विचारधारा बनती है। उसकी पुरानी विचारधारा से सम्पर्क होता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप अन्य विचारधारा का उदय होता है और यह क्रम चलता रहता है।

(3) उत्पादन की पद्धति वस्तुओं के उत्पादन का और उनका वितरण करने की पद्धति वैचारिक निष्कर्षों की तुलना में सदैव महत्वपूर्ण होती है। भौतिक अथवा आर्थिक शक्तियाँ सदैव वास्तविक होती हैं। इसके विपरीत विचार प्रतीयमान अथवा सगठनापरक होते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं होगा कि वैचारिक सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं होता है अथवा वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नहीं डालते बल्कि इनका पारस्परिक सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है, केवल कार्यकारण सम्बन्ध नहीं। यह भेद वही है जो हीगल की शब्दावली में वास्तविकता अथवा महत्ता की श्रेणियों के बीच होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि मार्क्स वैचारिक तत्त्वों को नहीं, प्रत्युत भौतिक तत्त्वों को सारयुक्त मानता है।

(4) द्वंद्वात्मक प्रक्रिया प्रस्फुटित होने की आन्तरिक प्रक्रिया है। समाज की उत्पादन शक्तियाँ पहले पूरी तरह विकसित हो जाती हैं। इसके बाद ही उनमें द्वंद्वात्मक परिवर्तन होता है। चूँकि विचार सम्बन्धी ऊपरी रचना अंतरंग आध्यात्मिक तत्त्वों के आन्तरिक विकास को ही प्रकट करती है, अतः चेतना के ऊपरी धरातल पर समस्या मालूम पड़ती है। उसकी चेतना की ओर पर्तें खुलने पर सदैव ही समाधान सम्भव है। स्पष्ट है कि इस आध्यात्मिक निष्कर्ष का व्यावहारिक प्रमाण नहीं मिलता।

आलोचना

मार्क्स के सम्पूर्ण दर्शन का मूलाधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को माना जाता है। इतने महत्वपूर्ण सिद्धान्त को भी मार्क्स ने अच्छी तरह नहीं समझाया है। वह यह कहता है कि उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक है, यांत्रिक नहीं। जैसा कि वेपर ने कहा है कि द्वन्द्ववाद की धारणा अत्यन्त गूढ एवं अस्पष्ट है।[1] मार्क्स ने

1. *Wayper*, Op. cit., p. 201.

पदार्थ का विकास अन्दर से बताया है लेकिन उसने स्पष्ट नहीं किया कि यह गतिशील कैसे होता है। मार्क्स की यह मान्यता है कि पदार्थ अपने आंतरिक आवश्यकता के कारण स्वयं विकसित होता है और अपने विरोधों को जन्म देता है। अन्तर्निहित गतिशीलता से पत्थर का परिवर्तन क्यों नहीं होता और जैसा कि केर्यू हंट ने कहा है कि एक क्षण के लिए यदि मान भी लिया जाए कि पदार्थ में परिवर्तन आन्तरिक गतिशीलता के कारण होता है तो यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि यह विकास विरोधी तत्त्वों में संघर्ष के द्वारा होता है।[1] मार्क्स वास्तव में दो विचारों से बंधा हुआ था—एक यह कि उत्पादन की शक्तियाँ स्वतः बढ़ती हैं और दूसरा यह कि मनुष्य का मस्तिष्क उन्हें विकसित करता है। यदि मार्क्स मस्तिष्क और भौतिक *शक्तियों के बीच संबंध निर्धारित करने का प्रयास करता, तो हो सकता है कि उसे* अपने इस सिद्धान्त को ही छोड़ना पड़ता।[2]

द्वन्द्ववाद का प्रयोग तो बहुत ही प्राचीन-काल से चलता आया है। यूनानीकाल एवं सांख्य युग से ही इसका इतिहास माना जाता है। वर्तमान समय मे जर्मन दार्शनिकों ने इस पर अधिक प्रकाश डाला। लेसिंग और हीगल ने बातया है कि संसार की प्रगति सीधी दिशा मे न होकर कभी आगे तो कभी पीछे की ओर होती है तथा प्रगति दो शक्तियों के निरन्तर संघर्ष से होती है लेकिन वे लोग इस बात को नही बता सके कि यह द्वन्द्व क्यो होता है ? मार्क्स ने इस द्वन्द्व का कारण यह बताया कि आर्थिक विषमता के कारण समाज में वर्गों का जन्म होता है और इनके निर्माण से ही संघर्ष आज बढ़ता है। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भिक साम्यवाद मे जब आर्थिक असमानता नहीं थी तो फिर यह संघर्ष क्यों हुआ ? इसका उत्तर मार्क्स ने इस प्रकार दिया कि प्रत्येक शक्ति के अन्दर उसकी विरोधी शक्ति भी विद्यमान रहती है और इसलिए विरोध प्रत्येक वस्तु के अन्दर ही छिपा है। यदि यह बात सही है तो फिर मार्क्स द्वन्द्व का कारण वर्ग और आर्थिक विषमता को मानता है।

द्वन्द्ववाद का प्रयोग भी त्रुटिपूर्ण है। जैसा कि मार्क्स यह मानकर चलता है कि 'वाद,' 'प्रतिवाद' और 'सवाद' इन तीन शक्तियों के विकास क्रम मे 'वाद' और 'प्रतिवाद' का परिणाम न पूर्ण रूप से वाद के पक्ष मे होता है और न ही प्रतिवाद के पक्ष में, बल्कि इससे एक सामान्य समन्वित शक्ति जिसे 'संवाद' कहा जाता है को जन्म मिलता है।

इस 'संवाद' मे 'वाद' और प्रतिवाद' दोनों की अच्छाइयाँ एवं शक्ति निहित होते हैं तथा इसमें दोनों के विरोधी तत्त्व समाप्त होकर विलीन हो जाते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रयोग सामाजिक विकास की प्रक्रिया में किया तथा उसने शोषक और शोषित में सदा शोषित को विजयी घोषित किया। जब समाज के अंतिम संघर्ष

1. *Carew Hunt*, op. cit., p. 33.
2. *Wayper* : op. cit., p. 202.

में पूँजीवादी शक्ति और सर्वहारा वर्ग की शक्ति के बीच संघर्ष चल रहा है तो उसने सर्वहारा वर्ग के विजय की भविष्यवाणी कैसे कर दी ? सर्वहारा वर्ग तो प्रतिवाद है विजय उसकी कैसे हो सकती है ? ऐसा निष्कर्ष द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुकूल नहीं है। अनेक विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है। सेबाइन ने तो यहाँ तक आशंका व्यक्त कर दी है कि "द्वन्द्वात्मक प्रणाली वास्तव में कोई प्रणाली नहीं है। विद्वानों का मत है कि इस प्रणाली को त्याग देने पर समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण अधिक सही और तर्क सगत हो जाता है।" मार्क्स के भौतिकवाद का समाजशास्त्रीय महत्व यह है कि उसके अन्तर्गत द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वन्द्वात्मक नहीं रही बल्कि वह व्यावहारिक और हेतुपरक हो गई। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः मार्क्स की रुचि द्वन्द्ववाद की विचार प्रणाली को अधिक सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के स्थान पर इसे समाज की परिस्थितियों में लागू करने की थी।

द्वन्द्ववाद मानव इतिहास के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है लेकिन यह कैसे मान लिया जाए कि यही एकमात्र रास्ता है। जैसा कि केर्यू हंट ने कहा है कि द्वन्दवाद यद्यपि हमें मानव इतिहास के विकास मे मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है लेकिन मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसधान करने के लिए यही एकमात्र पद्धति है।[1]

विश्व के विकास मे भौतिक तत्त्वों की प्रधानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता लेकिन इन्हें इसका अंतिम निर्णायक भी तो नहीं माना जा सकता। द्वन्द्ववाद के साथ केवल भौतिकवाद पर ही जोर देना सारी प्रक्रिया को सही प्रकार से समझना नहीं है। आज तक द्वन्द्ववाद को लेकर जो शोध हुए हैं उसमें पदार्थ को अवश्य माना है लेकिन उसके साथ आत्मिक तत्व, मानसिक तत्त्व और प्राणिक तत्व (Spirit, mind and life) को भी जोड़ा जाना चाहिए। मनुष्य में केवल भौतिक तत्त्व को स्वीकार कर उसे पशु के स्तर पर रख देना है। 'आर्थिक व्यवस्थाओं को खासकर भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के तरीकों को, सामाजिक, राजनीतिक, भौतिक, नैतिक, और धार्मिक विचारों का आधार बना देना और सारी संस्कृति को उसकी ऊपरी ढाचा मात्र मानना, हमारे आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में बिलकुल मनमाना, अमनोवैज्ञानिक और अवैज्ञानिक प्रतीत होता है।'[2]

वैसे मार्क्स का दर्शन विकासवादी है लेकिन साम्यवादी समाज की स्थापना के उपरान्त उसके विकास का सिद्धान्त क्यों रुका जाता है। वह समाज की चरमोत्पत्ति साम्यवाद में मानता है लेकिन पूर्व व्यवस्थाओं के अन्तर्विरोधों के कारण जैसे उनका पतन हुआ वैसे क्या साम्यवादी व्यवस्था मे अन्तर्विरोध नहीं होंगे। अनन्त विकास में विश्वास रखने वाला मार्क्स साम्यवादी समाज की स्थापना से ही क्यों संतुष्ट हो जाता है ?

1. *Carew Hunt* · Theory and Practice of Communism, p 29
2. जे० बी० कृपलानी · वर्ग सघर्ष, पेज 13

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
(Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स ने ऐतिहासिक परिवर्तनों के पीछे जो नियम बताए हैं उससे इतिहास की भौतिक व्याख्या समझने मे सहायता मिलती है। मार्क्स का विश्वास है कि सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है तथा जो सामाजिक सम्बन्धों की शृंखला आज दिखाई देती है, उसका कारण सामाजिक परिस्थितियाँ ही हैं। भौतिक शब्द पर प्रोफेसर वेपर ने अपनी आपत्ति प्रस्तुत की है। उसका कथन है कि यद्यपि मार्क्स ने इसका (भौतिकवाद शब्द) प्रयोग किया है लेकिन यह उस अर्थ को व्यक्त नही करता जो किया जाना चाहिए। यथार्थ मे यह इतिहास की आर्थिक व्याख्या है जिसके अनुसार इतिहास में होने वाले परिवर्तन आर्थिक कारणों द्वारा निर्धारित होते हैं।[1]

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार होने वाले अनेक परिवर्तनो की भांति मानव इतिहास के कार्यकलाप भी भौतिक कारणो या प्रभावों द्वारा ही निश्चित होते हैं। मार्क्स का कथन है कि इतिहास की घटनाओं को मुख्यतः निर्धारित करने वाला आर्थिक प्रभाव है। इसको अधिक निश्चित रूप से उत्पादन प्रणाली का प्रभाव कहा जा सकता है। मार्क्स के शब्दों मे, 'किसी भी समाज का राजनैतिक और बौद्धिक जीवन भौतिक आवश्यकताओं पर आधारित उत्पादन प्रणाली द्वारा निर्धारित होता है।'[2] इसलिए मार्क्स के इतिहास की व्याख्या को इतिहास की भौतिक या आर्थिक व्याख्या कहा जाता है। इसे इतिहास की उत्पादन प्रणाली द्वारा व्याख्या भी कहा गया है। कहने का अर्थ यही है कि इतिहास में होने वाले परिवर्तनो के पीछे आर्थिक कारण होते हैं। दूसरे शब्दों में, मार्क्स के इस ऐतिहासिक भौतिकवाद को आर्थिक नियतिवाद (Economic determinism) की संज्ञा दी जा सकती है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका निर्माण आर्थिक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। जिस प्रकार बकल (Buckle) मानता था कि मानव इतिहास में जलवायु निर्णायक भूमिका अदा करती है या जैसे फायड (Fraud) मानता था कि महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो के पीछे यौन सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते हैं। ठीक इसी प्रकार मार्क्स की यह मान्यता है कि मानव इतिहास मे होने वाले परिवर्तनों के मूल में समाज मे रहने वाले व्यक्तियो के आर्थिक सम्बन्ध हैं।

कार्ल मार्क्स के लिए मूल वस्तु यह है कि हर समय मनुष्य आजीविका के लिए विशेष वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। भोजन मनुष्य की प्रथम आवश्यकता है और उत्पादन का तरीका उस समय के औजारों पर निर्भर करता है। मार्क्स के शब्दों में, 'यह विशेष प्रकार के औजार तथा उत्पादन का तरीका जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ है। समाज की मूलभूत वस्तु यह भौतिक परिस्थितियाँ ही हैं। इनके

1. *C. L. Wayper*: Political Thought, p. 203.
2. Quoted by *Griffiths* in the 'Changing Face of Communism,' p. 26.

परिवर्तन पर ही सारे परिवर्तन निर्भर करते हैं। ज्यों ज्यों इनमें परिवर्तन आता है त्यों त्यों राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं में भी परिवर्तन आता है। उसका कथन है कि जब इन उत्पादनों के साधनों में अर्थात् भौतिक *परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाता है तो सामाजिक सम्बन्धों में भी स्वतः ही* परिवर्तन आ जाता है। यही भौतिक परिस्थितियाँ समाज की मूलभूत वस्तुएँ हैं जिन पर समाज का मूल ढाँचा टिका हुआ होता है। दूसरे शब्दों में, जैसी यह भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं वैसे ही सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। जैसे सामाजिक सम्बन्ध होते हैं वैसी ही उस समाज की सभ्यता व संस्कृति होती है। चेतना अपने मे कुछ नहीं होती। उसका अस्तित्व तो सामाजिक स्थिति द्वारा निर्धारित होता है और सामाजिक स्थिति भौतिक सम्बन्धो के द्वारा निश्चित होती है। इसे मार्क्स के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया निर्धारित करती है, मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नही करती बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति उनकी चेतना को निर्धारित करती है।'

मार्क्स के मतानुसार उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के विषय से सम्बन्धित कुछ बातें *निम्नलिखित हैं*—

(1) नवीन पीढ़ी को अपने से पूर्व की पीढ़ी के उत्पादन के साधनों को अपनाना ही होता है। नई पीढ़ी उसमें परिवर्तन अवश्य कर सकती है लेकिन पुरानी पीढ़ी के द्वारा अपनाए गए साधनों को पूर्णतः अस्वीकार नहीं कर सकते।

(2) मार्क्स यह मानता है कि विकास उत्तरोत्तर होता जाता है। यह बात वह दार्शनिक स्तर पर भी स्वीकार कर चुका है कि विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ने की होती है।

(3) वह यह भी मानता है कि विकास की प्रक्रिया धीमी होती है। यद्यपि व्यक्ति के अनुभव और उसकी कुशलता से परिवर्तन की गति तेज भी हो सकती है लेकिन पाषाण युग से एकदम वैज्ञानिक युग में नहीं आया जा सकता।

(4) मनुष्य अकेला उत्पादन के साधनों का उपयोग नहीं कर सकता है। वह सामाजिक प्राणी है और इसका अर्थ एक दूसरे पर आश्रितता है। मार्क्स तो यहाँ तक मानता है कि किसी वस्तु को भी स्वतन्त्र नही समझा जा सकता। वस्तुतः उत्पादन की प्रक्रिया मे व्यक्ति को दूसरो पर आश्रित होना ही पड़ता है चाहे कोई इसे पसन्द करे या न करे।

(5) सार रूप में यही कहा जा सकता है कि उत्पादन के साधनों से पारस्परिक निर्भरता तथा पारस्परिक निर्भरता से सामाजिक सम्बन्धो का निर्धारण होता है। इसी आधार पर मार्क्स कहता है कि उत्पादन के साधनों मे परिवर्तन आ जाता है तो उस पर खड़े सामाजिक सम्बन्धों में भी अन्तर आ जाता है। इसको इस

प्रकार भी कहा जा सकता है कि उत्पादन के साधनों के अनुरूप ही सामाजिक संबंध होते हैं। साधनों में परिवर्तन आते ही पुराने सामाजिक सम्बन्ध टूटने लगते हैं और उनको बचाने का प्रयत्न किया जाता है तो क्रान्ति की स्थिति आ जाती है। मार्क्स का स्पष्ट मत है कि भौतिक परिस्थितियों एवं सामाजिक सम्बन्धों में साम्य स्थापित होना अनिवार्य है। मार्क्स के अनुसार भौतिक परिस्थितियाँ ही विचार को जन्म देती हैं और इसलिए परिवर्तन के मूल में भौतिक परिस्थितियाँ ही हैं।

उसके अनुसार इतिहास के सभी बड़े बड़े परिवर्तन उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन के फलस्वरूप ही हुए हैं। उत्पादन प्रणाली ही समाज के संगठन और उसके विभिन्न वर्गों की रूपरेखा निर्धारित करती है। इतना ही नहीं आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुसार लोगों की धार्मिक व्यवस्थाओं के अनुसार लोगों का धार्मिक विश्वास,नैतिक आदर्श, कला और साहित्य भी बदला करते हैं। प्रत्येक कला की सभ्यता और संस्कृति उस काल के प्रबलतर आर्थिक वर्ग के स्वार्थों एवं विचारों की प्रतिबिम्ब होती है।

उत्पादन प्रणाली के प्रत्येक परिवर्तन के साथ अब तक चार परिवर्तन हो चुके हैं और 5वें परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है। इन परिवर्तनों के साथ मे पृथक्-पृथक् युग माने जा सकते हैं। मार्क्स के अनुसार जिन युगों में अब तक का इतिहास विभक्त है वे निम्नलिखित हैं—

(1) आदिम युग
(2) दास प्रथा का युग
(3) सामन्तवादी युग
(4) पूँजीवादी युग
(5) साम्यवादी युग

आदिम युग में मनुष्य अपना जीवन निर्वाह जंगली फलफूल और शिकार द्वारा करता था। उस समय की उत्पादन प्रणाली यही थी। उस युग में वर्ग चेतना नही थी क्योकि वर्गों का निर्माण नही हो पाया था। उत्पादन प्रणाली ऐसी थी जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करने मे असमर्थ था। लोगों में प्रतिस्पर्द्धा भी नही जगी थी क्योकि असमान बनाने वाले साधन भी नहीं थे। मनुष्यों में पारस्परिक आश्रितता विकसित नहीं हो पाई थी। निर्विवाह की प्रथा थी और न किसी प्रकार की असमान व्यवस्था ही विद्यमान थी। सब लोग एक सा भोजन करते थे और सबका जीवन स्तर समान था। इसीलिए मार्क्स ने इसे आदिम साम्यवाद का नाम दिया है।

दूसरा युग दास प्रथा का युग कहा जाता है। इस युग मे प्रवेश करते करते उत्पादन की शक्तियाँ विकसित होने लगी थी। आदिम साम्यवादी प्रथा के पतन का कारण ही नूतन उत्पादन शक्तियों का विकास था। मनुष्य ने अब धातुओं को पहचानना प्रारम्भ कर दिया था। लोहे और तांबे के हथियार बनने लगे थे। मनुष्य

ने खेती करना और पशुपालन भी सीख लिया था। इससे सम्पत्ति का विचार विकसित हुआ। विवाह पद्धति प्रारम्भ होने लगी और समाज मे परिवार की प्रवृत्ति विकसित हुई। सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर समाज मे दो वर्ग बनने लगे। शक्तिशाली व्यक्ति ने सम्पत्ति का अधिग्रहण किया और शक्तिहीन को दास बना लिया गया जो अपने स्वामी के लिए परिश्रम करने लगा। इस प्रकार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आते ही सामाजिक सम्बन्ध भिन्न प्रकार के बनने लगे। संचित सम्पत्ति की रक्षा हेतु इसी युग में राज्य का जन्म हुआ।

धीरे-धीरे दास युग भी समाप्त हुआ। इसका कारण फिर उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन था। अब खेत कृषक के पास न रह कर शक्तिशाली व्यक्तियो द्वारा जब्त कर लिए गए जिन्हें सामन्त कहा गया। धीरे धीरे सामन्तवादी व्यवस्था विकसित हुई जिसमे भूमि का स्वामित्व सामन्तों में निहित हो गया और जमीन को जोतने वाले कृषक उनके अधीन हो गए। कृषक दासों का अपना अधिक समय. सामन्तों की सेवा करने मे व्यतीत होता था। इस युग में कानून व्यक्तिगत था और पादरी वर्ग को बड़ा सम्मान प्राप्त था। धर्म का विकास हो रहा था और सामन्तवादी व्यवस्था को धर्म से बडी सहायता मिली।

19वीं शताब्दी मे कल-कारखानों का विकास हुआ और जिसके फलस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। बड़े बड़े कल-कारखाने बने और उनमे कार्य करने के लिए मजदूरो की आवश्यकता हुई। चूंकि उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आ गया, अतः सामन्तवादी युग स्वतःसमाप्त हुआ और एक नए युग का प्रारम्भ हुआ जिसे पूंजीवादी युग कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो परिवर्तन आया वह था उत्पादन मे लगी मानव और पशु शक्ति के स्थान पर यांत्रिक शक्ति का प्रयोग। इस उत्पादन के साधन महगी मशीन कल-कारखाने थे। सर्व साधारण को यह साधन न तो सुलभ थे और न इनकी प्रतियोगिता मे अपने हस्तकौशल वाले रोजगारो को ही चला सकते थे। इस सबके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधन बड़े बड़े पूंजीपतियो के हाथों में एकत्रित हो गए और शेष जनता को सम्पत्ति विहीन श्रमजीवी बनना पड़ा। मार्क्स ने यही सोचा था कि औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिवर्तन का समाज के संगठन पर जो प्रभाव पड़ेगा उससे केवल दो ही वर्ग पूंजीपति और श्रमिक रह जायगा और मध्यम वर्ग लुप्तप्राय हो जाएगा। यद्यपि मध्यम वर्ग समाप्त तो नहीं हुआ लेकिन समाज में दो निश्चित वर्ग अवश्य बन गए। एक श्रमिक वर्ग और दूसरा पूंजीपति वर्ग। मार्क्स का कथन है कि पूंजीपति वर्ग समाज पर पूर्णतः हावी हो जाएंगे और श्रमिकों के शोषण पर अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता जायगा। पूंजीपतियों के हाथ मे सभी सम्पत्ति और उत्पादन के साधन भूमि-कलकारखाने आदि हैं व श्रमजीवी वर्ग जो उनका निर्माण करता है वह पूर्णतः सम्पत्तिविहीन है। सारे समाज पर पूंजीपतियों का वर्चस्व आच्छादित है क्योंकि मार्क्स की मान्यता है कि जो उत्पादन के साधनों को नियन्त्रित करता है वह राजनीति पर भी हावी रहता है क्योंकि मार्क्स के अनुसार राज्य तो एक प्रभावशाली वर्ग के हाथ मे कठपुतली है।

आलोचना

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त और विशेष तौर पर इतिहास के विकास का काल विभाजन कोई अन्तिम बात नहीं है। इस सिद्धान्त मे व्याप्त भ्रांति की काफी आलोचनाएँ की गई हैं। कार्ल फैड्रिक के मतानुसार, इतिहास एक अनन्त बहने वाली धारा है जिसका न प्रारम्भ है और न अन्त। इसमे कही कोई विराम रेखा नही है और यह निर्धारित करना असमव हो जाता है कि इसकी कौन सी अवस्थाएँ वाद, प्रतिवाद, और सम्वाद हैं। इतिहास विघटन और पतन की कहानी भी है। कैर्यू हंट इतिहास के अध्ययन की द्वद्वात्मक पद्धति को खतरनाक भी मानता है क्योंकि यह कार्यवाही के औचित्य का कोई मापक नही दे पाता।[1]

सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मे व्याप्त आर्थिक तत्त्व की प्रधानता को चुनौती देता है। मार्क्स मानवीय भावनाओ, धर्म, परम्परा, व्यक्तित्व के प्रभाव, राष्ट्रवाद की भावना आदि प्रभावशाली तत्वो की पूर्ण उपेक्षा करता है। रसल ने एक अार्थिक तत्त्व राष्ट्रवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसमे अनेक समाजवादियों को असमंजस में डाल दिया है। यह सही है कि एक राष्ट्र के आर्थिक हित होते हैं जो उसकी राजनीति का निर्धारण करते हैं लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि केवल आर्थिक कारण ही एक राष्ट्र निर्माण के लिए मनुष्यो को प्रेरित करते हैं।[2] रसल के इस कथन मे भी सत्यता है कि मनुष्य अपने गर्व, आत्मसम्मान और इच्छाओ की संतुष्टि के लिए भी शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपने प्रतिद्वन्दियो पर विजय की कामना रखते हैं। रसल का कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो ये कुछ ऐसी धारणाएँ हैं जो विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों को काटती हैं।[3] मार्क्सवादी प्रोफेसर हैराल्ड जे लास्की तक ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित आर्थिक कारणों को एकमात्र कारण मानने से इन्कार किया है। लास्की के अनुसार सत्ता प्रेम, सामुदायिक भाव, ईर्ष्या, प्रदर्शन की इच्छा आदि तत्त्व संग्रह प्रवृत्ति से कम महत्वपूर्ण नही है।[4] आर्थिक निर्णयवाद को एकमात्र निर्धारित तत्त्व न मानते हुए प्रोफेसर सेबाइन ने कहा है कि आर्थिक निर्णयवाद केवल एक तत्त्व है, एकमात्र तत्त्व नही, जो राजनीतिक अध्ययन को यथार्थवादी बनाता है।[5] सच यह है कि सामाजिक सम्बन्ध इतने जटिल हैं कि उनकी इतनी सरल व्याख्या सम्भव नही है। इसलिए हम पापर के शब्दो मे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या चाहे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यो न हो यह बहुत गम्भीरता से

1 *Carew Hunt*, op cit, p. 42
2 *Bertrand Russell* : The Practice and Theory of Bolshevism, P. 82.
3. *Bertrand Russell*, op. cit, p. 84.
4 *Harold J. Laski* : Karl Marx-an essay.
5. *Sabine George H*, op. cit., p 789

नही ली जा सकती । इसके अनुसार यह वस्तुओं को उनकी आर्थिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ मे समझने के मूल्यवान सुझाव से अधिक कुछ भी नही है ।

यह कहा जाता है कि मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या यूरोपीय इतिहास की ही व्याख्या है । मार्क्स ने यूरोपीय इतिहास का अध्ययन कर अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे केवल औद्योगिक युग के इतिहास को आधार बनाया । अफ्रीकी, एशियाई देशों के इतिहास पर उसका ध्यान नही गया जहाँ कि समाज की रचना का आधार यूरोपीय जीवन के आधार से भिन्न रहा है । इन देशों में यद्यपि यह सही है कि शोषण का प्राबल्य रहा है लेकिन फिर भी वहाँ के वर्गों का आधार स्पष्ट और पुष्ट नही हो पाया । इन देशो मे सामाजिक दीवारें केवल आर्थिक कारणो से ही नही बल्कि कुछ सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से भी या श्रम के विभाजन की दृष्टि से भी रही हैं । जातियाँ श्रम विभाजन के अतिरिक्त और कुछ नही है तथा यह विभाजन कभी एक-एक गाँव को आत्म-निर्भर बनाने के लिए किया गया था ।

मार्क्स के कई निष्कर्ष भी गलत साबित हुए हैं । उसने कहा था कि किसान डरपोक प्रकृति के होते हैं, वे सामन्तवाद के सहयोगी रहे हैं और इसलिए क्रान्ति में भाग नही ले सकते, लेकिन यह बात गलत साबित हो गई । चीन मे तो क्रान्ति के अगुआ किसान ही थे । रूस मे भी क्रान्ति के समय औद्योगीकरण नही हुआ था और इसलिए वहाँ की क्रान्ति मे भी श्रमिको के साथ किसानो का ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त
(Theory of Class Struggle)

मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उसके पूर्व वर्णित इतिहास के भौतिकवादी व्याख्या की उपसिद्धि (Corollary) है । साम्यवादी चिंतन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (Communist Manifesto) मे जिसको मार्क्स व एन्जिल्स ने मिलकर लिखा था, यह स्पष्ट लिखा है कि वर्तमान समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । इतिहास के विभिन्न मोड़ो पर केवल दो ही वर्ग रहे है जिनके हित एक दूसरे के विरोध मे हैं । मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था मे ही इसके विनाश के बीज निहित हैं । पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी है कि इसमे आर्थिक साधन थोड़े से लोगों के हाथो मे केन्द्रित होने लगते हैं जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे साधन विहीन लोगों की संख्या बढती जाती है । चूँकि साधन विहीन और श्रमिक वर्ग के लोगों की संख्या बहुत ज्यादा होगी और पूँजीपति वर्ग बहुत छोटा होगा अतः सामाजिक संतुलन बिगड जाएगा और उसके परिणामस्वरूप संघर्ष अनिवार्य हो जाएगा । इस संघर्ष मे पूँजीपति वर्ग का खात्मा हो जाएगा और आने वाला युग साम्यवादी होगा ।

साम्यवादी युग के आने के पूर्व एक संक्रमण काल होगा जो पूँजीवादी युग की समाप्ति से लेकर साम्यवादी युग के सूत्रपात के बीच का काल होगा । इसमें

श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व होगा। इस युग की विशेषताएँ हैं श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व, पूँजीवादी वर्ग का पूर्ण विनाश और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। रूस में यही युग चल रहा है और कुछ सीमा मे चीन के बारे में भी यही कहा जा सकता है। इस युग में राज्य का उपयोग किया जाएगा लेकिन वह श्रमिको के हाथ में होगा। श्रमिक इस राज्य का उपयोग पूँजीवादी व्यवस्था का विघटन करने में करेंगे और जब पूँजीवादी व्यवस्था टूट जाएगी तब राज्य की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी और एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमे न वर्ग होगा और न राज्य ही। यह युग साम्यवादी युग होगा और मार्क्स के अनुसार यह मानव के उच्चतम विकास का प्रतिनिधित्व करेगा। मार्क्स इसे सामाजिक विकास की चरमोन्नति मानता है। समाज दो वर्गों में संगठित है और इनमें किसी न किसी रूप मे संघर्ष बना रहा है। इस संघर्ष का अन्त या तो समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण मे परिवर्तित होगा या आपस मे संघर्षरत वर्गों के खात्मे मे।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार भौतिक परिस्थितियों के कारण प्रत्येक युग मे दो वर्ग बन गए और उनके संघर्ष से एक दूसरे युग का जन्म हुआ। प्रत्येक पुरानी व्यवस्था का विरोध नई व्यवस्था करती है क्योंकि दोनों व्यवस्थाओं के समर्थकों के हित आपस मे टकराते हैं। एक वर्ग पुरानी व्यवस्था को त्यागने को तत्पर नही होता और दूसरा वर्ग नई व्यवस्था को लाना चाहता है। इसी कारण दोनो वर्गों मे संघर्ष होता हैं और नई व्यवस्था के वर्ग समर्थक की विजय होती है जो *क्रान्ति के माध्यम से नवीन व्यवस्था स्थापित कर लेता है। जैसा कि* कहा जा चुका है कि उत्पादन प्रणाली मे होने वाले परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों और व्यवस्थाओं में परिवर्तन उपस्थित करते हैं। मार्क्स के अनुसार यह सब कुछ वर्ग संघर्ष के कारण होता है क्योंकि दोनों वर्गों के हित आपस मे टकराते हैं और उनमें समझौता सम्भव नही हैं। क्रान्ति का उद्देश्य नई भौतिक परिस्थितियों पर स्थापित पुराने सामाजिक सम्बन्धों को समाप्त कर उनके स्थान पर नई भौतिक परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना होता है। क्रान्ति इस व्यवस्था में निहित होती है। उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के तरीकों और उनके वितरण की व्यवस्था, आर्थिक विस्तार और बढ़ती हुई मुसीबतो, पूँजीवादी केन्द्रीकरण और श्रम के संगठित स्वरूप के बीच होने वाले अन्तर्विरोधों के कारण समाज मे एक स्थिति *उत्पन्न हो जाती है जबकि या तो क्रान्ति हो अन्यथा सारा समाज विघटित हो जाता है।*[1]

आचार्य कृपलानी ने मार्क्सवाद में वर्गयुद्ध के सिद्धान्त की मूलभूत मान्यताएं निम्नलिखित बताई हैं—

(1) समाजशास्त्र एवं इतिहास भी भौतिक विज्ञानों की भांति निश्चित विज्ञान है, इनके नियम भी उन्ही की भांति अपरिवर्तनीय हैं।

1. *Ashoka Mehta* : Studies in Socialism, op cit, p. 120.

(2) इतिहास तथा समाज में मूल प्रेरक शक्ति आर्थिक है।

(3) अब तक का मानव इतिहास दो वर्गों के दुर्दान्त संघर्ष का खेल रहा है। ये वर्ग मालिकों एवं गुलामों के, शोषकों व शोषितों के, सहितों व रहितों के रहे हैं। मानव इतिहास की वर्तमान स्थिति में ये दोनों वर्ग पूंजीपतियों एवं मजदूरों के हैं।

(4) पश्चिम के कुछ औद्योगिक देशों मे इन वर्गों का पृथक्करण प्राप्त कर लिया गया है। दूसरे देशों में यह प्रक्रिया शीघ्र ही परिपूर्ण हो जाएगी।

(5) इसका अर्थ यह है कि मजदूर वर्ग की हालत उत्तरोतर बिगड़ती जाएगी, इसका परिणाम वर्गयुद्ध होगा।

(6) इस होने वाले संघर्ष में मजदूर वर्ग की संगठित शक्ति का मुकाबला पूंजीपतियों के धन मे होगा। बदलती हुई हारजीत के बाद विजय मजदूर वर्ग की होगी।

(7) इस हिंसक संघर्ष के दौरान में और इसमे प्राप्त लाभों को पक्का करने तथा वर्गहीन समाज की नयी समाज व्यवस्था की रचना करने के लिए मजदूर वर्ग की तानाशाही कायम करना जरूरी होगा।

(8) वर्गहीन समाज की स्थापना और मजबूती के साथ-साथ न केवल तानाशाही बल्कि उसके साथ राज्य भी मुर्झाता जाएगा।

(9) जिस किसी भी देश मे मजदूर वर्ग की क्रान्ति होगी उस क्रान्ति को अपने क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय होना पड़ेगा। यह इसलिए कि दुनियां भर के पूंजीपतियों के हित समान हैं और दुनिया भर के मजदूरों के भी।[1]

आलोचना

निःसंदेह मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है लेकिन यह कितना त्रुटिपूर्ण है इसका विश्लेषण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। मार्क्स समाज में दो वर्गों की बात करता है लेकिन क्या सभी पूंजीपतियो को एक ही श्रेणी मे रखा जा सकता है। विश्व तो बहुत बड़ा है किसी एक देश के सभी पूंजीपति समान उद्देश्यों एवं हितों को लिए नहीं हुए हैं। बड़े पूंजीपति एवं छोटे पूंजीपतियों मे भी अन्तर्विरोध हैं। इसी प्रकार श्रमिक भी एक वर्ग मे नही रखे जा सकते। फिर एक नया मध्यम वर्ग भी पैदा हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखने पर दो देशो के पूंजीपतियो के या मजदूरो के हित समान नही हैं। वे जिस राष्ट्रीय सीमा मे रहते हैं उसका भी उनके कार्यकलापो पर प्रभाव पड़ता है। अब तक के साम्यवादी आन्दोलन के विकास उसने 'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ' के

1. आचार्य जे बी कृपलानी : वर्ग संघर्ष, पृष्ठ 2.

कथन को झुठला दिया है। लंकास्टर के अनुसार वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त प्रचार की दृष्टि से अति उत्तम है क्योंकि यह मजदूर को प्रलोभन देता है कि विजय उसकी होगी। विज्ञान के रूप में यह बहुत कम संतोषजनक है क्योंकि ये शब्द 'वर्ग' और इस कारण 'वर्ग संघर्ष' के सिद्धान्त की यथार्थता अनेक दिक्कतें पैदा करते हैं।[1]

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की व्यावहारिक स्तर पर क्रियान्विति तानाशाही के तत्त्वावधान मे ही होगी यद्यपि मार्क्स किसी वर्ग संघर्ष के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के उपरान्त साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना की बात कहता है लेकिन हो सकता है कि इसके स्थान पर अराजकता ही आ जाए। इस प्रकार की आशंका लास्की ने भी व्यक्त की है। लास्की के अनुसार यह भी हो। सकता है कि पूँजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न होकर अराजकता हो। इसमें से ऐसी तानाशाही का जन्म हो जाए जिसमें सैद्धान्तिक रूप से साम्यवादी आदर्शों का कोई सम्बन्ध नही हो।[2]

मार्क्स का मूल्य व अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Marxian Theory of Value and Surplus Value)

मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो का सिद्धान्त ही है जिसे उसने एक भिन्न तरीके से और अधिक जटिल बनाकर रक्खा है। कोकर ने इस सिद्धान्त को समझाते हुए लिखा है कि मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिणामों की जो व्याख्या की है, उसकी मुख्य बात उसके अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है जिसे उसने मूल्य के श्रम सिद्धान्त के आधार पर स्थिर किया है। मूल्य के श्रम सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि अन्त मे किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाए गए श्रम की मात्रा पर निर्भर है। यह सिद्धान्त मार्क्स से बहुत पहले अनुदार तथा उग्र सुधारवादी सिद्धान्तो मे निहित था। यह वास्तव मे एक अंग्रेजी सिद्धान्त था जिसका प्रतिपादन 17वी सदी में सर विलियम पेरी ने किया था। इसके बाद अन्य प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने मुख्यकर एडमस्मिथ, डेविड् रिकार्डो ने भी इस मे अनेक बातें जोड़ दी और उनमें सशोधन किया।[3]

मार्क्स ने अर्थशास्त्र के प्रचलित माग और पूर्ति के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए मूल्य का श्रम सिद्धान्त प्रतिपादित किया। मार्क्स के अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर नही करता बल्कि किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन मे लगाए गए श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे सामान्य वस्तु उसमें लगा मनुष्य का श्रम है अतः श्रम का

1. *Lancaster* : Masters of Political Thought, Vol. 3, p 177.
2. हेराल्ड जे. लास्की साम्यवाद, पृष्ठ 87-88.
3. "Marxian theory of value is merely the Recardian Theory transplanted and in some ways made more rigid."

—*Gray Alexander*, op. cit p. 309.

अनुपात लगाया जा सकता है। वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता क्योंकि कोई वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकती है लेकिन यह दूसरे के लिए इतनी उपयोगी नहीं हो सकती। अतः उपयोगिता सामान्य गुण नहीं कहा जा सकता। मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वस्तु में समानता इसी कारण है कि वे सभी श्रम से उत्पन्न हुई हैं। इसको स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है—"किसी वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि मानव श्रम का उपयोग उसमें हुआ है" तब इस मूल्य की मात्रा का माप कैसे लिया जाए। स्पष्टतः, मूल्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व की मात्रा श्रम से जो वस्तुओं में निहित है, श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम काल का माप सप्ताहों, दिवसों और घंटों में होता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि उसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है वह श्रमकाल या श्रम की मात्रा जो उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु को उसके इस श्रेणी के औसत नमूना चाहिए। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर खर्च किए हुए श्रमकाल के अनुसार होता है। सार यह है कि मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त यह आधार लेकर चलता है कि श्रम ही वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का सृष्टा है।

मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष के मूल में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निहित है। यह संघर्ष इसीलिए है कि श्रमिक को अपनी मजदूरी के अलावा कुछ नहीं मिलता जबकि वह वस्तु का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए कोई वस्तु सौ रुपए की लागत में बनी। इस लागत में कच्चे माल का दाम, मजदूरों की मजदूरी, प्रबन्ध-व्यय, पूँजी का ब्याज आदि सभी कुछ सम्मिलित है। मान लीजिए पूँजीपति उसे बाजार में 120 रुपये में बेचता है और इस प्रकार 20 रुपए का उसको लाभ होता है यह 20 रुपए का लाभ अतिरिक्त मूल्य है। यद्यपि यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिकों के परिश्रम से प्राप्त होता है, लेकिन वह उन्हें न मिलकर पूँजीपतियों की जेब में चला जाता है। मजदूरों को केवल साधारण जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी मिलती है जो वस्तु की लागत में सम्मिलित हो जाती है। इस प्रकार उनका शोषण किया जाता है और इस व्यवस्था में उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। यह अतिरिक्त लाभ एकत्रित होते-होते पूँजी में परिणत हो जाता है और इस व्यवस्था में इतनी प्रतिस्पर्द्धा होती है कि थोड़ी पूँजी वाले ज्यादा पूँजी वालों के सामने टिक नहीं सकते और इस प्रकार होते-होते चंद हाथों में देश की सारी पूँजी एकत्रित हो जाती है।

अतिरिक्त मूल्य इस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य और उसके बाजार में मिलने के बीच का अन्तर हुआ। मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है तथा पाता है।[1] लेनिन के विचार में भी किसी वस्तु के विनिमय मूल्य तथा श्रमिक को दिए जाने वाले वेतन का अन्तर ही अतिरिक्त

1. Surplus value is the difference between the value of the wages which a labourer produces and which he actually receives.

मूल्य है। जी. डी. एच. कोल के अनुसार भी अतिरिक्ति मूल्य का अर्थ पूँजीपति को वस्तु के बदले प्राप्त होने वाले मूल्य तथा उसमे से श्रमिक को पारिश्रमिक के रूप में दिए जाने वाले मूल्य में स्थित अपार अन्तर ही है। एमिल बर्न्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को पूँजीपतियों के लाभ कमाने का स्रोत कहा है।

मार्क्स के अनुसार जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस वर्ग संघर्ष के मूल में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ही है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीपति और श्रमिकों मे कभी न्यायोचित समझौता नही हो सकता क्योंकि दोनों वर्गों मे मौलिक स्वार्थ विरोध है। उदाहरण के लिए यदि मजदूरी बढ़ा दी जाए तो वस्तु की लागत बढ़ जाती है और पूँजीपतियो का लाभ घट जाता है। कहने का अर्थ यह है कि जिसमें मजदूरों को लाभ है उसमें पूँजीपतियो की हानि है और जिसमें मजदूरों की हानि है उसमे पूँजीपतियों को लाभ है। यही कारण है कि दोनो में कभी समझौता नहीं हो सकता और वर्ग संघर्ष का होना नितात आवश्यक है।

पूँजीवाद का अनिवार्य विनाश

मार्क्स का कथन है कि पूँजीवादी व्यवस्था में इतने आन्तरिक विरोध हैं कि वह जीवित नहीं रह सकती। पूँजीपति का श्रमिक के बिना काम नही चल सकता लेकिन श्रमिक कभी उसका मित्र भी नही बन सकता क्योंकि दोनों के हित आपस मे टकराते हैं और वर्ग संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। पूँजीवाद मे उत्पादन और वितरण का सन्तुलन भी नही रह पाता। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की सहायता से उत्पादन कई गुणा बढ़ जाता है लेकिन वितरण व्यवस्था दोषयुक्त होने के कारण *अधिकांश धन पूँजीपतियो के पास एकत्रित हो जाता है। साधारण आदमी दैनिक* जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तरसता रहता है। समाज का एक बहुत छोटा सा भाग गुलछर्रे उड़ाता है--साधारण आदमी की आमदनी कम होने के कारण उसकी क्रय शक्ति थोड़ी ही होती है—इस कारण माल की खपत नहीं होती और मंदी का आर्थिक संकट समय-समय पर उत्पन्न हो जाता है। अपने देश मे माल की खपत न होते हुए पूँजीपति विदेशों की ओर झाँकते हैं और पूँजीवादी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे साम्राज्यवादी व्यवस्था मे परिवर्तित हो जाती है। इसीलिए लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का अन्तिम चरण (Last Stage of Capitalism) कहा है।

जिस प्रकार से पूँजीवाद राष्ट्रीय क्षेत्र मे वर्ग संघर्ष को बढावा देता है उसी प्रकार वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी राष्ट्रों के बीच संघर्ष उत्पन्न करता है। साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचने पर या इसके पहले ही टूटने लगता है क्योंकि साम्राज्यवादी देश आपस मे टकराते हैं। इस प्रकार जितने भी युद्ध होते हैं वे अन्ततोगत्वा पूँजीवाद की कब्र ही खोदते हैं क्योंकि एक ओर पूँजीवादी वर्ग निर्बल हो जाता है व दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग के कष्ट भी बढ़ते जाते है। श्रमजीवी वर्ग

अनुपात लगाया जा सकता है। वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर नहीं करता क्योंकि कोई वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकती है लेकिन यह दूसरे के लिए इतनी उपयोगी नहीं हो सकती। अत. उपयोगिता सामान्य गुण नहीं कहा जा सकता। मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वस्तु में समानता इसी कारण है कि वे मानवी श्रम से उत्पन्न हुई हैं। इसको स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने लिखा है—"किसी वस्तु का मूल्य इसलिए होता है कि मानव श्रम का उपयोग उसमें हुआ है" तब इस मूल्य की मात्रा का नाप कैसे लिया जाए। स्पष्टतः मूल्य की सृष्टि करने वाले तत्व की मात्रा श्रम से जो वस्तुओं मे निहित है, श्रम की मात्रा का माप उसकी अवधि से होता है और श्रम काल का माप सप्ताहों, दिवसों और घंटो में होता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि उसके द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है वह श्रमकाल या श्रम की मात्रा जो उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक वस्तु को उसके इस श्रेणी के औसत नमूना चाहिए। दो वस्तुओं के मूल्य का अनुपात उस पर खर्च किए हुए श्रमकाल के अनुसार होता है। सार यह है कि मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त यह आधार लेकर चलता है कि श्रम ही वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का सृष्टा है।

मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष के मूल में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निहित है। यह संघर्ष इसीलिए है कि श्रमिक को अपनी मजदूरी के अलावा कुछ नहीं मिलता जबकि वह वस्तु का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए कोई वस्तु सौ रुपए की लागत मे बनी। इस लागत मे कच्चे माल का दाम, मजदूरों की मजदूरी, प्रबन्ध-व्यय, पूँजी का ब्याज आदि सभी कुछ सम्मिलित है। मान लीजिए पूँजीपति उसे बाजार में 120 रुपये में बेचता है और इस प्रकार 20 रुपए का उसको लाभ होता है यह 20 रुपए का लाभ अतिरिक्त मूल्य है। यद्यपि यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिकों के परिश्रम से प्राप्त होता है, लेकिन वह उन्हें न मिलकर पूँजीपतियों की जेब में चला जाता है। मजदूरों को केवल साधारण जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी मिलती है जो वस्तु की लागत मे सम्मिलित हो जाती हैं। इस प्रकार उनका शोषण किया जाता है और इस व्यवस्था मे उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता। यह अतिरिक्त लाभ एकत्रित होते-होते पूँजी में परिणत हो जाता है और इस व्यवस्था मे इतनी प्रतिस्पर्द्धा होती है कि थोड़ी पूँजी वाले ज्यादा पूँजी वालो के सामने टिक नहीं सकते और इस प्रकार होते-होते चंद हाथो मे देश की सारी पूँजी एकत्रित हो जाती है।

अतिरिक्त मूल्य इस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य और उसके बाजार में मिलने के बीच का अन्तर हुआ। मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिन्हें एक मजदूर पैदा करता है तथा पाता है।[1] लेनिन के विचार में भी किसी वस्तु के विनिमय मूल्य तथा श्रमिक को दिए जाने वाले वेतन का अन्तर ही अतिरिक्त

1. Surplus value is the difference between the value of the wages which a labourer produces and which he actually receives.

मूल्य है। जी. डी. एच. कोल के अनुसार भी अतिरिक्त मूल्य का अर्थ पूंजीपति को वस्तु के बदले प्राप्त होने वाले मूल्य तथा उसमे से श्रमिक को पारिश्रमिक के रूप में दिए जाने वाले मूल्य में स्थित अपार अन्तर ही है। एमिल बर्न्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को पूंजीपतियों के लाभ कमाने का स्रोत कहा है।

मार्क्स के अनुसार जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस वर्ग संघर्ष के मूल में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ही है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीपति और श्रमिकों मे कभी न्यायोचित समझौता नही हो सकता क्योकि दोनों वर्गों मे मौलिक स्वार्थ विरोध है। उदाहरण के लिए यदि मजदूरी बढ़ा दी जाए तो वस्तु की लागत बढ़ जाती है और पूंजीपतियों का लाभ घट जाता है। कहने का अर्थ यह है कि जिसमें मजदूरों को लाभ है उसमे पूंजीपतियो की हानि है और जिसमे मजदूरों की हानि है उसमे पूंजीपतियों को लाभ है। यही कारण है कि दोनो मे कभी समझौता नहीं हो सकता और वर्ग संघर्ष का होना नितांत आवश्यक है।

पूंजीवाद का अनिवार्य विनाश

मार्क्स का कथन है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे इतने आन्तरिक विरोध हैं कि वह जीवित नही रह सकती। पूंजीपति का श्रमिक के बिना काम नही चल सकता लेकिन श्रमिक कभी उसका मित्र भी नही बन सकता क्योंकि दोनों के हित आपस मे टकराते हैं और वर्ग संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। पूंजीवाद मे उत्पादन और वितरण का सन्तुलन भी नहीं रह पाता। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की सहायता से उत्पादन कई गुणा बढ़ जाता है लेकिन वितरण व्यवस्था दोषयुक्त होने के कारण अधिकांश धन पूंजीपतियों के पास एकत्रित हो जाता है। साधारण आदमी दैनिक जीवन की साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी तरसता रहता है। समाज का एक बहुत छोटा सा भाग गुलछर्रे उड़ाता है--साधारण आदमी की आमदनी कम होने के कारण उसकी क्रय शक्ति थोड़ी ही होती है—इस कारण माल की खपत नहीं होती और मंदी का आर्थिक सकट समय-समय पर उत्पन्न हो जाता है। अपने देश मे माल की खपत न होते हुए पूंजीपति विदेशों की ओर झांकते हैं और पूंजीवादी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी व्यवस्था मे परिवर्तित हो जाती है। इसीलिए लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अन्तिम चरण (Last Stage of Capitalism) कहा है।

जिस प्रकार से पूंजीवाद राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग सघर्ष को बढ़ावा देता है उसी प्रकार वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी राष्ट्रों के बीच संघर्ष उत्पन्न करता है। साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंचने पर या इसके पहले ही टूटने लगता है क्योंकि साम्राज्यवादी देश आपस मे टकराते हैं। इस प्रकार जितने भी युद्ध होते हैं वे अन्ततोगत्वा पूंजीवाद की कब्र ही खोदते हैं क्योंकि एक ओर पूंजीवादी वर्ग निर्बल हो जाता है व दूसरी ओर श्रमजीवी वर्ग के कष्ट भी बढ़ते जाते है। श्रमजीवी वर्ग

के लोग ही युद्ध मे सबसे बड़ी ग्राहुति देते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि पूँजीवादी व्यवस्था समाज के करीब-करीब सभी साधनो को मुट्ठी भर लोगों के हाथ मे केन्द्रित कर देती है और इसलिए अमीरो और गरीबों की खाई जब इतनी चौडी हो जाती है कि वह असहनीय लगने लगती है। इस प्रकार की स्थिति बन जाने पर समाज मे हिंसक क्रान्तिकारी विस्फोट होता है जैसा कि रूस में 1917 मे हुआ। यह क्रान्ति पुराने सत्तारूढ वर्ग को अपदस्थ कर सत्ता श्रमिकों के हाथों मे देती है।

ग्रालोचना

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त अर्थशास्त्र की दृष्टि से छिछला नजर आता हैं। जैसा कि वैपर ने कहा हैं कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त बड़ा त्रुटिपूर्ण हैं तो इसे उसने केवल एक मजदूर के लिए एक शक्तिशाली अपील बताया हैं। वैसे कीमत के सिद्धान्त के रूप मे अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक निरर्थक तथ्य हैं। मैक्स बीयर को भी इस सिद्धान्त मे अर्थशास्त्रीय सत्य न मिलकर इसमें केवल राजनीतिक और सामाजिक नारेबाजी लगी हैं।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह सिद्धान्त मार्क्स के मस्तिष्क की उपज नही है। वैपर, कोकर ग्रौर लकास्टर ने इसे रिकार्डो के श्रम सिद्धान्त का ही एक विकसित रूप बताया है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को जोड़-तोड कर श्रमिकों के पक्ष में लागू किया है।

यह भी कहा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स ने किसी वस्तु के मूल्य और कीमत मे तो अन्तर किया है पर यह भी सत्य है कि मूल्य केवल श्रम नहीं है। मूल्य का निर्धारण अनेक वस्तुओं द्वारा होता है। उस वस्तु की उपयोगिता, उसकी माँग, उसके निर्माण करने के लिए आवश्यक साधनों आदि द्वारा मूल्य का निर्धारण होता है। सच तो यह है कि माँग और पूर्ति मे अन्तर आते ही मूल्यो मे भी अन्तर हो जाता है। अगर केवल श्रम ही मूल्यों को निर्धारित करता हो तो हाथ से बनी हुई चीज मशीन की चीज के मुकाबले मे अधिक मूल्यवान हो जाएगी। यदि मूल्य का श्रम से सीधा सम्बन्ध होता तो आज के इन मशीनों के युग मे घरेलू उद्योग धन्धो को यह दुर्दिन नहीं देखना पडता।

मार्क्स के श्रम और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के संबंध मे यह भी कहा जा सकता है कि मुनाफे का स्रोत अतिरिक्त मूल्य ही नहीं होता। केवल श्रम की चोरी ही मुनाफा पैदा नहीं कर सकती। मुनाफे के हजारों कारण होते हैं जिसमें वाह्य आडम्बर, मिलावट, कार्य–कुशलता आदि का भी महत्त्व होता है। सरकारी कर्मचारियों से सांठ-गांठ, अवसर को पहचानने की शक्ति, पूर्ण जानकारी तथा कार्यकुशलता भी मुनाफा कमाने मे सहायक होती हैं।

मार्क्स के इस सिद्धान्त के विरोध मे यह भी तर्क दिया जाता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रतिपादन मे मार्क्स का यह सिद्धान्त सही नहीं साबित हुआ। मार्क्स की यह मान्यता थी कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उसके विनाश के बीज बोए हुए हैं। उसका कथन था कि पूंजीवादी व्यवस्था में प्रतियोगिता इतनी भयकर होती है कि कालान्तर मे समाज मे केवल दो ही वर्ग रह जाएँगे—(1) सर्वाधिकारवादी पूंजीपति और (2) अत्यन्त दीन-हीन सर्वहारा वर्ग। मध्यम वर्ग लुप्त ही हो जावेगा। इस अवस्था मे सर्वहारा वर्ग जो दिनो दिन गरीबी के चगुल मे बधता जाएगा अन्ततोगत्वा पूंजीपति वर्ग से जूझने लगेगा। चूंकि पूंजीपति समाज का एक अत्यधिक अल्प भाग होगा और सर्वहारा वर्ग करीब-करीब सारा ही समाज होगा, अतः वह छोटा-सा वर्ग करीब-करीब सारे समाज की क्रोधाग्नि मे जल उठेगा और इस प्रकार पूंजीवाद सदा के लिए समाप्त हो जाएगा। लेकिन मार्क्स का यह अनुमान सही नही निकला क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ श्रमिकों की आर्थिक स्थिति मे धीरे-धीरे सुधार होता गया। यह मानव स्वभाव है कि मनुष्य को जब खाने-पीने को आराम से मिलने लगता है तो वह व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन की बात नहीं सोचता और यही कारण है कि श्रमिकों ने अनेक विकसित देशों में पूंजीपतियों के विरुद्ध बगावत न करके उनके साथ समझौता कर लिया। पूंजीपतियों ने भी इस समझौते मे सहयोग दिया और लाभ में से कुछ हिस्सा श्रमिकों को भी देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मार्क्स का कथन गलत साबित हो गया। आज अनेक राज्यों मे श्रमिकों के हित मे अनेक कानून बन चुके हैं और इसलिए राज्य ने उनके हित-सम्पादन करने की दिशा मे कदम उठाए हैं। इससे भी मार्क्सवाद की भविष्यवाणी को धक्का लगा है। अन्त में, सेबाइन के शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि "सचाई यह है कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त ने उन नैतिक धारणाओ को कभी कही त्यागा जो लॉक के चिन्तन मे विद्यमान थी। वह न्यायपूर्ण तथा प्राकृतिक कीमत का सिद्धान्त बना रहा। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के पूंजीवाद के समर्थन को द्वन्द्वात्मक रीति से तिरस्कृत कर दिया था। यह तिरस्कार प्रभावहीन भी नहीं था। यद्यपि मार्क्स यह कहा करता था कि उसका नैतिक धारणाओं में कोई विश्वास नही है, लेकिन उसका तर्क अपने आर्थिक रूप की अपेक्षा अपने नैतिक रूप में अधिक शक्तिशाली मालूम पड़ता है। उसने मुख्य रूप से दो कार्य किए। बुर्जुआ विचारक प्रतियोगितापूर्ण अर्थव्यवस्था के समर्थन मे नैतिक तर्कों की दुहाई दिया करते थे। मार्क्स ने बताया कि यह नैतिकता व्यक्तिवादी उदारवाद की घोषणाओ के साथ सगत नही बैठती। दूसरे, मार्क्स ने एक अत्यधिक सगठित समाज मे जिसमे व्यक्तिवाद एक मान्य नैतिक दर्शन नहीं रहा था, सामाजिक न्याय के स्वरूप का प्रश्न उठाया। सक्षेप में, मार्क्स का सामाजिक दर्शन शुद्ध रूप से अर्जनशील समाज के ऊपर पहला यथार्थवादी आक्रमण था। इसमे कोई सन्देह नहीं

कि द्वन्द्वात्मक पद्धति की अपेक्षा मार्क्सवाद के इस गुण ने उसे अपने अनुयायियों के बीच अधिक प्रिय बनाया।"[1]

मजदूरों की तानाशाही

मार्क्स का कथन है कि इतिहास में अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं। लेकिन यह श्रमिक क्रान्ति मानव इतिहास की सबसे निर्णायक और महत्त्वपूर्ण क्रान्ति है क्योंकि और क्रान्तियों में केवल शासक बदले हैं व्यवस्था नहीं। पूर्व की सभी क्रान्तियाँ साधन सम्पन्न लोगों के हित में हो रही हैं और श्रमिकों को उनसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ लेकिन श्रमिक क्रान्ति ही व्यवस्था बदलती है और श्रमिकों का नेतृत्व समाज पर स्थापित करती है। पूँजीवाद की समाप्ति के उपरांत जो व्यवस्था आएगी वह समाजवादी व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था मे उत्पादन के साधनों एवं वितरण पद्धति पर किसी व्यक्ति विशेष का नियन्त्रण न होकर समाज का नियन्त्रण होगा। इस प्रकार पूँजीवाद में जो संघर्ष थे वह समाजवाद मे आकर समाप्त हो जाएँगे। वह राज्य जो अब तक पूँजीपतियों के हाथ मे था अब श्रमिकों के हाथ में हो जाएगा। पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त होते ही समाजवादी व्यवस्था एकदम नहीं आ जाएगी। उसको लाने में समय लगेगा लेकिन तब तक के लिए एक ऐसी कठोर व्यवस्था की आवश्यकता पड़ेगी जो सामाजिक जीवन मे व्याप्त सभी शोषण के तत्त्वों को समाप्त कर सके। पूँजीपति आसानी से अपनी हार नहीं मान लेंगे और वे किसी न किसी रूप मे नवोदित सामाजिक व्यवस्था को ठेस पहुँचाने के लिए सक्रिय रहेंगे। इसलिए मार्क्स के अनुसार इस संक्रमण कार्य के लिए जब तक कि पूर्ण समाजवादी व्यवस्था के लिए धरातल तैयार नहीं कर लिया जाता तब तक के लिए श्रमिकों की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) की आवश्यकता पड़ेगी। इस संक्रमण काल में श्रमिक सरकारी साधनों का पूर्ण उपयोग श्रमिकों के हित सम्पादन और पूँजीपतियों के दमन की दिशा मे करेंगे। इस काल में राज्य निरंकुश होगा और साम्यवादी दल के नेतृत्व मे आयोजित श्रमिकों की तानाशाही समाज पर आच्छादित रहेगी और जब समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जावेगी तो राज्य सत्ता व्यर्थ हो जाएगी। इस प्रकार इस संक्रमण काल की समाप्ति के उपरात जिस समाज का आविर्भाव होगा वह न केवल वर्ग विहीन ही होगा बल्कि राज्य विहीन भी होगा।

संक्रमण काल में श्रमजीवी वर्ग का उद्देश्य क्रान्ति के शत्रुओं को समाप्त कर अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाना है। इसके लिए उन सभी लोगों जो पुरानी व्यवस्था मे निर्णय प्रक्रिया से सम्बद्ध रहे हैं, को अधिकारों मे वंचित कर देना है जैसा कि रूस मे किया गया। वहाँ पूँजीपति व धनिक वर्ग के लोगों पादरियों सम्पत्तिजीवी आदि सभी लोगों अधिकारों से वंचित कर दिया गया। संक्रमण काल मे कथन, भाषण, प्रकाशन व मुद्रण आदि की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती। सरकार की नीतियों या कार्यों

1. जार्ज एच॰ सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ॰ 740

की सार्वजनिक आलोचना भी निषिद्ध है। राजनीतिक दलों में प्रतियोगिता अनुचित समझी जाती है जिसके परिणामस्वरूप केवल एक ही साम्यवादी दल रहता है। इस काल में साम्यवादी दल समाज और शासन पर पूर्णत छाया रहता है और दल के विरोधी केवल जेल मे रह सकते हैं। सरकार का केन्द्रित स्वरूप उभर कर आता है तथा इसके तीनों अंग अर्थात् कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका तीनों मिलकर दलीय नीति व उसके कार्यक्रम आगे बढ़ाते हैं। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा को भी मोड़ा जाता है एव बच्चों मे प्रारम्भ से ही इस प्रकार के संस्कार दिए जाते हैं। उत्पादन के सभी साधनों पर सरकारी आधिपत्य हो जाता है। साम्यवादी अर्थतन्त्र में योजनाओ का बाहुल्य रहता है और स्वतन्त्र उद्योग का कोई स्थान नहीं होता। वैसे मार्क्स निजी सम्पत्ति के पूर्ण उन्मूलन के पक्ष में नहीं हैं। उनका जोर तो उत्पादन के साधनो को सम्पूर्ण समाज के अधिकार में लाने का है। मार्क्स व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने का अधिकार प्रदान करता है लेकिन शर्त यही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति से निजी उत्पादन नही कर सकता।

अंत मे, प्रो० सेबाइन के शब्दो मे, सर्वहारावर्गीय अधिनायकत्व का सार प्रस्तुत किया जा रहा है—

'वर्गविहीन समाज से भी ज्यादा महत्व का चरण सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद था, जो मार्क्स तथा एंजिल्स के अनुसार सर्वहारावर्ग की क्रान्ति के तुरन्त बाद स्थापित होना है। इस अवस्था मे यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा वर्ग शक्ति छीन लेता है और एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो अपनी ओर से बल का प्रयोग करता है। इसलिए, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद भी बुर्जुआ राज्य की भांति ही वर्ग प्रभुत्व का साधन होता है। उसका कार्य होता है कि वह विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप मे बदले और यदि पूंजीपतिवर्ग प्रतिक्रांति का कोई प्रयत्न करे, तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे,तभी सम्भवतः राज्य के तिरोहित होने की प्रक्रिया आरम्भ होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कितने दिनो कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड दी गई है। मार्क्स एवं एंजिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में विकास नहीं किया। इसके सम्बन्ध में मुख्य बातें 1848-50 के फ्रांस के क्रांतिकारी उपद्रवों से सम्बन्ध रखती हैं। तथापि यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को वास्तविक बनना है तो यह एक दिन में नही बन जाएगी। इसके लिए एक संक्रमणकाल की आवश्यकता होगी। 1850 के बाद यूरोप की राजनीति में क्रान्ति का महत्त्व कम हो गया था और वह शांतिपूर्ण पथ पर अग्रसर होने लगी थी। फलतः इस विषय का आगे विवेचन अनावश्यक हो गया था। इस संकल्पना को 1917 में लेनिन ने ग्रहण किया और उसे क्रांतिकारी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन

बनाया। लेनिन की क्रान्ति की सफलता ने इसे आधुनिक राजनीतिक चिंतन के लिए एक महत्वपूर्ण विषय बना दिया है।"[1]

आलोचना

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मजदूरों की तानाशाही का सिद्धान्त व्यावहारिक स्तर पर लागू नहीं हो पाता है क्योंकि क्रांति का नेतृत्व सारे मजदूर नहीं कर सकते। नेतृत्व सदा अपेक्षाकृत एक छोटा वर्ग करता है जिनमें बौद्धिक चेतना अधिक होती है। यही कारण था कि लेनिन ने मार्क्सवाद की इस न्यूनता को दृष्टिगत रखते हुए उसने साम्यवादी दल को क्रांति का अगुआ बताया। लेनिन ने बताया कि यह दल न केवल क्रान्ति का नेतृत्व ही करेगा बल्कि इसके उपरान्त भी सरकार को अपने अधीन कर समाज का संचालन करेगा। इस कार्य को एक छोटे वर्ग द्वारा सम्पादित किया जा सकता है जो कि छोटा, अनुशासित, कृतसंकल्प एवं बौद्धिक दृष्टि से प्रखर एवं राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हो। मार्क्स स्वयं इस बात को लेकर स्पष्ट नहीं था कि मजदूरों की एक भीड़ किस प्रकार क्रान्ति एवं समाज के संचालन का महत्वपूर्ण कार्य करेगी। आगामी घटनाओं ने बताया कि मार्क्स की तुलना में लेनिन अधिक व्यावहारिक था।

मजदूर किसे कहा जाए, यह भी विवादास्पद है। सब मजदूर एक ही श्रेणी के नहीं होते। परिश्रम, विशेष ज्ञान, योग्यता, ईमानदारी आदि के आधार पर श्रमिकों की भी कई श्रेणियाँ होती हैं। किसी वस्तु के उत्पादन में केवल शरीर श्रम की इतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि समझ, सूझ-बूझ, कार्य कुशलता की आवश्यकता पड़ती है। ये सबमे समान नहीं होती और इसलिए उनको मिलने वाला पारिश्रमिक भी एक-सा नहीं होता। भिन्न-भिन्न पारिश्रमिक मिलने के कारण वे अनेक गुटों मे बँट जाते हैं और उनका एक वर्ग तो व्यवस्थापकों के साथ समझौता भी कर लेता है। तकनीकी ज्ञान प्राप्त लोगो को वेतन भी अच्छा मिलता है और इसलिए उन्हे सामान्य मजदूर की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता लेकिन उन्हें पूँजीपति भी कहना सर्वथा गलत है।

वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना

मार्क्स राज्य को प्राकृतिक संस्था नहीं मानता। वह राज्य को सबकी भलाई में रत संस्था भी नही मानता। वैसे राजनीतिक चिंतन के प्रारम्भ से राज्य के सम्बन्ध मे अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनमे मार्क्स की राज्य के सम्बन्ध मे व्याख्या निराली है। मार्क्स के लिए राज्य वह राजनीतिक शक्ति है जो एक वर्ग के नियन्त्रण में रहती है और इसका उद्देश्य इस वर्ग के हितों का संरक्षण करना एवं दूसरे वर्ग का शोषण करना है। जिस वर्ग के आधीन यह शक्ति रहती है यह वह वर्ग है जो उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रखता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे राज्य

1. जार्ज एच० सेबाइन : राजनीतिक-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 746

पर नियन्त्रण पूँजीपति लोग करते हैं और इसके माध्यम से वे अपने हितों का संरक्षण करते हैं।[1]

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के अनुसार राज्य की प्रकृति एवं कार्य शक्तिशाली वर्ग के हितों की रक्षा करना ही है। दास युग में राज्य स्वामियों की रक्षा करता था जबकि सामन्त व्यवस्था में इस पर सामंत वर्ग का अधिकार था। पूँजीवादी युग में आते-आते चाहे राज्य का स्वरूप लोकतान्त्रिक हो गया हो लेकिन इसने पूँजीपतियों के हितों का ही समर्थन किया है। पूँजीवादी युग की समाप्ति के उपरान्त भी राज्य तब तक के लिए बना रहेगा जब तक कि पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित शोषण के बीज समूल नष्ट नहीं हो जाते। अतः इस संक्रमण काल में राज्य यथावत बना रहेगा लेकिन इसकी शक्ति अब श्रमिकों के हाथ मे आ जाएगी। तो सार यह निकला कि मार्क्स के अनुसार राज्य सदा प्रभावशाली वर्ग के अधीन रहता है। मार्क्स के विचारों को हन्ट ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में समझाया है। उसका कहना है कि राज्य सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त एक बाह्य आवरण है जिसका निर्माण समाजरूी उत्पादन शक्तियों ने किया है तथा उनमे वर्ग संघर्षकी झलक मिलती है। यह प्रभुतासम्पन्न वर्ग के आर्थिक हितों की सेना-न्यायपालिका, पुलिस एवं अन्य शारीरिक और नैतिक उपकरणों द्वारा रक्षा करता है। हन्ट के अनुसार मार्क्स के लिए लोकतान्त्रिक राज्य अन्तर्द्वन्द्व लिए हुए है क्योंकि किसी भी समाज में जनतन्त्र तब तक कायम नहीं हो सकता जब तक कि उसमें दो परस्पर विरोधी हितों पर आधारित वर्ग हों।[2]

मार्क्स द्वन्द्ववाद के आधार पर यह सिद्ध करता है कि भविष्य मे राज्य नहीं रहेगा। एक वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन राज्य की स्थापना होगी। राज्य को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी वह तो अपने आप मुरझा जाएगा।[3] इसका मुरझाना स्वाभाविक होगा क्योंकि जब समाज मे दो वर्ग ही नही रहेगे तो वह करेगा क्या? राज्य के मुरझा जाने के उपरान्त सार्वजनिक कार्यों का राजनीतिक स्वरूप समाप्त हो जाएगा एवं सच्चे सामाजिक हितों की देखभाल करने के लिए साधारण प्रशासकीय कारण बन जाएगे। इस व्यवस्था मे उत्पादन का लक्ष्य व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का लाभ न होकर सामूहिक उपभोग होगा। ऐसी ही व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन प्रतियोगात्मक नही होगा, क्योंकि समाज से शोषक वर्ग का अन्त हो जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति श्रमिक होगा और अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा। चूँकि उत्पादन पर स्वामित्व सम्पूर्ण समाज में निहित होगा इसलिए उत्पादन सभी व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से किया जाएगा। कोई व्यक्ति बेकार नहीं रहेगा और सबको आर्थिक संरक्षण व स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। सभी व्यक्ति सहकारिता का

1. *Quoted by Gray Alexander, op. cit*, p 325.
2. *Hunt Carew* : The Theory and Practice in Communism, p. 66.
3. The State will wither away.

जीवन व्यतीत करेंगे एवं एक दूसरे के लिए जिएंगे। इस व्यवस्था में श्रम की प्रधानता रहेगी। श्रम का स्थान जीवन की एक मौलिक आवश्यकता के रूप मे होगा तथा वह केवल जीवनयापन का साधन मात्र नहीं रहेगा। उत्पादन नियोजित ढंग से होगा ताकि अत्यधिक उत्पादन द्वारा बर्बादी को रोका जा सके। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा लेकिन उसे इसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त होगा। सार यह है कि मनुष्य को इस नूतन सामाजिक व्यवस्था में किसी का दास या मोहताज बनने की आवश्यकता नहीं होगी। मनुष्य न किसी का शोषक होगा और न ही किसी के द्वारा शोषित किया जाएगा। वह आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाएगा और न उसे भविष्य की चिन्ता ही सताएगी।

मनुष्य जब भौतिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाएगा तो वह अपनी शक्ति अन्य रचनात्मक कार्यों में लगाएगा जिससे उसकी बहुमुखी प्रतिभा अंकुरित होगी। साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों के विकास में उसका योगदान होगा। जीवन के मूल्य बदलेंगे एवं प्रतिस्पर्धा का स्थान सहकारिता लेगी। आज मनुष्य केवल अपने लिए जीता है और इसके लिए उसे दूसरों के छीना-झपटी करनी पड़ती है। यह छीनाझपटी न व्यक्ति के लिए हितकारी सिद्ध होती है और न ही इससे समाज का ही विकास होता है। इस पागलपन में मनुष्य न स्वयं सुखी रह पाता है और न दूसरों को ही सुखी बना सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य के क्रियाकलापों का दायरा परिवार तक सीमित रहता है और वह सारी शक्ति केवल अपने परिवार के लिए सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाने में लगा देता है। इस भौतिक उपलब्धि के लिए वह येन-केन-प्रकारेण सभी उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक कार्य करता है। इस प्रकार के वातावरण में रहते-रहते मनुष्य का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। मार्क्स का कथन है कि समाजवाद की स्थापना के उपरान्त जिस समाज की स्थापना होगी उसमें हिंसा नहीं रहेगी और उच्च सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन होगा। मनुष्य भौतिक जगत की यातनाओं से मुक्त होकर जीवन के सच्चे आनन्द का उपभोग करने लगेगा। मार्क्सवाद इस प्रकार एक विकासवादी सिद्धान्त है जो प्रगति की अनिवार्यता में विश्वास रखता है और अन्तिम विजय मनुष्य की मानता है।[1] ऐसे समाज में जैसाकि एंजिल्स ने दावा किया कि ये सब परिस्थितियाँ उपलब्ध होंगी जिसमें मनुष्य अपने आपको जान सके और अपने विरुद्ध होने वाली जीवन की सभी परिस्थितियों को नाप सके। ऐसे समाज मे वह अपनी प्रकृति के अनुकूल एक सच्चे मानवीय तरीके से विश्व को संगठित कर सकेगा और इस प्रकार से ऐसे समाज मे हमारे युग की सारी समस्याओं का हल हो चुकेगा।[2]

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित एक वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज का सिद्धान्त भी तर्कसंगत नहीं लगता। वैसे मार्क्स ने अपने पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों

1. "Marxism, then, is an optimistic doctrine of inevitable progress and of the ultimate triumph of man." —*Wayper C.L.*, op. cit., p 205.
2. Engels quoted by Wayper, op. cit., p. 205.

को स्वप्नलोकीय कहकर उनका मखौल उड़ाया है लेकिन उसके स्वयं के कतिपय विचार भी तो बड़े काल्पनिक हैं।[1] उदाहरणार्थ, राज्य विहीन समाज का विचार भी बड़ा ही काल्पनिक है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना के उपरान्त मार्क्स का यह विचार कि राज्य का क्रमिक लोप होने लगेगा, अव्यावहारिक है। आज रूस की क्रांति को 66 वर्ष हो गए लेकिन राज्य के लोप होने का कोई संकेत ही नहीं मिल रहा है। शायद राज्य कभी भी नहीं मुरझाए क्योंकि समाज मे सदा ऐसे तत्त्व विद्यमान अवश्य रहेंगे जिनकी वजह से राज्य आवश्यक बना रहेगा। इस प्रकार की अभिव्यक्ति लेनिन के निम्न वाक्य से मिलती है *"हम कल्पनावादी नहीं हैं, हम जानते हैं कि* समाज मे अपराधी व दुष्ट लोग हमेशा विद्यमान रहेंगे और उनके नियंत्रण के लिए राज्य की आवश्यकता बनी रहेगी।"[2] आज के मार्क्सवादी लेनिन की बात को ही अधिक व्यावहारिक मानते हैं। यहाँ तक कि माओवादी जो स्वयं को मार्क्स का सगोत्र वंशज मानते हैं, राज्य विषयक विचार लेनिन का ही स्वीकार करते हैं। सच तो यह है कि कोई भी सत्ता को व्यावहारिक स्तर पर लुप्त करने के पक्ष में नही है। इसलिए सभी साम्यवादी अब मार्क्स के राज्य सिद्धान्त का अर्थ यह लगाने लगे हैं कि संक्रमण काल की समाप्ति के उपरान्त राज्य का स्वरूप ही बदल जाएगा। फिर राज्य किसी वर्ग विशेष की शोषक संस्था न रहकर समाज की प्रतिनिधि संस्था बन जाएगी। खैर, अर्थ कुछ भी लगा दिया जाए, मार्क्स का यह कभी मन्तव्य नहीं था। यह तो मार्क्सवाद का एक बड़ा संशोधनवाद है।

आलोचना -

जैसे राज्य का सिद्धान्त काल्पनिक है, वैसे वर्गहीन समाज का विचार भी अयथार्थवादी है। यदि यह भी मान लिया जाए कि पूंजीपतियों के विरुद्ध समस्त श्रमजीवी संघर्षरत रहेंगे तो फिर इसकी क्या गारन्टी है कि पूंजीपति वर्ग के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी उनका वर्ग-चरित्र (Class character) बना रहेगा।[3] फिर उनके अन्तर्विरोध उभरेंगे जिसके फलस्वरूप वर्गीय संगठन टूटने लगेगा।

एक बात और भी है। क्रान्ति का नेतृत्व साम्यवादी दल करता है। इसके नेता समाज और सरकार में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं और ये स्वयं एक वर्ग बन जाते हैं। *बर्ट्रेण्ड रसल के इस कथन मे बड़ा वजन मालूम देता है कि साम्यवादी* दल जब स्वय मे एक वर्ग बन गया है तो फिर वर्गविहीन समाज की स्थापना कैसे होगी? सत्तारूढ़ साम्यवादी दल अपनी सत्ता को क्यों और कैसे खो देगा—यह एक बड़ा प्रश्न है।

1. "The writers who were openly contemptuous of utopias should lead to a utopia to which even fourier cored scarcely add any finishing touches."
—*Gray Alexander*, op cit, p. 329.
2. डॉ. के. एन. वर्मा द्वारा उद्धृत, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग 2, पृ. 91.
3. *Hunt Carew*, op. cit., pp. 65-66.

मूल्यांकन
(Evaluation)

मार्क्स को प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी होने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि य कहा जा सकता है कि वह पूर्वाग्रहों एवं पूर्वधारणाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं थ लेकिन जिस वैज्ञानिक ढंग से उसने अपने विचारों का प्रतिपादन किया वह अपने आप में एक अमूल्य देन है। उसने समाजवाद को, जो कि उसके पूर्ववर्ती विचारकों के हाथों में एक मखौल की वस्तु बन गया था, एक गंभीर विषय बनाकर उसे विद्व समाज मे प्रतिष्ठापित किया। उसके अध्ययन में क्रमबद्धता है एवं उसने तथ्यों को इतिहास से एकत्रित कर अध्ययन को एक नूतन दिशा प्रदान की जो तर्क संगत तथा वैज्ञानिक है। उसने भौतिकवाद को चिन्तन का आधार बनाकर सामाजिक जीवन के यथार्थवादी अध्ययन को बनाया। उसने सामाजिक संस्थाओं के संचालन में आर्थिक कारकों को सर्वाधिक बलशाली बनाकर सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन को सशक्त बना दिया। वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली की अन्योन्याश्रितता को दर्शाने के कारण वह सर्वाधिक प्रभावशाली सामाजिक दार्शनिक बन गया।

मार्क्सवाद के प्रभाव और प्रसार के बारे में अनेक विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं। प्रो० लास्की[1] का विचार है कि मार्क्स ने साम्यवाद को कोलाहल से उठाकर एक सशक्त आन्दोलन का रूप दे दिया जो सिद्धान्त पर आधारित है। उसने इसे एक दिशा और दर्शन प्रदान किया। उसने श्रमिकों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप मे परिवर्तित कर दिया। लास्की के अनुसार मार्क्स के कार्यों का सार किसी विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त मे निहित न होकर उस भावना में निहित है जो उसके जीवन-ध्येय को लिए हुए है। वह प्रथम समाजवादी व्यक्ति था जिसने स्वप्नलोकीय विश्व को अस्वीकार कर, यथार्थ के दर्शन किए। वह पहला व्यक्ति था जिसने केवल मंजिल ही नहीं बताई बल्कि वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग भी दर्शाया।

कोकर के अनुसार, "मार्क्स के लेखों तथा पुस्तकों मे मुख्यत. आर्थिक तथा ऐतिहासिक सिद्धांतो के प्रश्नों पर तथा आर्थिक और राजनीतिक व्यूह-रचना की व्यावहारिक समस्याओं पर ही विचार किया गया है किन्तु उसकी अंतिम अभिरुचि उन्मुक्त तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों मे थी। उसके विचार में समुचित और न्यायपूर्ण उत्पादन तथा आर्थिक व्यवस्था इसलिए परम आवश्यक है कि प्रत्येक को अपने स्वतंत्र बौद्धिक एवं सामाजिक विकास के लिए समय और सुयोग मिल सके। मार्क्स के समाजवाद का लक्ष्य अन्य अनेकों क्रान्तिवादी अथवा स्थिति-पालक राजनीतिक सिद्धान्तों की भांति एक ऐसा समाज है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण एवं स्वतंत्र विकास ही प्रमुख सिद्धान्त है।"[2]

1. *Laski*, quoted by Ram Prakash Sharma, Modern Western Political Thought, Vol II, p 64.
2. फ्रान्सिस डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 57–58.

हैलीवेफ ने लिखा है, *"हम मार्क्सवाद के कार्यक्रम को अस्वीकार कर सकते हैं* पर इसने पूँजीवाद के विरुद्ध जो आरोप लगाया है, उनकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते ।"

आर० वी० ग्रेन ने बताया है कि सामाजिक न्याय पर विश्वास करने वाले लोगों को साम्यवादी विचारधारा बहुत आकर्षित करती है ।

अंत में, वेपर के शब्दों में हम मार्क्स का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं—

"मार्क्स द्वारा दिए गए सशक्त संदेश, प्रेरणादायक शिक्षाओं एवं भविष्य की घटनाओं पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण विश्व के महान् राजनीतिक चिन्तकों के संग्रह में उसका स्थान सुरक्षित है ।"[1]

फ्रेड्रिक एंजिल्स (1820–1895)
(Friedrich Engels)

मार्क्स और एंजिल्स की जुगलजोड़ी है और एक को दूसरे से पृथक् करना असंभव है । वैसे एजिल्स को मार्क्स से अलग करके पढ़ा भी नहीं जा सकता क्योंकि दोनों ने मिल कर ही समाजवाद के सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे और मूल बातों में दोनों में कोई अन्तर भी नही है । यही कारण है कि एंजिल्स को प्राय. अलग से नही पढ़ा जाता है । लेकिन यह बात सही है कि उसने बहुत सारी भ्रांतियाँ जो मार्क्स के नाम से जोड़ दी गई उन्हें दूर करने का प्रयास किया । एजिल्स मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त सात वर्ष तक और जीवित रहा । वह मार्क्स का साथी, सहायक, मददगार, सब कुछ था और बौद्धिक दृष्टि से बहुत ही प्रखर था; आज जो मार्क्स के नाम से सिद्धान्त कहे जाते हैं उनके विकास और प्रतिपादन में उसका योगदान कम नही था । लेकिन इतिहास ने उसके साथ न्याय नहीं किया । कहने का आशय यह नही है कि जिसे मार्क्सवाद कहा जाता है उसके निर्माण में उसका मार्क्स के बराबर ही योगदान था—यह कुछ कम हो सकता है लेकिन इतना कम नही जितना कि इतिहास ने कर दिया है । मार्क्स के बारे में कहा जाता है कि वह बड़ा स्वाभिमानी, आत्मविश्वासी और अहकारी व्यक्ति था । वह उस व्यक्ति से सहज ही में लड़ पड़ता था जो उसकी बौद्धिक सर्वोच्चता को स्वीकार न करे, लेकिन इसका अपवाद केवल एंजिल्स था । एंजिल्स एक धनी व्यक्ति था और उसने मार्क्स को पर्याप्त भौतिक सहायता दी जिससे उसके पास साहित्य साधना हेतु पर्याप्त शक्ति *और समय बचा रहा । यह सहायता यथेष्ट रूप से पर्याप्त काल तक मार्क्स को* मिलती रही जिसके अभाव में हो सकता था कि मार्क्स शायद उस शिखर पर नहीं पहुँच पाता जो उसे प्राप्त हुई है । इसके अतिरिक्त एंजिल्स का एक बहुत बड़ा योगदान इस बात में है कि उसने मार्क्स की बौद्धिक सर्वोच्चता को स्वीकार कर

1. *C. L. Wayper*, op. cit., p. 21.

अपने लिए उससे निम्न स्थान स्वीकार कर लिया। मार्क्स मे उसके पटने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि उसने उसे कभी चुनौती नही दी और वह उसके प्रति सदा सहिष्णु बना रहा।

जहाँ तक एंजिल्स के योगदान का प्रश्न है यह बहुत ही स्पष्ट है। करीब 40 वर्ष तक शायद ही मार्क्स का कोई विचार रहा हो जो एंजिल्स का न था। एंजिल्स ने मार्क्स के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के निर्माण में अपनी बौद्धिक प्रखरता और सहयोग प्रदर्शित किया था। मार्क्स के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, वास्तव में, सयुक्त लेखन के प्रतिफल हैं। 'दी कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' (The Communist Manifesto) दोनो ने साथ लिखा था। एंजिल्स ने 'कैपिटल' (Capital) का औपचारिक रूप से तो सपादन किया लेकिन वास्तव मे यह संपादन से कुछ अधिक ही था। मार्क्स की मृत्यु के उपरांत उसने 'कैपिटल' के द्वितीय व तृतीय भाग का सपादन मार्क्सवाद की दुरुह बातो को स्पष्ट करने के लिए किया था। इस सम्बन्ध मे जोन प्लेमन का कथन है कि मार्क्स के मरने के समय एंजिल्स ने वे सारे विचार जो उन दोनों के सयुक्त रूप से बने थे सुरक्षित रखे। उसने न किसी विचार को छोड़ा और न ही किसी विचार को मृत प्राय: होने दिया बल्कि उसने अपनी ओर से अपने पास रहे भण्डार मे कुछ और जोड़ दिया जिनमें से कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।[1] उसने केवल मार्क्स के साथ सहयोग ही नहीं किया बल्कि कई पुस्तकें पृथक् रूप से भी लिखीं। उसने 1869 मे व्यापार से सन्यास ले लिया और जीवन भर वह सारा समय और शक्ति मार्क्स के साथ क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने, उन्हें सगठित करने और साहित्य साधना मे लगा दिए। उसने 1845 मे अपनी पुस्तक लिखी जिसका नाम 'The Condition of Working Classes of England' था। इससे उसे बड़ी ख्याति मिली। इस पुस्तक में उसने पूँजीवाद की भर्त्सना की थी। उसने मार्क्स से मिलकर कम्युनिस्ट लोग की स्थापना की और जैसा कि लिखा जा चुका है उसने साम्यवाद के बाइबल कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो का मार्क्स के साथ सयुक्त लेखन किया। उसने 1848 मे फ्रांस और जर्मनी की क्रान्तिकारी गतिविधियो मे भाग लिया और प्रथम और द्वितीय इंटरनेशनल में एक लेखक और अधिकारी के रूप में भाग भी लिया। The Condition of Working Class of England के अतिरिक्त उसके द्वारा स्वतंत्र रूप से लिखित पुस्तकें निम्नलिखित थी—

Socialism Utopian and Scientific;
Anti-Durhring and the Origin of the Family;
Private Property and the State;
The Housing Question.

जैसा कि लिखा जा चुका है उसने कैपीटल के द्वितीय व तृतीय भागों का सपादन भी किया। उसकी मृत्यु 5 अगस्त, 1895 को हुई।

1. *Plamenatz John* : German Marxism and Russian Communism, p. 164.

उपर्युक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि एंजिल्स मार्क्स का केवल सहायक ही नही था जैसा कि इतिहास मे वर्णित है। एंजिल्स के साथ इतिहास मे किए गए अन्याय के बारे में जार्ज लाइथन ने ठीक ही लिखा है कि एंजिल्स का मार्क्सवाद के विकास मे जो हिस्सा है उसके साथ न्याय नहीं हुआ है।[1] एक मार्क्सवादी के लिए एंजिल्स केवल मार्क्स का एक जीवन साथी और सहायक है जिसने आन्दोलन के सिद्धान्त और क्रियान्विति में उसकी मदद की। लेकिन उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वह इतना ही नहीं था, वह उससे ज्यादा था; चाहे उसके साथ न्याय न हुआ हो। वैसे इतिहास ने कइयों के साथ न्याय नही किया है। उसकी बौद्धिक प्रखरता, क्रान्तिकारी गतिविधियों मे सक्रिय सहयोग, लेखन शक्ति और इन सबसे ऊपर मार्क्स के प्रति प्रचुर प्रेम और इस निमित्त उसके प्रति किया गया त्याग उसे मार्क्स के समकक्ष ही स्थान दिलाते हैं। यह स्थान मार्क्स के बाद में माना जा सकता है लेकिन उससे निम्न नही। एलेक्जेन्डर ग्रे ने एंजिल्स की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इसकी बदौलत ही मार्क्स ब्रिटिश म्यूजियम में पूरे समय तक अपनी शक्ति को केन्द्रित कर पाया। इतिहास मे ऐसे बहुत से उदाहरण आए हैं जहाँ कि एक मनुष्य ने एक स्त्री के लिए सम्पूर्ण न्यौछावर कर दिया और निःसदेह ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं जहाँ, एक स्त्री ने एक पुरुष के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। लेकिन एंजिल्स के समान कोई भी ऐसा उदाहरण पाना आसान नही है जहाँ एक व्यक्ति ने एक सार्वजनिक कार्य के लिए, किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जो रक्त सम्बन्धों से उससे बंधा हुआ न था, अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया ताकि वह अपने जीविकोपार्जन की समस्या से मुक्त हो जाए। इन सबके बावजूद और अपने स्वतंत्र महत्त्वपूर्ण कार्य के बावजूद भी वह अब तक मार्क्स की माया में रहा है।[2]

एंजिल्स को सामाजिक-जनतांत्रिक-मार्क्सवाद का जनक कहा जा सकता है। उसने इसकी व्याख्या Anti-Durhring में की थी जो कि सामाजिक जनतांत्रिक आन्दोलन के लिए सैद्धान्तिक मार्गदर्शन का काम करती है। कहा जा सकता है कि एंजिल्स की पुस्तकों से मार्क्स के मरणोपरांत और विशेषतौर पर 1890 से 1914 तक समस्त समाजवादियों ने इससे प्रेरणा ली है और एक नूतन समाज की झलक इसमे देखी है। यहाँ तक कहा जाता है कि 'कैपिटल' से इन लोगों को इतनी प्रेरणा नही मिली जितनी कि इस पुस्तक से मिली। लाइथन ने तो यहाँ तक लिखा है कि योरोप के अधिकांश भागों मे समाजवादी सिद्धान्त जो 'एक मनःस्थिति के रूप में विकसित हुआ उसकी पुष्टि एंजिल्स के 1875 से 1890 तक लिखे गए ग्रन्थों में मिलती है।[3]

1. *Lighthein, George* : Marxism—Historical and Critical Study, p. 214
2. *Gray Alexander* : 'The Socialist Tradition,' op. cit., p. 298.
3. *Lighthein George*, op. cit., p. 243.

एंजिल्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में सारे मार्क्सवाद और समाजवाद का सार बताया। उसने इतिहास का निर्धारण करने वाले भौतिकवादी सिद्धान्त को मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त स्पष्ट करते हुए इस भ्रांति को दूर करने का प्रयास किया कि केवल आर्थिक कारण ही सब कुछ होते हैं। उसने बताया कि मार्क्स और उसने जो इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की उसका अर्थ यही है कि वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनर्उत्पादन ही अन्ततोगत्वा इतिहास के निर्धारक तत्त्व हैं। इससे अधिक उनका कोई मन्तव्य नहीं था। इसलिए यदि कोई इसका तोड़ मरोड़ कर यह मतलब लगाए कि आर्थिक तत्त्व ही एक मात्र निर्धारक तत्त्व हैं तो यह अर्थहीन, काल्पनिक और बेहूदी बात होगी। आर्थिक स्थिति मूल में है लेकिन अन्य ऊपरी तत्त्व वर्ग संघर्ष का राजनीतिक स्वरूप और इसके परिणाम सफल युद्ध के उपरान्त विजयी वर्ग द्वारा स्थापित संविधान, विधि के प्रकार, इनकी सघर्षरत लोगों के मस्तिष्क में झलक, राजनीतिक वैधिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक विचार और उनकी सिद्धान्तों की व्यवस्था के रूप में विकास आदि सभी चीजें ऐतिहासिक संघर्ष के तौर तरीकों को निर्धारित करती हैं। एंजिल्स का कथन है कि इन सभी तत्त्वों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध होता है। आर्थिक कारण अन्त में प्रबल सिद्ध होते हैं। अन्यथा, एंजिल्स ने बताया कि इस सिद्धान्त का इतिहास के किसी भी युग पर लागू किया जाना एक साधारण स्तर के गणित के सवाल को हल करने से भी अधिक सरल हो जाएगा।[1] मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त उसकी कब्र पर भाषण देते हुए भी एंजिल्स ने इसी भौतिकवादी सिद्धान्त को समझाते हुए कहा था कि मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास के नियम को समझा, उसने एक सादा तथ्य ढूंढ निकाला जो कि अब तक विचारधारा के बोझ से दबा पड़ा था और वह यह था कि मनुष्य को सर्वप्रथम खाना, पीना, मकान और कपड़ा चाहिए और इसके पश्चात् राजनीति, विज्ञान, धर्म और कला इत्यादि आते हैं। इसलिए जीविकोपार्जन हेतु आवश्यक भौतिक साधनों और इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास जो सम्बन्धित मनुष्यों ने काल विशेष में प्राप्त किया हो वह आधारशिला है जिसमें से राज्य रूपी संस्थाएँ, वैधिक विचार, कला और धार्मिक विचार विकसित होते हैं और इसी के प्रकाश में ये सब चीजें स्पष्ट की जा सकती हैं बजाय इसके विपरीत कारणों के जो अब तक बताए गए हैं।[2]

इतिहास के निर्धारण में आर्थिक और गैर आर्थिक तत्त्वों का सार एंजिल्स[3] के ही शब्दों में इस प्रकार समझाया जा सकता है—

(1) इतिहास के निर्धारण में आर्थिक तत्त्व मूल होते हैं।

1. From a letter to *Joseph Bloch* (September 21, 1890) Marx-Engel's Correspondence, International Publisher, *1934*
2. Prefixed to most editions of the Communist Manifesto, also *Marx* : Selected Works, Vol. 1, p. 16
3. From a letter to *Joseph Bloch* (September 21, 1890).

(2) अन्य कारण जैसे राजनीतिक, वैधिक, दार्शनिक सिद्धान्त परम्पराएँ आदि भी अपनी भूमिका अदा करते हैं लेकिन ये निर्णायक तत्त्व नहीं बनते।

(3) हम स्वयं अपना इतिहास बनाते हैं जिनमें आर्थिक कारण ही सर्वोपरि होते हैं।

(4) इतिहास इस प्रकार विकसित होता है जिसमे अंतिम परिणाम अनेक व्यक्तियों की इच्छाओं के संघर्षों में से निकलता है जो स्वय मे जीवन की विशेष परिस्थितियों का प्रतिफल होती है।

(5) ऐतिहासिक घटना तक लाने में अनेक एक दूसरे से बंधी हुई शक्तियाँ कार्य करती हैं।

(6) ऐतिहासिक घटना शक्ति का प्रतिफल है जो बिना किसी इच्छा के चुपचाप कार्य करती है क्योंकि व्यक्तिगत इच्छा एक दूसरे से कट जाती है और जो परिणाम निकलता है वह किसी को पसन्द नही होता।

(7) अतीत का इतिहास प्राकृतिक प्रक्रिया के तरीके से एक ही नियमों के अधीन आगे बढ़ता है।

(8) प्रत्येक इच्छा अपने भौतिक विधान और बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होती है लेकिन इनमें सर्वोपरि बात आर्थिक ही होती है।

(9) परिस्थितियाँ (चाहे व्यक्तिगत अथवा सामाजिक) इच्छानुसार फल प्राप्त नहीं करती, वे सब सामूहिक निर्णय में परिवर्तित हो जाती हैं और प्रत्येक का इसके निर्माण में न्यूनाधिक मात्रा में योगदान होता है।

(10) युवा लेखक कभी-कभी आर्थिक तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक जोर देते हैं और इसके लिए मार्क्स को और मुझे इन दोनों को भी दोषी ठहराया जा सकता है। हमने तो इस तथ्य पर अधिक जोर उन विरोधियों के कारण दिया था जिन्होंने इसको स्वीकार ही नहीं किया। फिर हमारे पास समय, स्थान और अवसर ही नही रहा जिसका उपयोग दूसरे तत्त्वों के समुचित निर्धारण के लिए किया जाता।

साम्यवाद–लेनिन, स्टालिन और माओ-त्से-तुंग

(Communism—Lenin, Stalin & Mao-Tse-tung)

लेनिन
(Lenin, 1870-1924)

कार्ल मार्क्स और ऐंजल्स के विचारों को धरातल पर उतारने वाला प्रथम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, विचारक और शासक व्लाडीमीर इलिच उलीनोव था, जिसको इतिहास मे केवल लेनिन के नाम से ज्यादा जाना जाता है। उसका जन्म 9 अप्रैल 1870 को रूस मे हुआ था। वह एक क्रांतिकारी परिवार में ही पैदा हुआ था। वे छः बहन-भाई थे जो सभी क्रांतिकारी थे। उन्होने रूस की क्रांति मे भाग लिया था। उसका बडा भाई रूस के सम्राट अलैक्जेंडर तृतीय के विरुद्ध बगावत करने के अपराध मे फाँसी पर चढाया गया था। इसका युवा लेनिन के मस्तिष्क पर जबरदस्त प्रभाव पडा। उसने बी० ए० परीक्षा पास करने के उपरान्त कजान विश्व विद्यालय मे कानून पढ़ने के लिए प्रवेश लिया लेकिन उसके क्रांतिकारी विचारों के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया। 1891 में सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से कानून की परीक्षा पास की। 1894 मे उसने एक पुस्तिका लिखी जिसका शीर्षक था—"The Reflections of Marxism in Bourgeois Literature". 1895 मे वह रूस से बाहर चला गया और वहाँ से उसने क्रातिकारी साहित्य भेजना प्रारम्भ कर दिया। इसी वर्ष वह गिरफ्तार हुआ और उसे 14 महीने की सजा भी हुई लेकिन इससे उसकी क्रांतिकारी गतिविधियों में कोई अन्तर नही आया। उसे 3 वर्ष के लिए साइबेरिया मे निर्वासित कर दिया गया। इस समय में उसने अपने समाजवादी विचारो को स्पष्ट और व्यवस्थित किया। उसने अनेक विदेशी भाषाओं का अध्ययन किया और अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें तैयार कीं। 1900 मे रूस की सोसियल डेमोक्रेटिक पार्टी ने उसको संगठन व प्रचार हेतु बाहर भेज दिया। अगले तीन वर्षों में उसने इस दल को सगठित और अनुशासित किया–और इसे श्रमजीवी क्रांति के महत्त्वपूर्ण यन्त्र के रूप मे तैयार किया। वह यह चाहता था कि यह दल श्रमिकों की तानाशाही स्थापित करे। इसके परिणामस्वरूप यह दल दो गुटों में विभक्त हो गया। लेनिन के अनुयायी बोलशेविक कहलाए जबकि दूसरे गुट के लोग प्लेखनेव के नेतृत्व में

मेनशेविक के नाम से जाने गये। ये दोनों गुट करीब-करीब स्थायी रहे। यद्यपि इन दोनों के उद्देश्यों मे कोई विशेष अन्तर नही था लेकिन साधनों और रण-नीति के निर्धारण को लेकर दोनों में गहरी खाई बनी रही। मेनशेविक तत्काल क्रांति के पक्ष में नही थे। उनका उद्देश्य था कि बुर्जुआ शासन के अधीन ही पर्याप्त काल तक आर्थिक विकास हो और केवल इसके उपरान्त ही देश को श्रमजीवी शासन के लिए तैयार किया जा सकता है। लेकिन लेनिन को लगा कि रूस के लिए पूँजीवाद के इन संकटों मे से होकर गुजरने की कोई आवश्यकता नहीं है और उसकी यह मान्यता थी कि इस अवस्था के बिना ही समाजवादी क्रान्ति सम्भव है। लेनिन का मन्तव्य था कि एक छोटा लेकिन सैनिक गुट इस क्रान्ति को ला सकता है। उसने सोसियल डेमोक्रेटिक पार्टी को इतना संगठित और अनुशासित कर दिया जिसने विश्व की प्रथम साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया। जैसाकि सर्वविदित है कि यह क्रान्ति रूस मे 1917 मे हुई जिसके फलस्वरूप जारशाही का तख्ता उलट दिया गया और श्रमिक सरकार की स्थापना हुई। इस क्रांति ने लेनिन को रूस का सर्वोच्च शासक भी बना दिया। इस अवसर का उसने मार्क्सवाद को रूस की धरती पर कार्यान्वित करने मे उपयोग किया। कोकर ने ठीक ही कहा है कि सोसियल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना से लेकर आगे की दो दशाब्दियों मे वह आश्चर्यजनक गति से श्रमजीवी क्रान्ति की सफलता के लिए संघर्ष-रत रहा और अन्त मे 1917 में विजय की मंजिल को प्राप्त करने मे सफल हुआ। फिर अपनी मृत्युपर्यन्त वह समाजवादी सरकार का सर्वोच्च नेता बना रहा।[1]

लेनिन क्रान्ति का निर्माता और इसका जनक था। उसके लिए कहा जाता है कि वह सीजर के बाद मे विश्व का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति हुआ है। चेम्बरलेन ने लेनिन के बारे मे कहा है कि उसने नेपोलियन के समय से लेकर अबतक के इतिहास की प्रक्रिया को ही बदल दिया।[2] लेनिन की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी जो जीवन के अनेक क्षेत्रों मे मुखरित हुई। संगठक, सैनिक नेता, राजनीतिक नेता, शासक के साथ ही साथ वह एक महान् विचारक और दार्शनिक भी था। बुखारिन ने उसे एक शक्तिशाली सिद्धान्तवेत्ता कहा है।[3] लेनिन ने केवल मार्क्स को धरातल पर उतारा ही नही उसने रूस के सन्दर्भ मे उसे समझा भी। यदि उसको क्रान्ति के नेता और शासक के रूप में एक क्षण के लिए ओझल भी कर दिया जाए तो भी एक लेखक के रूप मे उसका स्थान इतिहास मे सुरक्षित है। उसने विचारक और लेखक के रूप मे जो अपनी प्रतिभा का परिचय दिया वह उसकी पुस्तकों मे मिलता है। उसकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें निम्नलिखित हैं—

1. The Revolution of 1917.
2. Left Wing Communism.
3. An *Infantile* Disorder.

1. *Coker* : Recent Political Thought, op. cit., p. 156.
2. *Chamberlain, W.H* : Soviet Russia-A Living Record in History, 1930, p. 83.
3. *Bukharin* : Lenin as a Marxist, p 5

4. The Proletarian Revolution and Kautsky Renegade.
5. The Soviets at Work.
6. The State and Revolution.
7. One Step Forward, Two Steps Back.
8. Imperialism : The Highest Stage of Capitalism.

लेनिन के विचार

प्रायः लेनिन को मार्क्स का अनुयाई ही कहकर छोड़ दिया जाता है। यह बात सही है कि वह मार्क्स का अनुयायी है लेकिन यह इससे कुछ बढ़कर भी है। यह सच है कि लेनिन ने मार्क्स के एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द को बड़ी श्रद्धा के साथ समझा है। उसने मार्क्स और एँजिल्स को विश्व के उन गिने चुने लेखकों में माना है जिनका एक-एक वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ को लिए हुए है।

सेबाइन ने लिखा है कि "घोषणा की दृष्टि से लेनिन का मार्क्सवाद पूर्णरूप से रूढ़िवादी तथा कट्टर था। वह मार्क्स के सभी वचनों को वेद-वाक्य मानता था। वह अपने विरोधियों के ऊपर सबसे बड़ा आक्षेप यह लगाता था कि वह मार्क्स के अर्थ में मिश्रण करते थे। इसके साथ ही लेनिन सिद्धान्त को सदैव ही कार्य का पथ-प्रदर्शक मानता था। वह ऐसा मानता था कि मार्क्स का सिद्धान्त कुछ गतिहीन नियमों का संकलन नहीं है बल्कि प्रेरणास्पद विचारों का संकलन है जिससे व्यवहार में आवश्यकतानुसार इसे संशोधित किया जा सकता है लेकिन लेनिन का रूढ़िवाद करनी की अपेक्षा कथनी के लिए अधिक था।"[1] स्टालिन का विचार था कि लेनिन ने मार्क्स को आधुनिक रूप दिया, उसने मार्क्सवाद के पूँजीवादी समाज के विकास पर ध्यान दिया और उन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर, जिनका मार्क्स ने केवल प्रारम्भ ही देखा था, उसकी नीति और सिद्धान्तों का पुनरुत्थान किया।[2] स्टालिन ने तो यहाँ तक कह दिया कि लेनिन का दर्शन मार्क्स का रूसी संस्करण है। सेबाइन ने इस मत से असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि कुछ दृष्टियों से यह सही है कि लेनिन के संशोधन ने मार्क्सवाद में विकास की क्रिया का विशेषकर उन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर जो पूँजीवाद के विकास फलस्वरूप हुए थे—यह भी सही है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने रूसी मार्क्सवादियों को चिन्तित करना प्रारम्भ किया। लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त मे उससे काफी पहले महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए थे। रूस मे मार्क्सवादी दल की सफलता केलिए यह आवश्यक था कि मार्क्सवाद को रूस की परिस्थिति के अनुसार ढाल लिया जाए।....लेनिन का मार्क्सवाद व्यवहार मे बड़ा नमनीय रहता था और वह बड़ी आसानी से ऐसी दिशा ग्रहण कर लेता था जिसे रूसी मार्क्सवादी मार्क्सवाद के बिलकुल विपरीत समझते थे।[3] मार्क्स के लेनिन पर पड़ने वाले प्रभाव को तथा दोनों मे अन्तर को और भी स्पष्ट करते हुए

1. जार्ज एच. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 749.
2. जार्ज एच. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 750.
3. जार्ज एच. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 750-51.

सेबाइन ने बताया है कि यद्यपि लेनिन के सिद्धान्तों में मार्क्स की दुहाई रहती थी लेकिन इन सिद्धान्तों का निरूपण सदैव ही एक विशिष्ट कार्य-पद्धति तथा एक निश्चित परिस्थिति के सन्दर्भ में होता था। इसलिए लेनिन का मार्क्सवाद अत्यधिक रूढ़िवादी भी था और व्यावहारिक भी। उनके इस समन्वय से इतिहासकारों को भी उसी प्रकार से उलझन हो सकती है कि जिस प्रकार कि उनके मार्क्सवादी साथियों को होती थी। सेबाइन का मत है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया।[2] सीधी सी बात है कि लेनिन मार्क्सवाद की रूढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था लेकिन जब रूढ़ियों का व्यावहारिकता से संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।[3]

लेनिन मार्क्स के अनुयायी से बढ़कर इस अर्थ में है कि उसने परिवर्तित परिस्थितियों मे मार्क्सवाद को स्पष्ट किया, समझाया और लागू किया। मार्क्स को वास्तव में एकाधिकार पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से उत्पन्न पेचीदगियों का प्रत्यक्ष अनुभव न था।[4] अलेक्जेन्डर ग्रे ने ठीक ही कहा है कि लेनिन ने हो सकता है कि मार्क्सवाद के मौलिक तत्त्वों को परिवर्तित न किया हो, लेकिन यह एक मान्य विचार है कि उसने साम्राज्यवाद के युग में मार्क्सवाद को इसे लागू करने की दृष्टि से योगदान दिया है। इस अर्थ में लेनिनवाद मार्क्स के मार्क्सवाद का विस्तार है।[5] इस प्रसंग में स्टालिन का महत्त्वपूर्ण वाक्य भी उद्धृत किया जा सकता है कि "लेनिनवाद, साम्राज्यवाद और श्रमिक क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद ही है।"[6]

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि लेनिन द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद ही एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए स्फूर्ति-केन्द्र बना। लेनिन के मुख्य विचारों को समझने के पूर्व हम मार्क्स के उस पर पड़े प्रभाव और परिस्थितियोंवश लेनिन द्वारा मार्क्सवाद की व्याख्या को संक्षेप में समझाने का प्रयास करते हैं। जिसे लेनिनवाद कहा गया है उसके बारे में निम्नलिखित तीन परिभाषाएँ उद्धृत की जाती हैं :—

(1) लेनिनवाद मार्क्सवाद के उन सिद्धान्तों का नाम है जिन्हें तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में लागू किया गया।

1. जार्ज एच० सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 757.
2. जार्ज एच० सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 790.
3. जार्ज एच० सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 790.
4. Left Wing Communism, p. 49, LLL No. 16.
5. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 460.
6. "Leninism is Marxism of the era of Imperialism and of the proletarian revolution". —*Stalin*

(2) लेनिनवाद मार्क्सवाद को क्रांतिकारी पक्ष के व्यावहारिक पुनरुत्थान है।

(3) जैसा कि स्टालिन ने कहा, लेनिनवाद साम्राज्यवाद एवं श्रमजीवी क्रांति का मार्क्सवाद है।

इस समस्या को सेबाइन के इन शब्दों में और भी स्पष्ट किया गया है—सेबाइन का कथन है कि मार्क्सवाद ने लेनिन के चिंतन में दो भूमिकाएँ अदा की हैं और साम्यवाद के क्षेत्र मे उसकी ये भूमिकाएँ अब भी चल रही हैं। एक ओर तो यह एक रूढ़ि, एक निरपेक्ष और अकाट्य सिद्धान्त था जिसका मुख्य कार्य एक लक्ष्य के लिए अविश्रात भाव से कार्य करना था। दूसरी ओर यह व्याख्याओं और उपकल्पनाओं का संकलन था और उसका उद्देश्य राजनीतिक नीति को दिशा देना था।[1] हाँ, अनुभवों के आधार पर एवं अनुभव के प्रकाश में उसमे आवश्यकतानुसार संशोधन हो सकता था। इन दो प्रतियों के बीच लेनिन की यह व्याख्या तैयार रहती थी कि कोई भी नीति, चाहे वह कितनी ही अप्रत्याशित क्यों न हो, वास्तव में मार्क्सवाद से हटकर नहीं होती थी। वह सदैव ही मार्क्सवाद के वास्तविक अभिप्राय को ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती थी।

पूँजीवादी साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में लेनिन का सिद्धान्त

लेनिन ने अपनी पुस्तक "Imperialism : The Highest Stage of Capitalism" में साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का चरमोत्कर्ष बताया। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उसने इस प्रकार किया। उसका कथन था कि ज्यों ही पूँजीवाद पनपता है, औद्योगिक इकाइयाँ बड़ी होती जाती हैं, विभिन्न पूँजीवादी प्रतिष्ठानों में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है और अन्ततोगत्वा एकाधिकार पूँजीवाद का जन्म होता है। बैंक पूँजी के स्वामी बन जाते हैं, इस पूँजी का उपयोग चन्द पूँजीपति करते हैं। यह पूँजी तीव्र गति से बढ़ती है जिसके तीन परिणाम निकलते हैं—(1) इससे उपनिवेशवासियों का शोषण होता है जिन्हें पूँजीवादी कानून गुलामी की जंजीरों में आबद्ध कर लेता है, (2) इससे देशों के बीच युद्ध छिड़ जाता है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा पर आधारित है। अपने माल के निर्यात के लिए बाजार ढूँढने की होड़ इस स्पर्द्धा को जन्म देती है, (3) अन्ततोगत्वा यह स्पर्द्धा पूँजीवाद के विनाश के बीज बोती है और साथ ही एक नूतन व्यवस्था को जन्म भी देती है क्योंकि लेनिन का कहना था कि श्रमिकों को दी जाने वाली सैनिक शिक्षा के साथ जो राष्ट्रीय युद्ध प्रारम्भ हुए थे वे वर्ग-युद्धों के रूप में समाप्त होंगे।

स्वयं लेनिन के अनुसार विकास की उस अवस्था में जिसमें एकाधिकार और वित्तीय पूँजी सर्वोपरि रही हो, जिसमे पूँजी का निर्यात महत्वपूर्ण बन गया हो, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय (व्यापारिक) प्रतिष्ठानों के रूप में विश्व का विभाजन प्रारम्भ हो गया हो जहाँ पृथ्वी बड़े-बड़े पूँजीपतियों के बीच बँट गई हो, वहाँ साम्राज्यवाद

1. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 749.

ही पूँजीवाद है।[1] उसने पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट किया। उसने कहा कि पहला विरोध पूँजी और श्रम के बीच है। पूँजी श्रम का शोषण कर श्रमिकों को क्रांति की ओर अग्रसर करती है। दूसरा, विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच विरोध है क्योंकि प्रत्येक शक्ति अपने प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहती है। यह संघर्ष बाजार, नए प्रदेश एवं खनिज पदार्थों को प्राप्त करने के लिए होता है। लेनिन का विचार था कि यह संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच होता है जबकि राष्ट्रीय स्तर पर यह पूँजीपतियों के मध्य चलता है। तीसरा, यह संघर्ष उपनिवेशवाद के विरुद्ध भी चलता है जिसमे विदेशी शासक के विरुद्ध स्थानीय जनता विद्रोह का झण्डा खड़ा करती है। लेनिन ने बताया कि इतना ही नही साम्राज्यवाद श्रमिको के एक छोटे वर्ग को उनके तकनीकी ज्ञान के कारण विशेष महत्त्व देता है जिसके फलस्वरूप एक श्रमिक संभ्रांत वर्ग (Labour Aristocracy) का जन्म भी होता है। उसने बताया कि इस वर्ग को ऊँचा वेतन दिया जाता है, साम्राज्यवादी लूट में कुछ हिस्सा देदिया जाता है ताकि वह क्रांतिकारी कदम को त्याग कर बुर्जुआ वर्ग के साथ गठबन्धन करले। लेनिन की धारणा यह थी कि साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोध इतने हैं कि यह स्वतः मर जाएगा।

लेनिन ने अपने सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्यो से जोड़कर उसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयास भी किया।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित पूँजीवादी साम्राज्यवाद का सार यह है कि पूँजीवाद की एकाधिकारवादी स्थिति का नाम ही साम्राज्यवाद है जिसके पाँच तत्त्व हैं।[2] ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. एकाधिकारवाद—लेनिन के अनुसार खुली प्रतियोगिता सदा बड़े पूँजीपतियो के पक्ष मे होती है जो मशीनो की सहायता से खूब उत्पादन कर लेते हैं। प्रतिस्पर्द्धा मे छोटे पूँजीपति उनके मुकाबले ठहर नही पाते जिसके परिणामस्वरूप वे मनमाने भाव पर सामान को बेचते हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों पूँजी बढ़ती है त्यो-त्यो उत्पादन भी बढ़ जाता है। उत्पादन की खपत जब देश में सम्भव नहीं हो पाती तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बाजारों की तलाश प्रारम्भ होती है जिसकी कि अन्ततोगत्वा उपनिवेशवाद मे परिणति होती है।

2 बैंक पूँजी और उद्योग पूँजी का एकीकरण—लेनिन ने बताया कि उद्योगपति और बैंकर उपनिवेशों मे सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग के लोग होते हैं जो कि साझे का व्यापार करते हैं। ये विदेशो मे स्थानीय पूँजीपतियों को इस शर्त पर पूँजी उधार देते हैं कि वे सारा पक्का माल और मशीनें उन्ही की फर्मों से खरीदेंगे। इस प्रकार वे दोहरा मुनाफा कमाते हैं जिसे बैंकर और उद्योगपति आपस मे बाँट लेते हैं।

1. From Lenin's Selected Works, Vol. II, p. 709.
2. Quoted by Hunt in the Theory and Practice of Communism (Revised edition p. 166.

3. पूँजी का निर्यात—लेनिन के अनुसार पूँजीपति अपनी पूँजी का विदेशों में भारी सूद पर निर्यात करते हैं तथा वे विदेशों में पूँजी लगाकर अपना उद्योग खोलते हैं और वहीं कच्चा माल लेकर उत्पादन भी करते हैं। इस प्रकार अनेक देशों ने और विशेष तौर पर यूरोप के देशों मे जिनमें इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि प्रमुख हैं, पूँजी के निर्यात द्वारा अपना आर्थिक साम्राज्य स्थापित कर लिया।

4. अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारियों द्वारा संसार का बँटवारा—लेनिन ने स्पष्ट तौर पर यह बताया कि बड़े-बड़े पूँजीपतियों की मिलीभगत होती है और वे आपस में प्रतिस्पर्द्धा को कम करने के लिए यह निश्चित कर लेते हैं कि कौन किस चीज का अधिक उत्पादन करे। इस प्रकार अधिक उत्पादन कर ये लोग सारे संसार पर अपने माल का एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और प्रतियोगिता के अभाव मे मनमाना मुनाफा कमाते हैं। मुनाफे को फिर पूँजी के रूप में लगा देते हैं और इस प्रकार ज्यों-ज्यों मुनाफा बढ़ता है त्यों-त्यों पूँजी बढ़ती है और ज्यों-ज्यों पूँजी बढ़ती है त्यों त्यों एकाधिकार बढ़ता जाता है।

5. भौगोलिक आधार पर संसार का बँटवारा—बड़े-बड़े उद्योगपति पारस्परिक प्रतियोगिता को रोकने के लिए संसार को आपस में भौगोलिक आधार पर अपना माल बेचने के लिए बाँट लेते हैं और यह तय कर लेते हैं कि किसका माल किन-किन देशों में बिकेगा। यह इसलिए आवश्यक हो जाता है कि वे फिर अपना माल उस देश में नही भेजते। इस प्रकार वे अपने–अपने क्षेत्र में एकाधिकार जमा लेते हैं।[1]

आलोचना—लेनिन के इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से ही त्रुटिपूर्ण कहा गया है। वेपर ने कहा है कि लेनिन के साम्राज्यवाद का सिद्धान्त मार्क्स के विरुद्ध की गई आलोचनाओं[2] का समुचित उत्तर है। लेकिन यह मौलिक रूप से ईमानदारी से दूर इस प्रकार है कि स्वयं मार्क्स ने इसकी विशेषतौर पर भर्त्सना की थी····प्रक्रिया के परिणाम स्वय प्रक्रिया के पूर्व नही आ सकते। लेनिन ने ठीक इसी प्रकार रखा है।[3] लेनिन ने अपने तर्क की पुष्टि हेतु साम्राज्यवाद प्रारम्भ की तिथि भी ठीक नहीं बताई। औद्योगिक और वित्तीय संस्थानों के राजनीतिक परिणामों का प्रभाव बीसवीं सदी की प्रथम दशाब्दी मे देखने को मिला लेकिन लेनिन ने दूसरी तिथि बहुत पहले ही रखी।

लेनिन के इन सिद्धान्तों में सत्यांश है लेकिन वह निर्विवाद नहीं है। ग्रेट-ब्रिटेन का विश्व में सबसे बड़ा साम्राज्य था लेकिन उसका आर्थिक वर्चस्व आच्छादित नहीं हुआ जैसा कि लेनिन ने कहा है। निर्यात का भी साम्राज्यवाद से सबंध है

1. *Fmile Burns* : What is Marxism
2. *Wayper C. L.* : Political Thought, p. 219.
3. Quoted by Hunt in the Theory& Practice of Communism (Revised edition), p. 166.

लेकिन इतना नहीं जितना लेनिन ने बताया। उदाहरण के लिए स्विट्जरलैंड ने विदेशों को निर्यात किया लेकिन उसका कभी साम्राज्य नहीं बना। स्वीडन और डेनमार्क के उपनिवेश नहीं हैं लेकिन फिर भी फ्रांस और बेल्जियम के श्रमिकों की अपेक्षा, जिनके कि उपनिवेश थे, जीवन-स्तर कहीं ऊंचा है।

लेनिन का यह कथन भी निर्विवाद नहीं है कि केवल पूंजीपति ही अपनी सरकार को युद्ध के लिए बाध्य करते हैं। कई बार यह देखा गया कि पूंजीपति युद्ध नहीं चाहते, राजनीतिज्ञ चाहते हैं। युद्ध के पीछे भावनात्मक राष्ट्रवाद की प्रबल शक्ति को नहीं भुलाया जा सकता। वेपर ने लेनिन के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उसका कथन है कि लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त जहाँ तक मार्क्सवाद के समर्थन में है, ईमानदारी और सत्य से परे है और जहाँ तक यह सही है वहाँ यह मार्क्स के बचाव में न होकर उसकी शिक्षाओं का प्रभावशाली ढंग से शिक्षाओं का त्याग देता है।

लेनिन का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संबंधी विचार

लेनिन ने मार्क्स पर हुए प्रहारों को दृष्टिगत रखते हुए उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को फिर से समझाया। इस दृष्टि से उसने अपनी पुस्तक 'Materialism and Empiric Criticism' में इसको स्पष्ट किया। सेबाइन के अनुसार लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्च ज्ञान बना दिया जिसमें समस्त विज्ञानों के गहनतम प्रश्नों को समझने की क्षमता थी। उसने एंजिल्स के इस विचार से सहमति व्यक्त की कि दर्शन या तो आदर्शवादी होगा या भौतिकवादी। उसने आदर्शवादी दर्शन को ढोंग, धोखे एवं शोषण पर आधारित बताया जबकि भौतिकवादी दर्शन को श्रेयस्कर एवं यथार्थ।

सेबाइन ने लेनिन के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"लेनिन के मत से *द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सामाजिक विज्ञान की अपेक्षा* प्राकृतिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध था। लेनिन का आग्रह था कि दर्शन और सामाजिक शास्त्र अनिवार्य रूप से पक्षधर होते हैं। अर्थशास्त्र के अध्यापक पूंजीपति वर्ग के वैज्ञानिक विक्रेता होते हैं और दर्शन शास्त्र के अध्यापक धर्मशास्त्र के। समाज का वैज्ञानिक सिद्धान्त आर्थिक और ऐतिहासिक विकास के वस्तुपरक तर्क की सामान्य रूपरेखा मात्र प्रस्तुत कर सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यही काम करता है। दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति में निष्पक्षता अथवा वैज्ञानिक निराशक्ति केवल एक बहाना है जिसका उद्देश्य निहित स्वार्थों की रक्षा करना है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के चौखटे में सामाजिक विज्ञान की दो प्रणालियाँ हैं—एक प्रणाली मध्यवर्ग के हित में है तथा दूसरी सर्वहारा के हित में है। पूंजीपति तथा सर्वहारा वर्गीय साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी विभाजन दिखाई देता है। सर्वहारा वर्ग के सामाजिक विज्ञान की उच्चता का यह आधार नहीं है कि वह अधिक यथार्थ है अथवा

व्यावहारिक दृष्टि से अधिक विश्वसनीय है प्रत्युत यह है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति सर्वहारा वर्ग को 'उदयशील' वर्ग घोषित करती है—एक ऐसा वर्ग जो सामाजिक प्रगति में सब से आगे है। मध्यवर्ग की कोशिश सदा यह रहती है कि वह पूँजीवाद को साम्यवाद के रूप में न बदलने दे। इसलिए, उसका विज्ञान गतिहीन, पतनशील और प्रक्रियावादी है। इस प्रकार, वैज्ञानिक साक्ष्य के अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही वैज्ञानिक निष्कर्षों की सच्चाई को और कला के सौन्दर्यपरक मूल्य को निर्धारित करता है। कहने का सार यह है कि सामाजिक तथा मानव-विज्ञानों में वस्तुपरक निर्णय जहाँ एक ओर असम्भव है, वहाँ उसको प्राप्त करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। समाज वैज्ञानिक चाहे तो श्रमिक हो चाहे पूँजीपति हो, वह एक विशेष प्रकार का वकील होता है। यदि वह सत्यनिष्ठ है, तो वह पहले अपने विश्वास की घोषणा करता है। वह किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचे, उसका निष्कर्ष अपने प्रारम्भिक विश्वास से प्रभावित रहता है। व्यवहारतः साम्यवादी दल जैसे संगठन द्वारा नियन्त्रित व्यवस्था में, उसके सत्य की कसौटी दल की नीति हो जाती है।"

यदि यह बात समाज के वैधानिक सत्य के बारे में सही है, तो यह राजनैतिक वार्ताओं के तथा विभिन्न सामाजिक समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में भी सही है। ट्राटस्की का कहना है कि जब कोई दल अन्य दलों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो अथवा कोई राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो, तो इन संघर्षों का आधार भी वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही होना चाहिए। वर्ग-संघर्ष एक परम सिद्धान्त है। वह अस्थायी रूप से धूमिल पड़ सकता है, लेकिन उसे कभी हटाया नहीं जा सकता। वर्ग-संघर्ष का शाश्वत तत्त्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का अनिवार्य परिणाम है। द्वन्द्वात्मक पद्धति समाज तथा प्रकृति में अनिवार्य रूप से निहित है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रगति अन्तर्विरोधों के माध्यम से होती है। यह संघर्ष कुछ समय के लिए केवल तभी रुक सकता है जब कि एक दल प्रधान बन गया हो। इसलिए, बातचीत का उद्देश्य संशोधन, समझौता या पारस्परिक विचार विनिमय नहीं है। ये चीजें तो असम्भव हैं। बात-चीत का मुख्य उद्देश्य यह है कि नीति की दृष्टि से लाभ की स्थिति को प्राप्त किया जा सके जिससे कि दुबारा संघर्ष आरम्भ होने पर लाभान्वित हुआ जा सके। 1938 में स्टालिन ने द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का अविकृत विवरण प्रस्तुत किया। इसमें वह एंजिल्स तथा लेनिन के पद-चिन्हों पर चला था लेकिन उसने द्वंद्वात्मक पद्धति तथा नीति के सम्बन्धों पर जोर दिया था।[1]

द्वंद्वात्मक पद्धति का अभिप्राय यह है कि निम्न स्तर से उच्च स्तर का विकास संघटना के एक समर सत्तापूर्ण प्रस्फुटित रूप में नहीं होता, वह वस्तुओं तथा संघटनों में निहित अन्तर्विरोधों के उद्घाटन के रूप में होता है, वह विरोधी प्रकृतियों के संघर्ष के रूप में होता है। ये विरोधी प्रवृत्तियाँ इन अन्तर्विरोधों के रूप

1. *Lenin :* Selected Writings, p. 410-412.

में कार्य करती हैं। अतः नीति विषयक गलती से बचने के लिए व्यक्ति को श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के हितों मे समन्वय की सुधारवादी नीति का नहीं, पूंजीवाद तथा समाजवाद के विकास की समझौतावादी नीति का नहीं, प्रत्युत समझौता न करने की सर्वहारा वर्ग की नीति का ही सदैव अनुसरण करना चाहिए।

आलोचना—लेनिन द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्धित सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की गई है। ऐसा कहा जाता है कि उसने मार्क्स के बचाव में इस सिद्धान्त को अपने ढंग से रखने का प्रयास किया लेकिन वह इस दृष्टि से कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दे पाया। इस संबंध में यह कहा जाता है कि मार्क्स को समझाने की प्रक्रिया में न वह मार्क्स के साथ ही न्याय कर पाया और न वह अपनी बात ही कह सका। वेपर ने यही कहा है कि लेनिन का यह सिद्धान्त भयंकर रूप से शुष्क, बार-बार दोहराता हुआ, कट्टर एवं छिछला सर्वेक्षण है, भौतिकवाद को भद्दे ढंग से प्रस्तुत किया गया है जो पयुअरबाद के भौतिकवाद से मुश्किल से ही पृथक् है जिसकी मार्क्स ने आलोचना की थी।[1]

लेनिन का दल संबंधी सिद्धान्त

कहा जाता है कि लेनिन का सबसे बड़ा योगदान उसका दल संबंधी सिद्धान्त है। यह तो लिखा ही जा चुका है कि लेनिन एक महान् संगठक और प्रतिभावान प्रचारक था। दल के संगठन से संबंधित उसका ज्ञान अपरिमित था। कार्ल मार्क्स ने श्रमिकों पर वर्ग चेतना के निर्माण पर अधिक जोर दिया तो लेनिन ने दलीय संगठन को। उसका विचार था कि कोई भी क्रांति एक सुदृढ़ और सुसंगठित दल के बिना संभव नहीं है। उसने बताया कि श्रमिक वर्ग के पास संगठन के बिना संघर्ष-कार्य मे और कोई हथियार नहीं है। पूर्णतया गरीबी में ढकेल दिए जाने के उपरांत श्रमिक इसके परिणामस्वरूप अनिवार्य तौर पर एक अजेय शक्ति के रूप में अवतरित हो सकते हैं। मार्क्सवाद में ग्रहण किया गया वैचारिक आधार श्रमिक वर्ग के लाखो व्यक्तियों को संगठित होने मे सहायक होगा।

'लेनिन की दल के बारे में क्या कल्पना है यह उसके इन शब्दों में अभिव्यक्त की जाती है। उसके अनुसार साम्यवादी दल श्रमिक वर्ग का वह भाग है जो बड़ा ही उन्नत है, जिसमें वर्ग की अधिकतम चेतना है और इसलिए सर्वाधिक क्रांतिकारी है। स्वाभाविक चयन के आधार पर साम्यवादी दल सर्वश्रेष्ठ, अत्यधिक जागरूक, निष्ठावान और दूरदर्शी कार्यकर्त्ताओं का सगठन है। साम्यवादी दल के श्रमिक वर्ग के हितो के अतिरिक्त अन्य कोई हित ही नही है। साम्यवादी दल श्रमिक वर्ग से केवल इस अर्थ मे भिन्न है कि इसे श्रमिक वर्ग के ऐतिहासिक मार्ग का पूर्ण ज्ञान है और सड़क के हर मोड का ध्यान है, पृथक्-पृथक् व्यवसायों के हितों के संरक्षण से इसका कोई सरोकार नही है बल्कि सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग हित ही इसका उद्देश्य है।

1. *Wayper C. L.* : op. cit., p. 221.

साम्यवादी दल संगठनात्मक और राजनीतिक यंत्र है जिसे श्रमिक वर्ग का सबसे उन्नत भाग श्रमजीवियों एवं अर्द्ध-श्रमजीवियों को सही रास्ते पर लाने में प्रयोग करता है।[1]

लेनिन द्वारा प्रतिपादित दल के सिद्धान्त का गहराई से अध्ययन कर सेबाइन ने बताया है कि "दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों और नीतिज्ञ पुरुषों का एक सुसंगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियों का गुट इस अर्थ में है कि उसकी मार्क्सवाद विषयक विद्वता मार्क्स के सिद्धान्त की शुद्धता को कायम रखती है, तथा दल की नीति का पथ प्रदर्शन करती है। यह चुने हुए नीतिज्ञ पुरुषों का संगठन इस अर्थ में है कि चुनाव और कठोर दलगत प्रशिक्षण के कारण ये लोग दल तथा क्रांति के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान हो जाते हैं।"

लेनिन दल में कठोर अनुशासन चाहता था। सेना का अनुशासन भी संभवतः इसके समक्ष फीका पड़ जाय। यह इसलिए आवश्यक था कि दल को बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करना है। 'दल को सही दिशा ढूंढनी है, दुश्वारा को समझना है, आगे आने वाले संकटों से श्रमिकों को परिचित कराना है और इसके लिए आगे की तैयारी करनी है।'[2]

लेनिन द्वारा प्रतिपादित दलीय संगठन 'जनतांत्रिक केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) पर आधारित है। उसके अनुसार जनतांत्रिक केन्द्रवाद के चार अर्थ निकलते हैं—(1) दल के सभी घटकों का निर्वाचन हो, (2) इन घटकों का दलीय संगठन के प्रति समय-समय पर उत्तरदायित्व निर्धारित हो, (3) कठोर दलीय अनुशासन एवं अल्पमत द्वारा बहुमत का सम्मान, एवं (4) उच्च-स्तरीय घटकों द्वारा निम्नस्तरीय घटकों को दिए गए आदेश का उनके द्वारा पूर्ण पालन एवं क्रियान्विति।

लेनिन पार्टी की सदस्यता सीमित रखने के पक्ष में था। इसकी सदस्यता केवल उन लोगों को दी जानी चाहिए जो स्वयं को साम्यवादी सिद्ध कर सकें, जो मार्क्सवाद को भलीभांति समझते हों तथा आवश्यकता पड़ने पर दल के लिए कोई भी त्याग कर सकें। इस प्रकार लेनिन ने दल संबंधी सिद्धान्त को लेकर मार्क्सवाद में सुधार कर दिया। मार्क्स ने साम्यवादी आन्दोलन श्रमिक वर्ग के लिए छोड़ दिया था लेकिन लेनिन ने एक ऐसे दल के निर्माण पर जोर दिया जिसका सैनिक अनुशासन हो एवं जो सर्वहारा वर्ग का केवल क्रांति के दिनों में ही नेतृत्व न करे बल्कि इसके उपरांत भी श्रमिक सरकार बनाकर क्रान्ति के शत्रुओं का सफाया कर दे। संक्षेप में, लेनिन की दल संबंधी धारणा का सार सेबाइन के शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

1. The Communist International 1919-1943 : *Documents Selected and edited by Jane Degra, Vol 1, p 128.*
2. History of the Communist Party of the Soviet Union (Bolsheviks), *Short Course*, New York, 1939, p. 355.

प्रथम, दल के लिए मार्क्सवाद मे सर्वोच्च ज्ञान छिपा है एवं ध्येय तक पहुँचने के लिए द्वंद्वात्मक पद्धति भी इसी में निहित है। द्वितीय, दल सदस्यों से पूर्ण समर्थन चाहता है, उनके केवल दलीय हित होते हैं, व्यक्तिगत न उनकी रुचि है और न हित हैं। तृतीय, चयनित व्यक्तियों का संगठन होने के नाते दल जन-साधारण का संगठन कभी नहीं बन सकता। दल के सदस्य जनसाधारण के मुकाबले नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से बहुत ऊँचे हैं। इनका आदर्श क्रान्ति के प्रति एवं इसके उपरान्त नूतन समाज के निर्माण के लिए पूर्ण समर्पण है। लेनिन द्वारा प्रतिपादित दल पूर्ण अनुशासित है एवं केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर निर्मित है। इसके अन्तर्गत किसी भी घटक को कोई स्वायत्तता प्राप्त नही होती और दल का संगठन कभी भी संघात्मक नही होता (चाहे देश कितना ही बड़ा क्यों न हो)।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित दल के सिद्धान्त के सन्दर्भ मे उसके लोकतांत्रिक केन्द्रवाद के विचार को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वास्तव मे यह नया विचार लेनिन की देन है। इस शब्द की व्याख्या मे लेनिन के संगठन और उसकी प्रकृति का आभास मिल जाता है। इस विचार को देने के पीछे लेनिन का आशय यह था कि दल मे अनुशासन रहे, वैचारिक आधार सभी सदस्यो को बांधे रखे तथा उच्च स्तर के व्यक्तियों एव निकायों के आदेश का पूर्ण पालन हो। लेनिन यह नहीं चाहता था कि दल में इतनी स्वतन्त्रता आ जाय कि उसके उद्देश्य ही समाप्त हो जाएँ। वह यह मानता था कि दल का कार्य यह है कि वह मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रकाश में नीति-निर्धारण करे और विभिन्न विचारों की शुद्धता के बारे में निर्णय दे। लेनिन की सिद्धान्त की शुद्धता और दल की कठोरता मे आस्था थी। वह यह मानता था कि महत्वपूर्ण निर्णय केवल कुछ शुद्ध व्यक्ति ही ले सकते हैं और अन्य लोगों को उन्हें मानना होता है। शुद्ध व्यक्तियों से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो मार्क्सवाद में पूर्ण निष्ठा रखते हैं और दल के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकते हैं। शुद्ध चिन्तन से उसका अभिप्राय मार्क्सवादी विचारधारा से है जिसको उसने स्वयं ने समझाया है। इस प्रकार लेनिन सगठन में वाद-विवाद और स्वतन्त्रता की विशेष गुंजाइश नहीं मानता था। जो निर्णय ले लिया गया है उसको लागू किया जाना ही दल के सदस्यों का परम धर्म है। पार्टी के निर्णय को वेद-वाक्य मानकर उसे शिरोधार्य करना ही आवश्यक है।

लोकतांत्रिक केन्द्रवाद मे लोकतांत्रिक शब्द का प्रयोग अत्यन्त सीमित अर्थ में होता है जब कि केन्द्रवाद शब्द को अधिक महत्ता है। यह लोकतांत्रिक केवल इसी अर्थ में है कि नीचे के निकायों का उच्चस्तरीय निकायों के चयन में थोड़ा हाथ रहता है। लेकिन इसके उपरान्त लोकतान्त्रिक तत्व का अस्तित्व नहीं रहता, फिर केन्द्रवाद ही केन्द्रवाद है। सैनिक अनुशासन की भाँति दलीय अनुशासन होता है जहाँ उच्चस्तरीय व्यक्ति अथवा संस्था का निम्नस्तरीय व्यक्ति अथवा संस्था को आदेश मानना पड़ता है। इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन और मतभेद को कहीं कोई गुंजाइश

नहीं रहती। सार यह है कि लेनिन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त में केन्द्रवाद ही अधिक है और जनतन्त्र धूमिल हो जाता है। लेनिन का मत था कि दल के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि उसका संगठन बहुत अधिक केन्द्रीकृत अथवा सोपानबद्ध हो, उसमें सत्ता का प्रसार ऊपर से नीचे की ओर होना चाहिए। उसके अनुसार दलगत संगठन में लोकमत व्यर्थ और हानिकारक होता है। उसने दल के विभिन्न निकायों को कभी स्वायत्तता देना उचित नहीं समझा। यह स्वायत्तता केवल उतनी है जहाँ तक उच्चस्तरीय निकाय द्वारा कोई आदेश नहीं आता। इस प्रकार उस केन्द्रवाद में संगठन दल का स्थान ले लेता है, केन्द्रीय समिति संगठन का स्थान ले लेती है और अधिनायक केन्द्रीय समिति का स्थान ले लेता है।[1]

आलोचना—नि.सन्देह, लेनिन का दल संबंधी सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह साम्यवादी विचारधारा को एक बड़ा योगदान है। लेकिन यह दो दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण कहा जाता है। प्रथम, दल को चन्द चयनित बुद्धिजीवियों एवं अनुशासित व्यक्तियों का संगठन बना देना घातक हो सकता है। हो सकता है कि सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त यह एक महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली व्यक्तियों का वर्ग बन कर रह जाय जिनका उद्देश्य समस्त सत्ता को केन्द्रित कर दल और उसके माध्यम से सरकार एवं देश पर अपना वर्चस्व आच्छादित करना हो जाए। व्यवहार में, यह देखा गया है कि चन्द लोगों ने श्रमजीवियों के नाम पर सारी सत्ता पर अपना नियन्त्रण कर लिया है और फिर इनको हटाना एक दुष्कर कार्य है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्टेन्ड रसल ने ठीक ही कहा है कि साम्यवादी दल अपने में एक वर्ग बन जाता है और यह शेष समाज से पृथक् रहता है, सब इसके सदस्य बन नहीं पाते हैं, फिर कैसे यह एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करेगा?

दूसरी बात यह कि साम्यवादी दल के संगठन को जनतांत्रिक केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर आधारित कैसे कहा जा सकता है? नि.सन्देह इसे केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर निर्मित कहा जाना चाहिए क्योंकि इसमें करीब-करीब सभी निर्णय ऊपर से ही लादे जाते हैं और सेना के अनुशासन की भाँति दल का भी अनुशासन होता है। जैसा कि कहा भी जा चुका है कि उच्चस्तरीय घटक के आदेश को निम्नस्तरीय घटक के लिए पालन करना आवश्यक है। यदि बहुत उदार दृष्टिकोण भी अपनाया जाय तो भी यह कहा जायगा कि इसमें केन्द्रवाद का प्रभुत्व है, लोकतंत्र तो नाममात्र का ही है।

श्रमजीवी अधिनायकवाद के विषय में लेनिन के विचार

लेनिन ने श्रमिक वर्ग की तानाशाही को दो भागों में बाँटा और दोनों ही अवस्थाओं में इसका उपयोग भी देखा। प्रथम भाग वह है जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था

1. Quoted by Wolfe in his "Three men who made a revolution", 1948, p. 253.

को बदलने के लिए यह तानाशाही क्रान्ति के यन्त्र के रूप मे काम आती है और दूसरा भाग यह है कि एक बार श्रमिकों की सरकार स्थापित हो जाने के बाद में यह संक्रमणकालीन राज्य के रूप में इसका उपयोग होता है।

लेनिन ने मार्क्स के सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सिद्धान्त को स्वीकार किया लेकिन अपनी ओर से उसने इसमे एक योगदान दिया जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण था। उसने इसे साम्यवादी दल की तानाशाही के रूप में परिवर्तित कर दिया क्योंकि पार्टी ही लेनिन के अनुसार श्रमिको और सर्वहारा वर्ग का उच्चतम भाग है। वेपर ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यदि लेनिन सही है और मार्क्स इस बात मे गलत कि श्रमिक क्रान्तिकारी जागरूकता विकसित कर नही सकते बल्कि उन्हे ऐसा करने के लिए कहा जाए तो इसका अर्थ यह हुआ कि यदि श्रमिको के शिक्षित होने के पूर्व क्रान्ति आ जाती है तो वे इसे नियन्त्रण मे नही ला सकेंगे और न वे क्या किया जाय इस बात को जानेंगे। इसलिए क्रान्तिकारियों का छोटा-सा सुशिक्षित, अनुशासित एक निकाय सत्ता को प्राप्त करके और उसे उनके उच्च ज्ञान और क्रान्तिकारी चेतना के मुताबिक प्रयोग करे और उसकी श्रमिक वर्ग की तानाशाही इस प्रकार से श्रमिक वर्ग पर बन जाती है।[1]

स्टालिन ने लेनिनवाद की आधारशिला समझाते हुए लिखा है कि श्रमिको की तानाशाही श्रमिक आन्दोलन का यन्त्र, इसका अंग, इसका मुख्याधार है जिसका उद्देश्य सर्वप्रथम शोषणकर्त्ताओ को उखाड़ फेंकना तथा श्रमिक क्रान्ति को प्राप्त करना एवं द्वितीय श्रमिक क्रान्ति को पूर्ण करना है।[2] स्वयं लेनिन के शब्दो मे श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही वह शक्ति है जो श्रमजीवी वर्ग मे बुर्जुआजी शक्ति, जिस पर कोई भी कानूनो का नियन्त्रण नहीं है, के विरुद्ध जीती है और इसे सुरक्षित रखती है।[3]

लेनिन को संसदीय जनतन्त्र और उसके अन्तर्गत पलने वाली दलीय व्यवस्था से घृणा थी। दलों की आवश्यकता तो ऐसे समाज मे होती है जहाँ विभिन्न मत हों और वह भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी हितों और स्वार्थों मे बटा हो। लेनिन का विचार था कि ये पूंजीवादी व्यवस्था मे स्वतः पनपती है क्योंकि संसदीय जनतन्त्र की प्रवृत्ति बुर्जुआजी है। लेनिन संसदीय जनतन्त्र के अन्तर्गत व्याप्त बहुमत दल को बहुमत का प्रतीक नही मानता क्योंकि यह पूंजीपतियों द्वारा रचा हुआ षड्यन्त्र है। वह इस बात को मानता था कि बहुमत यदि हो तो भी तानाशाही आवश्यक है क्योंकि हमे इसके द्वारा प्रतिक्रियावादियों को भयभीत करना है और बुर्जुआजियो के विरुद्ध सशस्त्र लोगों की सत्ता को बनाए रखना है।[4] लेनिन इस मत मे विश्वास रखता था कि दमन के बिना बुर्जुआजी नहीं समाप्त होगी और श्रमजीवी वर्ग को

1. *Wayper, C L.* : Op. cit , p. 227.
2. *Stalin* : Foundation of Leninism, p. 50.
3. *Lenin* : The Proletariat Revolution and the Renegade, Kautsky, p 19, L L L. 18.
4. *Lenin* : The Proletariat Revolution and the Renegade, Kautsky, p. 34.

इसके शत्रुओं का शक्ति के द्वारा दमन किए बिना और बुर्जुआ वर्ग की कमर को तोड़े बिना श्रमिक वर्ग को विजयश्री नहीं मिल सकती। जहाँ बलपूर्वक दमन किया जाता है और जब स्वतन्त्रता नहीं होती तो वहाँ निश्चय ही जनतन्त्र भी नहीं होता। लेनिन राज्य के भी विरुद्ध था क्योंकि जब तक राज्य है तब तक कोई स्वतन्त्रता नहीं है, जहाँ स्वतन्त्रता स्थित है वहाँ कोई राज्य नहीं होगा।[1]

संसदीय व्यवस्था पर लेनिन के विचार

अन्य साम्यवादियों की भांति लेनिन भी संसद को पूँजीवादी राज्य का एक अंग मानता था। मार्क्स का स्पष्ट मत था कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य का काम पूँजीपतियों के वर्चस्व को बनाए रखना है। एक बार सत्ता श्रमिकों के हाथ में आने पर कोई भी गैर श्रमिक संगठन प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा और इसलिए फिर भी उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लेनिन ने मार्क्स के पद-चिह्नों पर चलते हुए *बताया कि कुछ वर्षों में यह निश्चित करना कि सत्तारूढ़ वर्ग के कौन* लोग अब संसद में जाएँगे, यही बुर्जुआ संसदात्मक व्यवस्था का सार है, इसमें संसद जनता को मूर्ख बनाती है।[2] उसने अपने 'Left-Wing Communism' में संसदीय व्यवस्था को ऐतिहासिक दृष्टि से विनष्ट व्यवस्था बताई। उसने श्रमिक तानाशाही को ही वास्तविक जनतन्त्र कहा। लेनिन के नेतृत्व में द्वितीय कांग्रेस द्वारा संसदीय व्यवस्था से सम्बन्धित स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि आगामी समाज के *लिए साम्यवाद संसदीय व्यवस्था को ठुकराता है और नहीं मानता कि यह श्रमिक* वर्ग के लिए कल्याणकारी है।....साम्यवाद का उद्देश्य संसदीय व्यवस्था को नष्ट करना है। साम्यवाद का संसदीय व्यवस्था से केवल इतना सम्बन्ध है कि यह इसको समाप्त करना चाहता है। लेनिन का स्पष्ट मत था कि संसदीय व्यवस्था श्रमिक वर्ग के शुभचिन्तकों के लिए घृणित है और इससे अधिक घातक और क्रान्ति-विरोधी कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती और इसलिए इसे अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानों से नष्ट करना चाहिए।

अन्त में सालवोडोरी के शब्दों में लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का सार प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) लेनिन ने सभी क्रान्तिकारियों के संसर्ग में समाजवादी समाज की स्थापना हेतु हिंसा के एक अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया,

(2) उसने व्यक्तिगत आतंकवादी साधनों को अपनाने के स्थान पर सामूहिक हिंसा पर बल दिया,

(3) *उसने एक अनुशासित व्यावसायिक क्रान्तिकारियों के सुसंगठित गुट-*निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया जिनमें किसी भी प्रकार के मन-मुटाव या अन्तर्विरोध की गुंजाइश भी न हो,

1. While the state exists there is no freedom, where freedom exists, there will be no state. —*Lenin* : State and Revolution.
2. Quoted by Hunt in 'A guide to Communist Jargion', p 104.

(4) जनसाधारण कभी भी नेतृत्व नही कर सकता यद्यपि अनेक समाजवादी ऐसा मानते थे,

(5) लेनिन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि समाज में राज्य मुर्झा जाएगा स्वीकार कर लिया,

(6) क्रान्ति के होने पर राज्य को एकदम समाप्त कर देने के पक्ष में लेनिन नहीं था, वह इसे समाजवाद की उपलब्धि हेतु भी प्रयोग में लाना चाहता था,

(7) श्रमिक वर्ग की तानाशाही यथार्थ में श्रमिक वर्ग के नेतृत्व करने वाले दल की तानाशाही ही है,

(8) लेनिन ने संसदीय व्यवस्था तथा शक्ति-विभाजन के उदारवादी सिद्धांत का विरोध किया,

(9) लेनिन किसी भी प्रकार के समझौते के पक्ष में नहीं था,

(10) लेनिन अपने दल को बुद्धि-जीवियों एवं ऊँची योग्यता के लोगों का एक निकाय मानता था जो श्रमिक वर्ग का संसदीय जनतन्त्र, पूँजीवाद एवं राष्ट्रवाद के विरुद्ध नेतृत्व करे,

(11) *वह पूर्णतया व्यक्तियों के समूह मे रुचि रखता था,* व्यक्तिवाद में नहीं,

(12) उसके समाजवाद के आदर्श में अटूट श्रद्धा थी। उसमें और जबर्दस्त काम करने की क्षमता थी।

मूल्यांकन

लेनिन का एक विचारक और कर्मठ व्यक्ति के रूप में स्थान इतिहास में सुरक्षित है। उसने मार्क्सवाद को जो योगदान दिया वह महत्वपूर्ण है। आधुनिक साम्यवाद, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही में, उसका बहुत ऋणी है। उसने मार्क्सवाद को धरातल पर उतारा, इसको जीवन, उत्साह और स्फूर्ति प्रदान की। उसके लिए कहा जा सकता है कि वह एक उद्देश्य के लिए जन्मा था और इसके लिए ही मरा भी। अलेक्जेन्डर ग्रे ने कहा है कि उसकी शक्ति एक उद्देश्य को प्राप्त करने में निहित थी और इसे प्राप्त करने के लिए उसमें व्यग्रता थी। अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह कठोर, उग्र, एवं कटिबद्ध था।[1] उसके सहयोगी ट्राटस्की ने उसे एक बहुत बड़ा अन्तर्राष्ट्रवादी माना है। उसके अनुसार "लेनिन का अन्तर्राष्ट्रवाद ऐतिहासिक घटनाओं का व्यावहारिक मूल्यांकन है तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यावहारिक क्रियान्विति भी है। रूस और उसका भाग्य इस ऐतिहासिक संघर्ष में केवल एक तत्व है और इसकी उपलब्धि पर ही समस्त मानवता का भाग्य निर्भर करता है।"[2]

1. *Gray, Alexandar* : The Socialist Tradition, p. 458.
2. *Trotsky & Lenin* : The Political Thought in Perspective by Eb-stein, p. 563.

इसके शत्रुओं का शक्ति के द्वारा दमन किए बिना और बुर्जुआ वर्ग की कमर को तोड़े बिना श्रमिक वर्ग को विजयश्री नहीं मिल सकती। जहाँ बलपूर्वक दमन किया जाता है और जब स्वतन्त्रता नहीं होती तो वहाँ निश्चय ही जनतन्त्र भी नहीं होता। लेनिन राज्य के भी विरुद्ध था क्योंकि जब तक राज्य है तब तक कोई स्वतन्त्रता नहीं है, जहाँ स्वतन्त्रता स्थित है वहाँ कोई राज्य नहीं होगा।[1]

संसदीय व्यवस्था पर लेनिन के विचार

अन्य साम्यवादियों की भांति लेनिन भी संसद को पूँजीवादी राज्य का एक अंग मानता था। मार्क्स का स्पष्ट मत था कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य का काम पूँजीपतियों के वर्चस्व को बनाए रखना है। एक बार सत्ता श्रमिकों के हाथ में आने पर कोई भी गैर श्रमिक संगठन प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा और इसलिए फिर भी उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लेनिन ने मार्क्स के पद-चिह्नों पर चलते हुए बताया कि कुछ वर्षों में यह निश्चित करना कि सत्तारूढ़ वर्ग के कौन लोग अब संसद में जाएँगे, यही बुर्जुआ संसदात्मक व्यवस्था का सार है, इसमें संसद जनता को मूर्ख बनाती है।[2] उसने अपने 'Left-Wing Communism' में संसदीय व्यवस्था को ऐतिहासिक दृष्टि से विनष्ट व्यवस्था बताई। उसने श्रमिक तानाशाही को ही वास्तविक जनतन्त्र कहा। लेनिन के नेतृत्व में द्वितीय कांग्रेस द्वारा संसदीय व्यवस्था से सम्बन्धित स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया कि आगामी समाज के लिए साम्यवाद संसदीय व्यवस्था को ठुकराता है और नहीं मानता कि यह श्रमिक वर्ग के लिए कल्याणकारी है।....साम्यवाद का उद्देश्य संसदीय व्यवस्था को नष्ट करना है। साम्यवाद का संसदीय व्यवस्था से केवल इतना सम्बन्ध है कि यह इसको समाप्त करना चाहता है। लेनिन का स्पष्ट मत था कि संसदीय व्यवस्था श्रमिक वर्ग के शुभचिन्तकों के लिए घृणित है और इससे अधिक घातक और क्रान्ति-विरोधी कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती और इसलिए इसे अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानों से नष्ट करना चाहिए।

अन्त में सालवोडोरी के शब्दों में लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का सार प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) लेनिन ने सभी क्रान्तिकारियों के संसर्ग में समाजवादी समाज की स्थापना हेतु हिंसा के एक अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया,

(2) उसने व्यक्तिगत आतंकवादी साधनों को अपनाने के स्थान पर [illegible] हिंसा पर बल दिया,

(3) उसने एक अनुशासित व्यावसायिक [illegible] के सुसंगठित निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया जिनमें [illegible] के मत-मुटाव [illegible] अन्तर्विरोध की गुंजाइश भी न हो,

1. While the state exists there is no freedom, [illegible] exists, there will be no state
2. Quoted by Hunt in 'A guide to Communist [illegible] Revolution.

(4) जनसाधारण कभी भी नेतृत्व नहीं कर सकता यद्यपि अनेक समाजवादी ऐसा मानते थे,

(5) लेनिन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि समाज में राज्य मुर्झा जाएगा स्वीकार कर लिया,

(6) क्रान्ति के होने पर राज्य को एकदम समाप्त कर देने के पक्ष में लेनिन नहीं था, वह इसे समाजवाद की उपलब्धि हेतु भी प्रयोग में लाना चाहता था,

(7) श्रमिक वर्ग की तानाशाही यथार्थ में श्रमिक वर्ग के नेतृत्व करने वाले दल की तानाशाही ही है,

(8) लेनिन ने संसदीय व्यवस्था तथा शक्ति-विभाजन के उदारवादी सिद्धांत का विरोध किया,

(9) लेनिन किसी भी प्रकार के समझौते के पक्ष में नहीं था,

(10) लेनिन अपने दल को बुद्धि-जीवियों एवं ऊँची योग्यता के लोगों का एक निकाय मानता था जो श्रमिक वर्ग का संसदीय जनतन्त्र, पूँजीवाद एवं राष्ट्रवाद के विरुद्ध नेतृत्व करे,

(11) वह पूर्णतया व्यक्तियों के समूह में रुचि रखता था, व्यक्तिवाद में नहीं,

(12) उसके समाजवाद के आदर्श में अटूट श्रद्धा थी। उसमें और जबर्दस्त काम करने की क्षमता थी।

मूल्यांकन

लेनिन का एक विचारक और कर्मठ व्यक्ति के रूप में स्थान इतिहास में सुरक्षित है। उसने मार्क्सवाद को जो योगदान दिया वह महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक साम्यवाद, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही में, उसका बहुत ऋणी है। उसने मार्क्सवाद को धरातल पर उतारा, इसको जीवन, उत्साह और स्फूर्ति प्रदान की। उसके लिए कहा जा सकता है कि वह एक उद्देश्य के लिए जन्मा था और इसके लिए ही मरा भी। अलेक्जेन्डर ग्रे ने कहा है कि उसकी शक्ति एक उद्देश्य को प्राप्त करने में निहित थी और इसे प्राप्त करने के लिए उसमें व्यग्रता थी। अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह कठोर, उग्र, एवं कटिबद्ध था।[1] उसके सहयोगी ट्राटस्की ने उसे एक बहुत बडा अन्तर्राष्ट्रवादी माना है। उसके अनुसार "लेनिन का अन्तर्राष्ट्रवाद ऐतिहासिक घटनाओं का व्यावहारिक मूल्यांकन है तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यावहारिक क्रियान्विति भी है। रूस और उसका भाग्य इस ऐतिहासिक संघर्ष में केवल एक तत्त्व है और इसकी उपलब्धि पर ही समस्त मानवता का भाग्य निर्भर करता है।"[2]

1. *Gray, Alexandar* : The Socialist Tradition, p. 458.
2. *Trotsky & Lenin : The Political Thought in Perspective by Eb· ·stein, p. 553.*

मार्क्स के अनुयायी के रूप मे लेनिन के बारे में एक दूसरी धारणा भी है और वह यह कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। इस सम्बन्ध में सेबाइन और वेपर के विचार उद्धृत किए जा रहे हैं—

सेबाइन का कथन है कि वास्तविकता यह है कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। प्रथम मार्क्स का विचार था कि आर्थिक व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र उत्पादन-शक्तियों के आंतरिक विकास के द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा इसे मजदूरों की इच्छा के द्वारा और क्रमबद्ध आयोजना के द्वारा यूरोप के सबसे कम औद्योगिक देश मे स्थापित किया जा सकता है। दूसरे, मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज मे उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्ति लाभ करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर वर्ग अपनी विचारधारा के मध्यवर्गीय बुद्धि-जीवियों को शिक्षा से प्राप्त करता है। तीसरे, मार्क्स के मत से समाजवादी दल मे संसार भर के मजदूर शामिल होते हैं। लेनिन ने साम्यवादी दल को पेशेवर क्रान्तिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया। इसमें नेतृत्व कुछ चुने हुए स्वयं भू-नेताओं के हाथ मे रहता है। चौथे, मार्क्स का विचार था कि पहले पूँजीवादी क्रांति होती है और जो राजनैतिक लोकतंत्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रांति होती है। लेकिन रूस मे सर्वहारा क्रांति पूँजीवादी क्रांति के साथ-साथ हुई और छः महीने मे ही उसने पूँजीवादी क्रांति को आत्मसात् कर लिया। अन्त मे, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रांति लोकतंत्रात्मक गणराज्य की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम रखेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व मे रूस मे एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार किया। सीधी सी बात है और इसके लिए द्वंद्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है कि लेनिन मार्क्सवाद की रुढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था। लेकिन जब रुढ़ियों का व्यावहारिक संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हे त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।[1] इसी प्रकार वेपर ने भी कहा है कि 'लेनिन मार्क्सवाद का चाहे न्यायोचित व्याख्याता हो, तथापि रूस को उसने जो देन दी है, उसके लिए उसका अतुलनीय महत्व है।' चर्चिल के अनुसार, "लेनिन एक महान् प्रत्याख्याता (... वाला) था। उसने युगो से ईश्वर, राजा, देश, नैतिकता, संधि ... ... विधि, रीति-रिवाज, समझौतो आदि सभी चीजों ...

1. सेबाइन . राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 790.

ढाँचे का निर्माण करते हैं, सबका खण्डन किया। अन्त मे उसने अपना भी खण्डन कर दिया।"[1]

लेनिन की सर्वतोमुखी प्रतिभा भी थी। एक लेखक, विचारक, नेता, शासक, पथ-प्रदर्शक एवं कर्मठ व्यक्ति के रूप मे उसका व्यक्तित्व विकसित हुआ था। लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों को अपने ढग से समझाया और इसमे परिवर्तित परिस्थितियों एवं उन्हें धरातल पर लागू करने की दृष्टि से कुछ परिवर्तन भी किया लेकिन इसमें कोई सन्देह नही कि वह मार्क्स का व्यावहारिक अनुयायी था। उसका साम्यवादी जगत् में वही स्थान है जो मार्क्स का। मार्क्स का यह स्थान साम्यवादी सिद्धान्त के जनक के रूप में है तो लेनिन का इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने वाले के रूप में।

स्टालिन (1879-1953)
(Stalin)

जोसफ स्टालिन का जन्म सोवियत सघ के दक्षिणी प्रदेश जोर्जिया के गोरेगाँव मे 21 दिसम्बर, 1879 मे हुआ था। वह एक मोची का पुत्र था और उसकी प्रारम्भिक शिक्षा एक गिरजे मे हुई जहाँ उसने धार्मिक शिक्षा भी प्राप्त की। लेकिन शीघ्र ही उसका सम्पर्क मार्क्सवाद से हुआ। उसका पिता बहुत शराबी था और बाप-बेटे मे कभी नहीं बनी लेकिन उसकी मां ने उसे अटूट प्यार दिया। यद्यपि वह एक धार्मिक वातावरण मे रहता था लेकिन उसकी रुचि अन्यत्र थी। वह विद्यालय के वातावरण एव जार्ज शाही द्वारा होने वाले दमन से क्षुब्ध था। निम्न परिवार का सदस्य होने के नाते वह दूसरे वर्ग के लोगों द्वारा तिरस्कृत हुआ था। इन्ही सब बातों ने उसके मन मे विद्रोह के बीज बो दिए। उसकी गतिविधियों के कारण उसे धार्मिक विद्यालय से निकाल दिया गया। तुरत ही 1903 मे वह बोलशेविक दल मे शामिल हो गया और शीघ्र ही लेनिन का कृपापात्र बन गया। वह अनेक बार जेल गया लेकिन उसने लेनिन का साथ कभी न छोड़ा और धीरे-धीरे दल की उच्चस्तरीय समितियों की सदस्यता उसे प्राप्त हुई। लेनिन के बाद वह रूस का सबसे बड़ा क्रांतिकारी एवं साम्यवादी दल का नेता माना जाने लगा। एक अनुमान के अनुसार 1902-1903 के बीच स्टालिन 8 बार पकड़ा गया। उसमे से 7 बार निष्कासित किया गया जिसमें से 6 बार वह बचकर भाग निकला। साम्यवादी दल 1903 में लन्दन में हुए एक सम्मेलन के अन्तर्गत दो भागो मे बँट गया—एक मैनशेविक दल और दूसरा बोलशेविक दल। मैनशेविक दल का नेतृत्व प्लेखनेव कर रहा था जबकि बोलशेविक दल का जो कि बहुसंख्यक दल था, नेतृत्व लेनिन ने किया।

1. *Trotsky & Lenin*: The Political Thought in Perspective by Ebenstein, p. 582.

स्टालिन रूस की क्रांति के समय लेनिन का दायाँ हाथ था और लेनिन ने उसे 'कमीसार ग्रॉफ नेशनलिटिज' बना दिया। इस पद पर रहकर स्टालिन ने सोवियत संघ का वर्तमान स्वरूप निर्धारित किया। 1922 में वह साम्यवादी दल का महासचिव बना ग्रौर 1924 में लेनिन की मृत्यु पर वह उसका उत्तराधिकारी बन गया।

स्टालिन किस प्रकार रूस का सर्वेसर्वा बना यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रौर दिलचस्प घटना है। 1922 में वह दल का महासचिव नियुक्त हुग्रा था, इस पद पर बने रहने के कारण वह दल के महत्त्वपूर्ण कार्यकर्त्ताग्रों के सम्पर्क में ग्राया ग्रौर उसने यथेष्ट ग्रनुभव भी ग्रर्जित किया। उसने दो वर्ष के समय में ग्रपनी ही स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया ग्रौर जब लेनिन की मृत्यु हुई तो उसने सत्ता को दबा लिया। सत्ता के ग्रधिग्रहण के लिए उसका ग्रपने प्रबल प्रतिद्वंदी ट्राटस्की से जबर्दस्त संघर्ष हुग्रा। ट्राटस्की भी बहुत ही शक्तिशाली व्यक्ति था। वह ग्रद्भुत वक्ता ग्रौर लेनिन का कृपापात्र था। जनवरी 1924 में जब लेनिन की मृत्यु हुई उस समय ट्राटस्की मास्को से बाहर था ग्रौर इस ग्रवसर का स्टालिन ने ग्रपने सहयोगियों की मदद से लाभ उठाया। कहते हैं कि लेनिन ग्रपने जीवन के संध्याकाल में स्टालिन से कुछ क्षुब्ध होने लगा था ग्रौर उसने ग्रपने ग्रन्तिम पत्र में जिसे उसका राजनैतिक वसीयत कहा गया, इशारा कर दिया था कि उसका उत्तराधिकारी स्टालिन न हो। लेकिन स्टालिन ने बड़ी ही सफाई ग्रौर चतुराई से इस पत्र में वर्णित लेनिन की इच्छा को दूर करवा दिया। दल के सर्वोच्च ग्रंग पोलिटब्यूरो में स्टालिन के समर्थकों का बहुमत था ग्रौर उन्होंने लेनिन के इस इशारे को यह कहकर टाल दिया कि लेनिन ने स्टालिन की जिन कमियों का जिक्र किया है वे पुरानी हैं ग्रौर ग्रब वह इन कमियों को दूर कर चुका है। लेनिन की मृत्यु के उपरांत उसने दल के शुद्धिकरण पर बल दिया ग्रौर उसकी ग्राड़ में उसने ग्रनेक मठाधीशों को निकाल फेंका ग्रौर नए लोगों को लिया जिसे 'लेनिन भर्ती' कहा जाता है। उसने चतुराई, तत्परता ग्रौर जहाँ ग्रावश्यकता पड़ी वहाँ दमन का भी सहारा लिया।

स्टालिन 1930 तक रूस का सर्वेसर्वा बन चुका था। उसने ग्रपने मुख्य प्रतिद्वंदी ट्राटस्की को 1925 में ही युद्ध-परिषद् की ग्रध्यक्षता से पृथक् कर दिया था। स्टालिन ने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जिसके कारण ट्राटस्की को रूस से भागकर जाना पड़ा। फिर उसने एक-एक कर ग्रपने सभी प्रतिद्वंद्वियों को समाप्त कर दिया ग्रौर ग्रपनी मृत्युपर्यंत वह रूस का सर्वेसर्वा बना रहा।

स्टालिन के विचार

स्टालिन न कोई विचारक था ग्रौर न कोई दार्शनिक ही। उसका बौद्धिक स्तर लेनिन की भाँति उन्नत भी न था। लेकिन उसने लेनिन के उपरान्त रूस में एक सशस्त्र समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कर दी। इस कार्य में मार्क्सवाद-लेनिनवाद उसके लिए स्फूर्ति-केन्द्र रहे लेकिन उसने सैद्धान्तिक कठिनाइयों को ग्रपनी परिस्थितियों

समयानुकूल जिस प्रकार ढाला वही उसका योगदान है। इसी को स्टालिनवाद के नाम से पुकारा जा सकता है। इस दृष्टि से स्टालिन के दो महत्त्वपूर्ण विचार है—(1) एक देश मे समाजवाद को लागू करने का सिद्धान्त, तथा (2) उसका क्रान्ति सिद्धान्त।

स्टालिन का एक देश में समाजवाद का सिद्धान्त

लेनिन के विचारो का स्टालिन ने किसी भी स्थान पर खण्डन नही किया और उसने जो कुछ विचार दिए उनको लेनिन के विचारों के अनुकूल ही बताया। उसकी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Leninism and October Revolution and the Tactics of the Russian Communists' से ही अपने एक देश मे समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्टालिन ने लिखा कि "किसी देश मे समाजवाद की विजय, चाहे वह देश पूंजीवादी तरीकों से अन्य देशों की तुलना मे कम विकसित हो फिर भी वहाँ यह सम्भव है।"[1] उसने केवल श्रमिक वर्ग पर ही जोर नहीं दिया बल्कि उसने कृषको को भी श्रमिक वर्ग में मान लिया। उसने कहा कि हम समाजवाद का कार्य पूर्ण कर सकते हैं और इसके लिए कृषक एव श्रमजीवी वर्ग को साथ लेकर चलना आवश्यक है और ये श्रमिकों की तानाशाही के अन्तर्गत एक समाजवादी समाज की स्थापना मे सहायक होगे।[2]

स्टालिन और ट्राट्स्की के विचारो में एक बहुत बड़ा अन्तर यही था कि स्टालिन एक राज्य मे समाजवाद लाने की बात कहता था जबकि ट्राट्स्की इसे मार्क्सवाद लेनिनवाद के प्रति धोखा मानता था। वह विश्व-व्यापी क्रान्ति और उसके फलस्वरूप समाजवाद की स्थापना की बात कहता था। स्टालिन का मत यह था कि यदि एक राज्य मे समाजवाद की सुदृढ स्थापना हो जाती है तो फिर अन्य देशो मे भी यह सम्भव है और इसलिए वह इस पक्ष मे था कि पहले अपनी सम्पूर्ण शक्ति बिखेरने के स्थान पर उसे एक राज्य में केन्द्रित कर लेनी चाहिए। वह नवोदित समाजवादी राज्य रूस को शत्रुओं से घिरा हुआ मानता था और इसलिए सत्ता प्राप्त करते ही उसने इस बात पर बल दिया कि सर्व-प्रथम रूस मे ही समाजवाद की नीव को मजबूत किया जाए। जोन प्लेमेन्ट्स ने यद्यपि स्टालिन के इस सिद्धान्त को मार्क्सवाद लेनिनवाद के विपरीत बताया है, लेकिन उसने इस बात को स्वीकार किया है कि परिस्थितियों के कारण इसमे कोई सन्देह नही कि वह अधिक व्यावहारिक था। जोन प्लेमेन्ट्स ने लिखा है कि रूस के बाहर श्रमिक क्रान्ति की अनिवार्यता को लेकर निःसन्देह स्टालिन सही था और ट्राट्स्की गलत।

1920 के उपरान्त किसी भी बड़े औद्योगिक देश मे आशा की कोई किरण नहीं बची थी। यदि बोलशेविक लोग इसको लेकर चलते तो बुरी तरह वे असफल होते और विश्व की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ इनके विरुद्ध हो जातीं।[3] इसमें कोई सन्देह

1. Quoted by *Watson* in 'From Lenin to Malenkov', p. 95.
2. Ibid.
3. *John Plamenatz* : German Marxism and Russian Communism, p. 280.

नही कि एक देश मे समाजवाद का नारा देकर रूस एक बहुत बड़ी औद्योगिक और सैनिक शक्ति बन् गया और द्वितीय विश्व-युद्ध के समय यह विश्व की एक महा शक्ति बन गया था। इतना ही नही यह अन्य देशों के लिए एक आदर्श बन गया जिसकी सफलता के कारण लोग इसकी ओर आकृष्ट होने लगे।

स्टालिन का एक देश मे समाजवाद का सिद्धान्त लेनिन के उस लेख के अनुरूप बताया जाता है जिसमें लेनिन ने लिखा था कि रूस मे समाजवाद का विकास देश की आन्तरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नही। स्वयं लेनिन को भी यूरोप की पूँजीवादी शक्तियों के विरुद्ध लोहा लेना पड़ा था और इसका उसके मस्तिष्क पर असर था। वह भी राष्ट्रवादी साम्यवाद की व्यावहारिकता को स्वीकार करने लगा था। स्टालिन का तो दावा था कि लेनिन यदि अपनी पुस्तक State and Revolution को पूरा कर पाता तो अवश्य ही 'एक देशीय समाजवाद' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता, परन्तु वह पुस्तक पूरी करने के पूर्व ही वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है स्टालिन के समय रूस की तत्कालीन परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं और इसलिए वह मानता था कि यदि एक देश रूस मे समाजवाद को जिन्दा रखा जा सके तो विश्व के अन्य भागों में वह स्वयं फैल जाएगा। उसको भय यही था कि यदि समाजवाद का नामोनिशान रूस से मिट गया तो फिर साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शक्तियाँ अन्दर और बाहर दोनों ओर से उसे निगल जाएँगी। इस प्रकार स्टालिन वास्तव मे ट्राट्स्की से स्थायी क्रान्ति पर शान्ति को स्थायी करना चाहता था।

वैसे मार्क्स ने कहा था कि श्रमिक क्रान्ति को विफल करने के लिए पूँजीवादी और साम्राज्यवादी शक्तियाँ सारे प्रयत्न करेंगी और इसलिए वह यह चाहता था कि सभी देशो मे इसका विस्तार हो। ऐसा न होने पर उसको क्रान्ति के असफल होने की आशंका थी। उसने क्रान्ति को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से भी जोडा और एंजिल्स ने इस विचार को अपनी कृतियो में और भी स्पष्ट किया। ट्राट्स्की भी इसी विचार को लेकर आगे बढा और उसने बताया कि रूस जैसे गरीब देश का अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए अन्यथा रूस अकेला पड जाएगा और पूँजीवादी साम्राज्यवादी देश उसे अपने चंगुल में ले लेंगे। स्टालिन का विचार, जैसा कहा जा चुका है, एक देश में ही समाजवादी जड़ों को मजबूत करना था ताकि रूस अन्य देशों मे समाजवाद लाने का बीडा उठाए और समाजवादी हितों का विश्व मे प्रहरी बने। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्टालिन का पक्ष सैद्धान्तिक रूप से अधिक व्यावहारिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक राजनीतिक था।

रूस में समाजवाद को सुदृढ करने के लिए उसने वहाँ की आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में पर्याप्त परिवर्तन किया। उसने पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ किया जिसने देश की कायापलट ही कर दी। इन योजनाओं मे तीन महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ निहित थीं—(1) कृषि-क्रान्ति, जो यन्त्रों के द्वारा सहकारी खेती के रूप में परिणत हुई, (2) औद्योगिक क्रान्ति जिसमें भारी उद्योगों के उत्पादन पर जोर

दिया गया, एवं (3) सैनिक सगठन जिसमें करीब-करीब सभी युवा और शारीरिक शक्ति से सबल व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया गया। स्टालिन का यह विचार था कि एक आधुनिक साज-सज्जा से सुसज्जित विशाल सेना का होना आवश्यक है जो कि देश के अन्दर व्यवस्था को कायम करने में तथा बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने मे समर्थ होगी।

एक देश मे समाजवाद के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की दृष्टि से मार्क्सवाद के अर्थ को जिन क्षेत्रों में प्रभावित किया गया वह निम्नलिखित है—

1. **विश्व-क्रान्ति के विचार में शैथिल्य**—स्टालिन सत्ता-अधिग्रहण करने के कई वर्षो उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के पोषकों का खात्मा करने में लगा रहा। इनमें ट्राट्स्की प्रमुख था। इसके अतिरिक्त उसने चूंकि एक देश मे समाजवाद को लागू करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी, अतः विश्व-क्रान्ति का विचार शिथिल पड़ा रहा।

2. **दल के स्थान पर व्यक्ति की तानाशाही के सिद्धान्त का विकास**—जैसा कि हम देख चुके हैं मार्क्स ने श्रमिक वर्ग की तानाशाही की बात कही थी जिसे लेनिन ने संशोधित कर एक दल की तानाशाही कहा। यद्यपि स्टालिन ने दल की तानाशाही के सिद्धान्त को चुनौती नही दी, लेकिन व्यवहार मे उसने इसे एक व्यक्ति की (स्वय) तानाशाही के रूप मे परिवर्तित कर दिया। जिन परिस्थितियों मे स्टालिन ने सत्ता ग्रहण की थी उनमें उसे आन्तरिक और बाह्य प्रबल शत्रुओं का सामना करना पड़ा था और उनका खात्मा करने का उसने निश्चय किया था। इन परिस्थितियों में वह तानाशाह बना रहा।

3. **केन्द्रीकृत नौकरशाही का उदय**—स्टालिन ने शिखरोन्मुखी अनुशासन का सिद्धान्त दिया जिसके अनुसार दल और शासन सभी जगह निम्नस्तरीय निकाय को उच्चस्तरीय निकाय का आदेश मानना नितान्त आवश्यक था। धीरे-धीरे शक्ति दल की उच्चस्तरीय समितियों में केन्द्रित होने लग गई और पोलिट ब्यूरो दल का सर्वाधिक शक्तिशाली अंग बन गया। इस नीति के परिणामस्वरूप दल मे लोकतन्त्र ह्रास होता चला गया और केन्द्रवाद का बोलबाला हो गया।

विश्व-क्रान्ति के बारे मे विचार

यद्यपि स्टालिन ने एक देश मे समाजवाद के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया, लेकिन फिर भी उसने सैद्धान्तिक तौर पर अपनी आस्था को नही खोया। अपने जीवन के अन्त तक इसने इस विश्वास को बनाए रखा। अपनी पुस्तक 'लेनिनवाद' मे उसने लिखा कि किसी एक देश को यह मानकर नही चलना चाहिए कि वह समाजवाद के शत्रुओं से सुरक्षित है क्योंकि जब तक अनेक सहयोगी समाजवादी देशों की स्थापना न होगी तब तक कोई भी समाजवादी मुल्क सुरक्षित नही रह सकता। 1935 में हुई तीसरी इन्टरनेशनल कांग्रेस (International Congress) में उसने घोषणा की कि 'इस कांग्रेस का बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। इसे पश्चिम-पूर्व अमेरिका तथा उपनिवेशों एवं अर्द्ध-उपनिवेशों के करोड़ों श्रमिकों के लिए [illegible]

क्रान्तिकारी दिशाएँ खोल देनी चाहिए। इसे युद्ध और क्रान्तियों के युग का प्रारम्भ करना चाहिए।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्टालिन कभी भी विश्व-क्रान्ति के सिद्धान्त से दूर नहीं गया। वह आश्वस्त था कि पूंजीवाद से समाजवाद का परिवर्तन बिना क्रान्ति के सम्भव नहीं है और यह समाजवाद की अन्तिम विजय के लिए अनेक देशों में आवश्यक है। लेकिन जहाँ वह लेनिन व ट्राट्स्की से मतभेद रखता था वह यह है कि क्या यूरोप इस क्रान्ति के लिए तैयार है? वह ट्राट्स्की के विचार से सहमत नहीं था कि यूरोप समाजवादी क्रान्ति के लिए परिपक्व है। उसने यह भी सोचा कि पूंजीवादी व्यवस्था क्रान्ति की प्रगति को रोकने के लिए ज्यादा शक्तिशाली है जिसकी ट्राट्स्की ने कल्पना भी नहीं की थी।

मार्क्स की भांति स्टालिन ने पूंजीवाद से समाजवाद में परिवर्तन की शान्तिपूर्ण दिशा की बात भी सोची थी, लेकिन अनेक देशो में स्टालिन के अधीन जिस प्रकार परिवर्तन आया उसमे स्टालिन के विचारों की झलक मिलती है। पोलैण्ड, हगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, युगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया में जिस प्रकार परिवर्तन आया वह यह बताता है कि रूस का इन देशो पर आधिपत्य स्थापित हो गया। सार यह है कि स्टालिन जिसे विश्व-क्रान्ति कहता था उसके मूल में सत्य यह छिपा था कि यह रूस के अधीन और इसके इर्द-गिर्द हो।

स्टालिन का राज्य के बारे में विचार

स्टालिन का राज्य के सम्बन्ध में विचार मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही है, लेकिन उसने व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त परिवर्तन कर दिया। सेबाइन के अनुसार स्टालिन यह मानता था कि साम्यवादी राज्य के दो कार्य हैं—(1) विदेशी हस्तक्षेप से रक्षा करना और (2) देश का आर्थिक संगठन तथा सांस्कृतिक उत्थान करना। ये दोनों कार्य शाश्वत हैं। जब तक सारे संसार में वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक इन कार्यों की जरूरत रहेगी। अत: जब तक पूंजीवादी घेरा समाप्त नहीं हो जाता, तब तक साम्यवाद की अवस्था में भी राज्य का अस्तित्व रहेगा।[1]

केर्यू हंट ने स्टालिन के एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त को उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धान्त मे जोड़ने का प्रयास किया है। हंट ने लिखा है कि स्टालिन का एक देश में समाजवाद का सिद्धान्त रूस के साधनों को बढ़ाने की एक दीर्घकालीन योजना थी ताकि वह अन्ततोगत्वा एक विश्व-क्रान्ति के अधीन होने के स्थान पर उसका नेतृत्व कर सके। लेकिन इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगीकरण के चरण तीव्र गति से आगे बढ़ें और इसके परिणामस्वरूप सरकार का नियन्त्रण बढ़ेगा' और इससे राज्य की शक्तियों में तीव्रता आवेगी।[2]

1. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृष्ठ 792.
2 *Hunt Carew* : The Theory and Practice of Communism, p 181.

स्वयं स्टालिन के अनुसार गृह-नीति और विदेश-नीति में ज्यों-ज्यों सुधार होता रहेगा त्यों-त्यों राज्य के स्वरूप में परिवर्तन होता रहेगा""हम राज्य को हटा भी देंगे बशर्ते कि रूस के पास पड़ौस के दुर्जुआ राज्यों का पूँजीवादी ढाँचा समाप्त हो जाए और उनके स्थान पर इन देशों में समाजवादी शासन-व्यवस्था का सूत्रपात हो जाए।

सार यह है कि यद्यपि सिद्धान्त में एक मार्क्सवादी के नाते स्टालिन अन्ततोगत्वा राज्य के समाप्त हो जाने के पक्ष में था, लेकिन यह एक बहुत दूर की आशा थी। स्टालिन ने इस दृष्टि से कुछ भी नहीं किया, बल्कि जो विचार और कार्य रखे उनसे राज्य के बलवान होने के ही सबूत मिलते हैं। दूसरे शब्दों में राज्य जब तक अपनी समस्त शक्तियों से ओतप्रोत होकर अपने शिखर पर नहीं पहुँच जाता तब तक इसकी शक्तियों के क्षीण होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। व्यवहार में, स्टालिन का एक देश में समाजवाद का सिद्धान्त राज्य को प्रचण्ड शक्तियों से ओत-प्रोत करने की दिशा में सहायक हुआ।

स्टालिन के राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त को लेखकों ने एक दूसरे ढंग से भी रखा है। इसको राज्य के द्वारा राज्य को मिटाने का सिद्धान्त कहा जाता है। स्टालिन ने लेनिन की उस व्याख्या को स्वीकार किया था जिसमें लेनिन ने State and Revolution में यह कह कर स्पष्ट किया कि राज्य की विलुप्तता का तात्पर्य राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देना नहीं है बल्कि उसकी शोषक और दमनकारी प्रकृति को समाप्त करना है। स्टालिन ने इससे सहमति प्रकट की लेकिन इतना अवश्य जोड़ दिया कि राज्य के विनाश के लिए राज्य की शक्ति को इतना अधिक विकसित करने की आवश्यकता है जिससे कि उसे पूँजीवादी देशों के घेरे का भय न रहे। इस सन्दर्भ में वेपर ने स्टालिन के शब्दों को उद्धृत किया है जो उसने 1930 में हुए पार्टी के अधिवेशन में कहे थे, "हमें राज्य का विलोप तो करना है तथापि हम सर्वहारा के अधिनायकवादी राज्य के निर्माण पर भी विश्वास करते है और ऐसा राज्य दुनियाँ के अब तक के राज्यों में सबसे शक्तिशाली होगा। ऐसे शक्तिशाली राज्य का निर्माण *उन अवस्थाओं का निर्माण करने के लिए ही किया जाता है जिनमें राज्य का धीरे-धीरे* विलोप हो सके।"[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

स्टालिन का एक विचारक के रूप में कोई विशेष स्थान नहीं है। उसके प्रमुख सिद्धान्तों, जैसे एक देश में समाजवाद और विश्व-क्रान्ति तथा राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की जा सकती है। उसने एक ओर एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया लेकिन फिर भी उसने यह कहा कि वह विश्व-क्रान्ति के सिद्धान्त में आस्था रखता है। एक ओर उसने मार्क्सवादी होने के नाते राज्य के मुर्झा जाने की बात कही तथा दूसरी ओर उसने यह भी कहा कि राज्य का पहला

1. *Wayper C. L.* : op. cit , p 231.

में विफल किसान क्रान्ति का नेतृत्व किया। माओ अपने सहयोगियों सहित च्याङकाङ पर्वतमाला में शरण लेने को विवश हुए। अगस्त 1929 में माओ ने क्याङसी में सोवियत साम्राज्य की स्थापना की। इसके बाद माओ और उनके साथियों को पग-पग पर मुसीबतों से जूझना पड़ा। 1931-33 के दौरान च्याङ काई शेक ने कम्युनिस्टों के सफाए के लिए ऐतिहासिक अभियान चलाया। च्याङ की सेना का दबाव इतना अधिक बढ़ गया कि कम्युनिस्टों को लम्बी कूच का निर्णय करना पड़ा। अक्तूबर 1934 में कोई 90,000 स्त्री-पुरुष-बच्चों ने शस्त्रास्त्रों और रसद लेकर माओ के नेतृत्व में 6,000 मील लम्बी यात्रा आरम्भ की। इनमें से केवल 8,000 ही 1935 में येनान स्थित माओ के अपेक्षया सुरक्षित अड्डे तक पहुँच पाए—अनेक मर गए, अन्य साथ छोड़ गए। स्वयं माओ को अपने बच्चे किसानों के संरक्षण में छोड़ने पड़े जिनसे वह फिर कभी नहीं मिल सके। किन्तु इस अभियान से माओ को ठोस अनुभव प्राप्त हुआ। उन्हें किसानों की कठिनाइयों का पता चला और वह यह भी जान पाए कि उनके असन्तोष से किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है।

च्याङ के पास यद्यपि विशाल सेना थी, किन्तु वह माओ के सैनिकों की छापामार लड़ाई में समता नहीं कर सके। जनवरी 1949 में कम्युनिस्टों का पीकिंग पर अधिकार हो गया और उसके बाद नानकिङ का पतन हुआ और अक्तूबर 1949 में माओ ने जनवरी में चीनी गणराज्य की स्थापना की। उसी वर्ष वह अपनी प्रथम विदेश यात्रा पर मास्को गए। उन्होंने दूसरी और अंतिम विदेश यात्रा 1957 में की। यह यात्रा भी मास्को के लिए ही थी। गणराज्य की स्थापना के बाद माओ चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष और राष्ट्राध्यक्ष बने। 1958 में उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष का पद ल्यू शाओ ची के लिए छोड़ दिया। 1959 के बाद शेष विश्व के प्रति चीन का रुख उत्तरोत्तर आक्रामक होता गया जो इस बात का प्रतीक था कि माओ की नीति आन्तरिक मामलों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ओर झुक रही थी। 1963 से अध्यक्ष माओ अपनी क्रान्ति की धारणा का एशियाई, अफ्रीका और लातीनी अमेरिकी देशों के मुक्ति आन्दोलनों के लिए निर्यात करने लगे। सोवियत संघ से चीन के सम्बन्ध उत्तरोत्तर बिगड़ते गए और इस बिगाड़ की प्रतिच्छाया चीनी नेतृत्व पर भी पड़ी। यद्यपि 1961 में माओ ने लॉर्ड मान्ट-गोमरी से कहा था कि वह 73 वर्ष से अधिक जीना नहीं चाहते किन्तु वह सहन नहीं कर सके कि उनके नेतृत्व को कोई चुनौती दे और 73 वर्ष पूरा करने के ठीक पहले उन्होंने एक और क्रान्ति का नेतृत्व किया—यह थी 1966 की महान् सांस्कृतिक क्रान्ति जिसमें माओ के लाल रक्षकों ने माओ विरोधियों को चुन चुन कर मारा। उसके बाद मृत्युपर्यन्त वह अपनी लगातार बीमारी के बावजूद चीन का नेतृत्व करते रहे। चीन के इस महान् नेता की मृत्यु 9 सितम्बर 1976 में पीकिंग में हुई और उनका अन्त्येष्टी संस्कार 18 सितम्बर 1976 में हुआ।

माओ ने अनेक पुस्तकें लिखी जो आज चीनी साम्यवादियों के लिए गीता और बाइबिल बन गई हैं। माओ के ग्रन्थों एवं छोटी-छोटी पुस्तिकाओं से चुने हुए

उद्धरण संकलित कर लिखे गए हैं जिनका स्वाध्याय आज चीन में कहीं-कही अनिवार्य कर दिया गया है। माओ के राजनीतिक महत्त्व की कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) न्यू डेमोक्रेसी (New Democracy), 1940
(2) ऑन कोलिशन गवर्नमेंट (On Coalition Govt), 1945
(3) दी पीपुल्स डेमोक्रेटिक डिक्टेटरशिप (The Peoples Democratic Dictatorship), 1949
(4) सलेक्टेड वर्क्स ऑफ माओत्से तुंग (संकलित) (Selected Works of Mao-Tse-Tung)
(5) सलेक्टेड रीडिंग्स ऑफ माओत्से-तुंग्स वर्क्स (संकलित) (Selected Works of Mao-Tse-Tung's works)

चीन के सन्दर्भ में माओवाद का विकास

चाहे माओ ख्रुश्चेव को कितना ही संशोधनवादी क्यों न माने उसने स्वयं भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद को आवश्यकतानुसार काफी बदला। इसका सबसे बड़ा कारण चीन की प्रचलित परिस्थितियाँ थी। उसने स्टालिन की भाँति प्रारम्भ में अपनी समस्त शक्तियाँ एक देश पर ही केन्द्रित कर दीं। रूस और चीन मे एक देशीय समाजवाद की स्थापना के लिए लगभग समान ही परिस्थितियाँ थी और स्टालिन की भाँति माओ ने भी इस बात को अच्छी प्रकार समझ लिया था। क्षेत्रफल की विशालता भ्रष्टाचार, दमन, अव्यवस्था, अकर्मण्यता, सामन्तवादी परम्परा आदि दोनो देशों मे समान तत्त्व थे।

बीसवी सदी के प्रारम्भ में चीन एशिया का सबसे जर्जरित देश था। पश्चिमी साम्राज्यवाद का वह शिकार था और जापानियों को इंग्लैण्ड तथा अमेरिका को चीन मे प्राप्त प्रभाव क्षेत्र और सुविधाओं से बड़ी ईर्ष्या थी। जापान ने भी चीन पर दबाव एवं आक्रमण के जरिए अनेक सुविधाएँ अर्जित कर ली थी। चीन प्रशासन की दृष्टि से कई भागों में बँटा हुआ था, लेकिन शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव मे उसकी मुख्य भूमि पर विदेशियों के अड्डे स्थापित हो गए थे। मचूरिया रूस के प्रभाव-क्षेत्र मे था, जर्मनी का शाण्टुंग पर और ब्रिटेन का यॉग-सी क्यॉग की घाटी के प्रदेश पर प्रभाव था तथा फ्रांस के प्रभाव-क्षेत्र मे इसका दक्षिणी भाग था। अमेरिका के दबाव के कारण उसे मुक्त द्वार नीति (Open Door Policy) का अनुसरण करना पड़ा था जिसका अर्थ यह हुआ कि चीन को लूटने के द्वार सभी राष्ट्रों के लिए खुले हैं। 1931 मे तो चीन अत्यन्त दयनीय अवस्था को प्राप्त हुआ जबकि जापान ने मंचूरिया को जीत लिया। इसी प्रकार 1937 मे भी जापान ने चीन की मुख्य भूमि पर भी आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया। चीन अत्यन्त भयावह एवं करुणाजनक स्थिति में था। राष्ट्र का नैतिक पतन हो चुका था, च्यांगकाई शेक सत्तारूढ अवश्य था, लेनिन सत्ता निष्क्रिय एवं अकर्मण्य थी, कीमतें आसमान को छूने लगी थीं, बेरोजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार, शोषण की कोई सीमा

न थी। चीन का औद्योगीकरण हुआ नही था और इसलिए किसान ही जनसंख्या के अधिकतम भाग थे।

ऐसे परिस्थितियों के सन्दर्भ में माओ के चिन्तन एवं उसकी रणनीति का विकास हुआ। उसने क्रान्ति के अगुआ के रूप में किसानों को आगे किया। रूस में भी यद्यपि किसानों को क्रान्ति में सम्मिलित किया गया, लेकिन उन्हें इसका नेतृत्व नही सौंपा गया। द्वितीय, माओ ने शहरों को गाँवों से घेर लेने की नीति को विकसित किया। तृतीय, माओ ने चीनी राष्ट्रवाद की भावना को उकसाया क्योंकि पश्चिमी और जापानी साम्राज्यवाद के पैरों तले चीनी राष्ट्र का स्वाभिमान रौंदा गया था। चतुर्थ, माओ ने जनतान्त्रिक ससदीय संस्थाओं की निरर्थकता को सिद्ध कर दिया। उसने अपने देशवासियो को बताया कि उनका हित केवल साम्यवाद के द्वारा ही सम्भव है। अन्त में, उसने पश्चिमी साम्राज्यवाद एवं च्यागकाई शेक के विरुद्ध संघर्ष मे दलीय एवं आन्तरिक शक्ति पर ही निर्भर किया। यद्यपि उसे साम्यवादी रूस से प्रेरणा मिली लेकिन दो देशो का पारस्परिक इतिहास कोई मधुर सम्बन्ध लिए न था। रूस ने भी अन्य यूरोपीय शक्तियों जैसा ही चीन का शोषण किया था और जारों ने उसके बहुत से प्रदेश पर कब्जा करके निर्बल मांचू सरकार से मनमानी सन्धि करा ली थी। उदाहरण के लिए सन् 1858 की ऐगुन सन्धि, सन् 1860 की पीकिंग सन्धि और सन् 1881 की सैंटपिट्सबर्ग सन्धि द्वारा रूस ने चीन के बहुत बड़े प्रदेश पर अधिकार कर लिया था।[1] अतीत की यह स्मृति रूस को अपना नेता मानने की दिशा में बाधक थी। इसके साथ माओ की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा थी जो लेनिन के बाद किसी रूसी नेता को अपने समकक्ष रखने से रोकती थी।

माओवाद

चीनी साम्यवाद में चार मुख्य विचारधाराओं का सगम है। ये चार विचार-धाराएँ हैं—मार्क्सवाद, लेनिनवाद, स्टालिनवाद एवं माओवाद। माओ अपने आप को कट्टर मार्क्सवादी मानता है और उसने स्वय को लेनिन का सबसे विश्वासपात्र समर्थक कहा और स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त रूसी साम्यवाद की विचारधारा को संशोधनवादी कहा है। उसने ख्रुश्चेव को मार्क्सवाद का सबसे बड़ा शत्रु और संशोधनवादी माना है। ऐसा करने के पीछे माओ की एक चाल नजर आती है और वह यह है कि साम्यवादी जगत मे रूस को बदनाम करके ही उसके नेतृत्व को छीना जा सकता है और इसमे उसकी यथेष्ठ सफलता भी मिली है। अनेक उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि माओ भी मार्क्सवाद का उतना ही बड़ा संशोधनवादी है जितना कि ख्रुश्चेव या अन्य कोई भी साम्यवादी नेता। इसको इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि माओवाद चीन की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार मार्क्सवाद लेनिनवाद का चीनी संस्करण है। चीनी भूमि मे मार्क्सवादी

1. के. एन. वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग 2, पृष्ठ 149.

विचारधाराएँ चीनी जलवायु मे ही फलीफूली है। लेनिन और माओ ने अपने मन चाहे-ढग से मार्क्सवाद को व्यावहारिक रूप दिया है। जिन्होने माओवाद का विरोध किया और इसे मार्क्सवाद और लेनिनवाद के विपरीत बताया वे साँस्कृतिक क्रान्ति के शिकार बने और उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

माओवाद सिद्धान्त कम और नीति अधिक है जिसका सचालन चीन की आवश्यकताओ और परिस्थितियों के अनुकूल हुआ है। कहा जा सकता है कि यदि लेनिनवाद मार्क्सवाद का रूसी सस्करण है तो माओवाद मार्क्सवाद-लेनिनवाद, स्टालिनवाद का चीनी संस्करण है।

क्रान्ति का सिद्धान्त

माओ-त्से-तु ग सशस्त्र क्रान्ति को अत्यन्त आवश्यक मानता है। उसके अनुसार इसकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि मार्क्स या लेनिन के समय मे थी। उसका कथन है कि क्रान्ति द्वारा गृह-युद्ध कराए जाने चाहिए और साम्यवादियों को सत्ता का अधिग्रहण कर लेना चाहिए। उसने सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति की संचालक शक्ति माना है। उसने शक्ति प्रयोग के लिए छापामार युद्धों का आश्रय लेने की बात कही है। उसने स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त रूस के शासको पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और कहा कि वे लोग क्रान्ति को भूल गए है। उसने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को भ्रान्ति एव मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विकृति बताया है।

माओ की एक बडी देन यह कही जा सकती है कि उसने क्रान्ति के नेतृत्व मे किसानो को सम्मिलित कर लिया। जैसा कि लिखा जा चुका है कि रूस मे क्रान्ति मे किसानों को सम्मिलित किया गया था, लेकिन उन्हें कभी नेतृत्व नही सौंपा गया। माओ ने अपनी पुस्तक "यूनान के कृषक आन्दोलन की जानकारी का विवरण" में लिखा है कि "निर्धन कृषकों का नेतृत्व अत्यधिक आवश्यक है। विना निर्धन किसानो के कोई क्रान्ति नही हो सकती है। उनका अपमान क्रान्ति का अपमान है। उन पर प्रहार क्रान्ति पर प्रहार है।" चीन जैसे कृषि प्रधान देश मे किसानों की भूमिका को स्वीकार कर माओ ने सही स्थिति को समझा है।[1]

युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त

माओ युद्ध को साम्राज्यवादी, पूँजीवादी शक्तियों के ह्रास के लिए अनिवार्य मानता है। उसका मत है कि प्रथम विश्वयुद्ध ने रूस की क्रान्ति की भूमिका का निर्माण किया जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त चीन की क्रान्ति आई। उसकी भविष्यवाणी है कि तीसरा विश्वयुद्ध सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद के आविर्भाव के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर देगा। यह पश्चिमी पूँजीवादी देशों को कागज का शेर मानकर चलता है और कहता है कि प्रथम दो विश्वयुद्धों ने पश्चिम के पूँजीवाद को जर्जरित कर दिया है। अतः युद्ध के द्वारा पुनः पूँजीवाद को एक धक्का देने

1 From *Mao's* 'On Coalition Government'.

की आवश्यकता है और फिर यह लड़खड़ाने वाली दीवार स्वतः गिर जाएगी। माओ इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि साम्यवादियों द्वारा युद्ध और संघर्षों को पूँजीवादी देशों मे भड़काना आवश्यक है।

शक्ति का दर्शन

कह कहा जा सकता है कि माओवाद शक्ति का दर्शन है। उसकी स्पष्ट धारणा है कि मनुष्यों को केवल राजनीतिक शक्ति के प्रयोग द्वारा ही बदला जा सकता है और समाज-परिवर्तन का आधार केवल राजनीतिक शक्ति ही है। अतः वह साम्यवादियो को सही सलाह देता है कि वे राजनीतिक शक्ति का अधिग्रहण करें। उसका कथन है कि सैनिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति में गहरा सम्बन्ध है।

उसके विचार मे राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है।

गुरिल्ला युद्ध

गुरिल्ला युद्ध माओ की एक विशेष देन मानी जाती है। सैनिक दृष्टिकोण से यह योजना बड़े ही महत्त्व की मानी जाती है और पर्वतीय क्षेत्रों में इसका और भी अधिक महत्त्व है। माओ के ही शब्दों में इस गुरिल्ला युद्ध प्रणाली का सार यह है "जब शत्रु आगे बढ़ता है, हम पीछे हटते हैं। जब शत्रु इधर-उधर घिरता है हम लड़ते हैं। जब शत्रु थक जाता है, हम लड़ते हैं और जब शत्रु पीछे हटता है, हम पीछा करते हैं।" निःसन्देह माओ द्वारा प्रतिपादित गुरिल्ला-युद्ध की प्रणाली चीन के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

माओ और विचार स्वातन्त्र्य

माओ ने सन् 1957 में जनता को स्वतन्त्र चिन्तन एवं आलोचना करने का अधिकार देने की दृष्टि से एक बड़ा ही आकर्षक नारा दिया। यह सुप्रसिद्ध नारा था कि "सैंकड़ों फूलों को खिलने दो एवं सैंकड़ों विचारधाराओं को जूझने दो।" (Let a hundred flowers boom and let a hundred schools of thought contend) माओ ने सम्भवतः यह नारा इसलिए दिया था कि इससे साम्यवादियों को एक दूसरे की कमियों को जानने का अवसर प्राप्त होगा क्योंकि बिना विभिन्नता एवं संघर्ष के विकास नही हो सकता। माओ का इस नारे के देने के पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि बुद्धिजीवी एवं उदारवादी चिन्तकों का अपनी विचारधारा तथा कार्यक्रम के लिए सहयोग प्राप्त किया जाए।

माओ ने यद्यपि यह नारा दिया, लेकिन शीघ्र ही उसने इसको स्पष्ट करते हुए बताया कि इसका अर्थ सभी प्रकार के लोगों को विचार-स्वातन्त्र्य प्रदान करना नही है। क्रान्ति-विरोधी तत्त्वों, सामन्तवादियो, पूँजीवादी शक्तियों के पिट्ठुओं एवं प्रतिक्रियावादी लोगों को यह आलोचना करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। उसने बताया कि स्वतन्त्रता तो जनता को दी जा सकती है जबकि विरोधी लोगों पर तो तानाशाही का ही बने रहना आवश्यक है। उसके अनुसार जो "जनता" पक्ष मे सम्मिलित किए जा सकते हैं वे लोग साम्यवादी हैं और जिनकी विचारधारा

इसके विपरीत जाती है उन्हें प्रतिक्रियावादी अथवा क्रान्तिविरोधी कहा जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि अपने से विरोधी विचारधारा रखने वालों को विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि माओ का "सैकड़ों फूलों के खिलने देने एवं सैकड़ों विचारधाराओं के जूझने का सिद्धान्त" केवल दिखावा मात्र है।

राजनीतिकरण तथा सैनिकीकरण

माओ का वचन है कि राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है इसलिए राजनीतिक शक्ति को सैनिक शक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता। माओ केवल सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। उसकी मान्यता है कि क्रान्ति का आधार सैनिक शक्ति है जो सर्वहारा वर्ग की मुक्ति का नूतन रास्ता है। यही सच्ची राजनीति है जिसकी शिक्षा प्रत्येक चीनी नागरिक के रक्त में होनी चाहिए। उसने अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु एक विशाल जन-मुक्ति सेना निर्मित की है जिसके अन्तर्गत एक संगठित प्रशिक्षण की व्यवस्था है। यह प्रशिक्षण इसलिए आवश्यक है ताकि प्रत्येक देशवासी की चेतना इतनी विकसित हो जाए कि वह उद्देश्यो को ग्रहण कर सके।

लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद का सिद्धान्त

माओ ने बताया कि जनता मे कृषको और मजदूरों का बहुमत होता है और इसीलिए इनके द्वारा लिए गए निर्णय जनता के ही निर्णय कहे जाएँगे। इसलिए कृषकों और मजदूरों के निर्णय सब लोकतान्त्रिक निर्णय हैं। इन निर्णयो को पूर्णरूपेण लागू करने हेतु तानाशाही की आवश्यकता है और इस प्रकार जनता की प्रजातान्त्रिक तानाशाही ही लोकतान्त्रिक अधिनायकवाद है।

माओ भी मार्क्सवादी राज्य सम्बन्धी अवधारणा से सहमति व्यक्त करता हुआ इसे एक वर्ग के हाथ मे कठपुतली मानता है। सर्वहारा वर्ग के हाथ मे राज्य के आ जाने के उपरान्त इसका कर्त्तव्य श्रमिक वर्ग के हित में इसके विरोधी तत्त्वों को कुचलने का हो जाता है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका "न्यू डिमोक्रेसी" मे अपने जनतन्त्र सम्बन्धी विचारों को रखा है जिसका प्रकाशन 1940 मे हुआ था। इसके उपरान्त कुछ इनसे मिलते-जुलते एवं अन्य विचार उसकी तीन अन्य कृतियों मे मिलते है। ये कृतियां हैं—"On Coalition Government (1945), The Present Position and the Task Ahead (1947) और The Peoples Democratic Dictatorship (1949)। इनके अध्ययन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि माओवाद साम्यवादियों के लिए जनतन्त्र एवं गैर-साम्यवादियों के लिए अधिनायकतन्त्र है और इस प्रकार यह मिलकर लोकतन्त्रात्मक या जनतन्त्रात्मक अधिनायकवाद हो जाता है। इसे उदारवाद, सहअस्तित्व जैसे शब्दों से घृणा है। प्रतिक्रियावादी एवं गैर-साम्यवादियों के प्रति उदार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह स्वीकार करता है कि हम अधिनायकवादी हैं। माओ के अनुसार इसका अर्थ केवल इतना ही है कि

"प्रतिक्रियावादियों को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, यह अभिव्यक्ति तो केवल जनता को ही दी जा सकती है।"[1]

उपर्युक्त कथन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि इस लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद मे लोकतन्त्र कितना कम और अधिनायकवाद कितना अधिक है। सच तो यह है कि माओवाद शक्ति, अवसर अनुकूल एवं वर्ग संघर्ष पर आधारित विचारधारा है जिसमे सहअस्तित्व, विश्वास, धर्म एवं परम्परागत नैतिकता का कोई स्थान नही है।

राष्ट्रीय साम्यवाद का सिद्धान्त

जैसा कि हम देख चुके हैं, साम्यवाद कोई राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत रहने वाली विचारधारा नही है। मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है और उसने विश्व के श्रमिकों को इसमें सम्मिलित होने को आह्वान किया। माओ ने इस सिद्धान्त की मौलिकता को तो कोई चुनौती नहीं दी, लेकिन यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक राष्ट्र में साम्यवाद का विकास वहाँ की प्रत्येक परिस्थिति के अनुसार होना चाहिए। वैसे माओ ने कोई तर्क अथवा विचित्र बात नही कही। स्टालिन ने भी तो साम्यवाद का रूसीकरण कर दिया था। माओ ने जब राष्ट्रीय साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद के चीनीकरण की बात कही तो उसके पीछे उसके स्पष्ट उद्देश्य दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम, माओ ने बताया कि एक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयवाद भी होता है लेकिन इसके पहिले कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवाद को उतारा जा सके यह आवश्यक है कि इसे राष्ट्रीय स्तर पर क्रियान्वित किया जाए। माओ ने कहा कि मार्क्सवाद कोई गौण वस्तु नही है, उसका स्वरूप व्यावहारिक एव स्थूल है। जिसे स्थूल मार्क्सवाद कहा जाता है वह ऐसा है जिसका राष्ट्रीय प्रारूप बन चुका है। माओ के कहने का अर्थ यह है कि उन्हे चीन में ऐसा मार्क्सवाद चाहिए जिसे वहाँ की प्रचलित परिस्थितियो के अनुसार ढाला जा सके। इससे स्पष्ट होता है कि माओ कोरा सिद्धान्तवादी ही नही है, वह व्यावहारिक है।

उसका राष्ट्रीय साम्यवाद का सिद्धान्त इस बात से और भी स्पष्ट होता है कि उसने चीन के अतीत को गौरवशाली बताकर वहाँ की राष्ट्रीय भावनाओ को उकसाया है। माओ ने विस्तारवादी नीति का अनुसरण किया है तथा राष्ट्रीय शक्ति के बल पर रूस और भारत से भिड़ाने का प्रयास किया है। इसी नीति का अनुसरण उसने दक्षिण-पूर्व एशिया में करने का प्रयास किया है।

व्यक्ति पूजा

यद्यपि लेनिन ने यह तो स्वीकार किया था कि दल के उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल कुछ उच्च स्तर के व्यक्ति ही कर सकते हैं लेकिन उसने कभी व्यक्ति पूजा की बात नही कही। माओ ने एक ओर सैकड़ो फलो के एक साथ खिलने की बात कही, लेकिन दूसरी ओर कठोर अधिनायकत्व की भी स्थापना की। यह कठोर

1. Extract taken from the author's, The Government of China, pp. 21-22.

अधिनायकत्व अन्ततोगत्वा केवल एक व्यक्ति माओ की तानाशाही बन कर रह गई जिसका एक-एक शब्द अन्तिम सत्य का उद्बोधक माने जाने लगा। जो उसने कहा वह वेद-वाक्य बन गया और साम्यवादियों के लिए वह अपने-जीवन काल मे ही ईश्वर बन गया। वैसे व्यक्ति पूजा चीनी जीवन में व्याप्त रही है, परिवार एव जाति में विशेष व्यक्ति उनका मुखिया हुआ करता था, समाज में वह स्थान राजा का माना जाता रहा है। ईश्वर सारे देश का सचालक माना जाता था और राजा को उसका प्रतिनिधि होने का गौरव प्राप्त था। लेकिन माओ के नेतृत्व मे चीन मे न राजा रहा और न ईश्वर, दोनो का स्थान एक व्यक्ति ने ले लिया और उसका नाम माओत्से तुंग है। अधिकांश माओ विरोधी हाल ही मे सम्पन्न हुई सांस्कृतिक क्रान्ति में खत्म कर दिए गए हैं। छोटे आदमियो की तो बिसात ही क्या, लिऊ शाओ ची भी जो चीनी गणराज्य का अध्यक्ष था एवं लिन पिआवो, जो चीन का सुरक्षा मन्त्री और माओ का उत्तराधिकारी माना जाता था, ये एव अनेक उच्चस्तरीय व्यक्ति इस सांस्कृतिक क्रान्ति के शिकार हुए है। सार यह है कि चीन का अब माओकरण हो चुका है और माओ-गीता का पाठ घर-घर मे किया जाना करीब-करीब अनिवार्य हो गया है। माओ दैनन्दिनी के कुछ नियम संक्षेप मे ये है—

(1) युद्ध में मनुष्य और शस्त्र की तुलना में मनुष्य का ज्यादा महत्व है क्योंकि निर्णायक वस्तु मनुष्य है न कि शस्त्र, (2) सेना में राजनीति को अन्य सैनिक कार्यों की तुलना मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए, (3) माओवाद ही सच्ची राजनीति और सच्चा अर्थशास्त्र है और इसलिए इसे ही महत्व दिया जाना चाहिए। यही सच्चा आदर्शवाद है, (4) आदर्शों मे भी जीवित विचारों और रचनात्मक व्यावहारिकता को किताबी काल्पनिक और कोरे सिद्धान्तवादी विचारों पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

माओ के अनुसार चार अच्छाइयाँ जो प्रत्येक चीनी साम्यवादी को स्वीकार करनी चाहिए, ये हैं—(1) सबसे अच्छा साथी वह है जो राजनीतिक और वैचारिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो। (2) वह साथी श्रेष्ठ है जो तीन-आठ (त्रिअष्टक) की कार्य-प्रणाली के लिए उत्तम हो। त्रिअष्टक से अभिप्राय तीन प्रवृत्तियों से हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं—(अ) अपनी सही राजनीतिक प्रवृत्ति को पकड कर रखना, (आ) अपने कर्त्तव्य-पालन में मेहनत और सादगी का परिचय देना, (इ) युक्तियो मे लचकीलेपन को बनाए रखना। आठ चारित्रिक गुण है जो सबमे एकता, सतर्कता, निश्चयता एवं सक्रियता बनाए रखते हैं। (3) वह साथी जो सैनिक प्रशिक्षण की दृष्टि से उत्तम हो। (4) वह साथी उत्तम है जो सैनिकों के लिए जीवित व्यवस्था करने मे उत्तम हो।

माओ ने समाजवादी क्रान्ति के लिए जिस पद्धति को विकसित किया है वह "टुन टुन" (Fight, Fight), टा टा टा टा (Talk, Talk, Talk, Talk) "टुन टुन" (Fight, Fight) सिद्धान्त कहलाता है। इसका अर्थ यही है कि पहले विरोधी पर आक्रमण कर उसे इतना निर्बल कर दिया जाना चाहिए कि वह वार्ता

के लिए मेज पर आने को तैयार हो जाए। कुछ दिनों तक समझौते की बातें करनी चाहिए, लेकिन समझौते की शर्तें ऐसी रखनी चाहिएं कि उन्हें शत्रु स्वीकार न करे। उसके ऐसा करने पर उस पर शान्ति भंग करने का आरोप लगाना चाहिए एवं इसका जबर्दस्त प्रचार करना चाहिए। इसी समय शत्रु पर भयंकर आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अधिकार कर लेना चाहिए।

माओ के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण स्फुट विचार[1]

ज्ञान

अपने सामाजिक व्यवहार के दौरान मनुष्य विभिन्न प्रकार के संघर्षों में लगा रहता है और अपनी सफलताओं और असफलताओं से समृद्ध अनुभव प्राप्त करता है। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियों-आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—के जरिए वस्तुगत बाह्य जगत् की असंख्य घटनाओं का प्रतिविम्ब उसके मस्तिष्क पर पड़ता है। ज्ञान शुरू में इंद्रिय-ग्राह्य होता है। धारणात्मक ज्ञान अर्थात् विचारों की स्थिति में तब छलाँग भरी जा सकती है जब इंद्रियग्राह्य ज्ञान काफी मात्रा में प्राप्त कर लिया जाए। यह ज्ञान समूची प्रक्रिया की पहली मन्जिल है। एक ऐसी मन्जिल जो हमें वस्तुगत पदार्थ से मनोगत चेतना की तरफ ले जाती है, अस्तित्व से विचारों की तरफ ले जाती है, किसी व्यक्ति की चेतना या विचार (जिनमें सिद्धान्त, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय शामिल है) वस्तुगत बाह्य जगत् के नियमों को सही ढंग से प्रतिबिम्बित करते हैं अथवा नहीं, यह इस मन्जिल में साबित नहीं हो सकता तथा इस मन्जिल मे यह निश्चित करना सम्भव नहीं है कि वे सही हैं अथवा नहीं। इसके बाद ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया की दूसरी मन्जिल आती है, एक ऐसी मन्जिल जो हमें चेतना से पदार्थ की तरफ वापस ले जाती है तथा जिसमें पहली मन्जिल के दौरान प्राप्त किए गए ज्ञान को सामाजिक व्यवहार में उतारा जाता है ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि ये सिद्धांत, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय प्रत्याशित सफलता प्राप्त कर सकेंगे अथवा नहीं। आम तौर पर, इनमे से जो सफल हो जाते, वे सही होते हैं और जो असफल हो जाते हैं वे गलत होते हैं तथा यह बात प्रकृति के खिलाफ मनुष्य के संघर्ष के बारे में विशेष रूप से सच साबित होती है। सामाजिक संघर्ष मे कभी कभी आगे बढे हुए वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों को पराजय का मुँह देखना पडता है, इसलिए नहीं कि उनके विचार गलत हैं, बल्कि इसलिए कि संघर्ष करने वाली शक्तियों के तुलनात्मक बल की दृष्टि से फिलहाल वे शक्तियाँ उतनी ज्यादा बलशाली नहीं हैं जितनी कि प्रक्रियावादी शक्तियाँ। इसलिए उन्हें अस्थायी तौर पर पराजय का मुँह देखना पड़ता है, लेकिन देर सवेर विजय अवश्य उन्हीं को प्राप्त होती है। मनुष्य का ज्ञान व्यवहार की कसौटी के जरिये छलाँग भर कर एक नई मन्जिल पर पहुँच जाता है। यह छलाँग पहले की छलाँग से और ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि सिर्फ यही छलाँग ज्ञान

1. दिनमान 26 सितम्बर—2 अक्तूबर 1976, पृष्ठ 10-11.

प्राप्ति की पहली छलांग अर्थात् वस्तुगत बाह्य जगत् को प्रतिबिम्बित करने के दौरान बनने वाले विचारो, सिद्धान्तों, नीतियो, योजनाओं अथवा उपायों के सही होने अथवा गलत होने को साबित करती है। सच्चाई को परखने का दूसरा कोई तरीका नही है।

अक्सर सही ज्ञान की प्राप्ति केवल पदार्थ से चेतना की तरफ जाने और फिर चेतना से पदार्थ की तरफ लौटाने की प्रक्रिया को, अर्थात् व्यवहार से ज्ञान की तरफ जाने और फिर ज्ञान से व्यवहार की तरफ लौट आने की प्रक्रिया को बार बार दोहराने से ही होती है। यही मार्क्सवाद का ज्ञान सिद्धान्त है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान सिद्धान्त है।

अध्यात्म

आदर्शवाद और अध्यात्मवाद दुनियां में सबसे आसान चीजें है, क्योकि इन्हें मानने वाले लोग वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाए बिना अथवा वस्तुगत यथार्थ की कसौटी पर परखे बिना चाहे जितनी ऊलजूल बातें कर सकते है। दूसरी तरफ, भौतिकवाद और द्वंद्ववाद दरअसल प्रयत्नसाध्य चीजे है, इनमे वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाना और वस्तुगत यथार्थ को कसौटी पर परखना जरूरी है। यदि कोई प्रयत्न नही करेगा, तो उसके लिए आदर्शवाद और अध्यात्मवाद के गड्ढे में गिरने की सम्भावना बनी रहेगी।

विश्लेषण

जब भी हम किसी चीज का अध्ययन करें, तो हमें उसकी अतर्वस्तु को परखना चाहिए, उसके बाहरी रूप को अतर्वस्तु की देहरी तक पहुँचने के लिए मार्ग-दर्शक भर मानना चाहिए, तथा एक बार देहरी पार कर लेने पर हमे उस चीज की अतर्वस्तु को मजबूती से पकड लेना चाहिए, विश्लेषण की यही पद्धति एक विश्वसनीय और वैज्ञानिक पद्धति है।

अन्तर्विरोध

किसी वस्तु के विकास का मूल कारण उसके बाहर नही वल्कि उसके भीतर होता है, उसके अन्दरूनी अन्तर्विरोधों मे निहित होता है। यह अन्दरूनी अन्तर्विरोध हर वस्तु मे निहित होते हैं तथा इसीलिए हर वस्तु गतिमान और विकासशील होती है। किसी वस्तु के भीतर मौजूद अन्तर्विरोध ही उसके विकास का मूल कारण होता है, जबकि उसके और अन्य वस्तुओ के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव उसके विकास के गौण कारण होते हैं।

अनुशासन

जनता की पांर्तों के अन्दर जनवाद केन्द्रीयता से जुड़ा रहता है और आजादी अनुशासन से ये दोनो एक ही वस्तु के दो विपरीत पहलू हैं जो परस्पर विरोधी भी है और एकताबद्ध भी, तथा हमें इनमे से एक को ठुकरा कर दूसरे पर एकतरफा तौर पर जोर नहीं देना चाहिए। जनता की पांर्तों के अन्दर न तो आजादी के बिना हमारा काम चल सकता है और न अनुशासन के बिना, न तो जनवाद के बिना हमारा काम

चल सकता है और न केन्द्रीयता के बिना। हमारी जनवादी केन्द्रीयता, जनवाद और केन्द्रीयता की एकता तथा आजादी और अनुशासन की एकता से ही बनती है। इस व्यवस्था में जनता व्यापक जनवाद और आजादी का उपभोग करती है, लेकिन साथ ही उसे समाजवादी अनुशासन की सीमाओं के भीतर रहना पड़ता है।

नौजवान

यह दुनिया तुम्हारी है, यह हमारी भी है, लेकिन अन्ततोगत्वा यह तुम्हारी ही होगी। तुम नौजवान लोग ओजस्विता और जीवन शक्ति से भरपूर सुबह या नौ बजे के सूरज की तरह अपनी जिन्दगी की पुरबहार मंजिल में हो। हमारी आशाएँ तुम पर लगी हुई हैं। हमें इस बात को समझने में अपने तमाम नौजवानों की मदद करनी चाहिए कि हमारा देश अब भी बहुत गरीब देश है, हम थोड़े से ही समय में इस स्थिति को बुनियादी रूप से बदल नहीं सकते तथा केवल मात्र अपनी नौजवान पीढ़ी और समस्त जनता के संयुक्त प्रयत्नों के जरिए और खुद अपने भुजबल के भरोसे काम कर के ही कुछ दशाब्दियों में हम अपने देश को मजबूत और समृद्ध बना सकते हैं। समाजवादी व्यवस्था कायम होने से भविष्य के एक आदर्श समाज तक पहुँचने का रास्ता खुल गया है, लेकिन इस आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिए तो हमें सख्त मेहनत करनी होगी।

स्त्रियाँ—काम करने लायक हर स्त्री को समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धान्त के अन्तर्गत श्रम मोर्चे पर तैनात होने का मौका दो। यह काम जल्दी से जल्दी कर लेना चाहिए।

साहित्य

कला साहित्य की समालोचना के दो मापदण्ड होते हैं—राजनीतिक और कलात्मक। एक राजनीतिक मापदण्ड होता है और एक कलात्मक मापदण्ड, इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है? कला को राजनीति के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, और न कलात्मक सृजन व समालोचना की किसी एक पद्धति को ही आम विश्व-दृष्टिकोण के समकक्ष रखा जा सकता है। हम न सिर्फ एक अमूर्त और बिल्कुल अपरिवर्तनीय राजनीतिक मापदण्ड के अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं, बल्कि एक अमूर्त और अपरिवर्तनीय कलात्मक मापदण्ड के अस्तित्व को मानने से भी इन्कार करते हैं, सभी वर्ग समाजों में हर वर्ग के खुद अपने राजनीतिक और कलात्मक मापदण्ड होते हैं। लेकिन सभी वर्ग समाजों में सभी वर्ग हमेशा राजनीतिक मापदण्ड को प्रमुख स्थान देते हैं और कलात्मक मापदण्ड को गौण""हम जिस चीज की माँग करते हैं वह है राजनीति और कला की एकता, विषय वस्तु और रूप की एकता, क्रान्तिकारी राजनीतिक विषय वस्तु और यथासम्भव अधिक पूर्ण कलात्मक रूप की एकता। वे कला कृतियाँ जिनमें कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती है, चाहे वे राजनीतिक दृष्टि से कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हो? इसीलिए हम ऐसी कला-कृतियों का सृजन करने जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है तथा पोस्टरबाजी व नारेबाजी जैसी शैली वाली

उन कला-कृतियों का सृजन करने जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है लेकिन जिनमें कलात्मकता का अभाव होता है, इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का विरोध करते है। साहित्य और कला के सवालों के बारे में हमें इन दोनों मोर्चों पर संघर्ष चलाना चाहिए।

"सौ फूल खिलने दो और विचार-शालाओं में होड़ होने दो" की नीति कला व विज्ञान की प्रगति को प्रोत्साहन देने तथा हमारे देश मे समाजवादी संस्कृति की समृद्धि को बढ़ाने की नीति है। कला के क्षेत्र में विभिन्न रूपों और शैलियों का स्वतन्त्रता से विकास होना चाहिए और विज्ञान के क्षेत्र मे विभिन्न विचार शाखाओं में स्वतन्त्रता से होड़ होनी चाहिए, हमारा ख्याल है कि अगर किसी शैली विशेष या विचारशाखा विशेष को लादने और दूसरी शैली विशेष या विचार शाखा विशेष पर पाबन्दी लगाने के लिए प्रशासकीय कार्यवाही की जाएगी, तो वह कला और विज्ञान के विकास के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। कला और विज्ञान जगत में सही और गलत के प्रश्न को कला और विज्ञान के क्षेत्रों मे स्वतन्त्र वाद-विवाद तथा व्यावहारिक कार्य के जरिए हल करना चाहिए। उन्हें तुरत-फुरत ढंग से नहीं करना चाहिए।

अध्ययन

ज्ञान एक वैज्ञानिक वस्तु है और इस मामले मे जरा भी बेईमानी या घमण्ड की इजाजत नहीं दी जा सकती। इससे बिल्कुल उल्टा रुख—ईमानदारी और नम्रता निश्चित रूप से आवश्यक है। आत्म-तुष्टि अध्ययन की दुश्मन है। जब तक हम आत्म-तुष्टि से नाता नही तोड़ लेंगे, तब तक हम सचमुच कुछ भी नही सीख पाएँगे। अपने प्रति हमें सीखने के लिए लालायित रहने का रवैया अपनाना चाहिए और दूसरों के प्रति 'सिखाने की अथक कोशिश करने' का रवैया अपनाना चाहिए।

संस्कृति और समन्वय

संसार के सभी राष्ट्रों की कला जहाँ तक मूलभूत सिद्धान्तो का प्रश्न है एक है....लेकिन हर देश की कला का एक विशेष राष्ट्रीय रूप और राष्ट्रीय शैली होती है। कुछ लोग इस बात को नहीं समझते। वे अपनी कला के राष्ट्रीय गुणों को अस्वीकार करते है और पश्चिम की अन्ध-भक्ति यह सोच कर करते है कि पश्चिम हर माने मे बेहतर है। इतना ही नही वे पूर्ण पश्चिमीकरण की वकालत करते है.... चीनी कला, चीनी संगीत, चित्रकला, नाटक, गान और नृत्य और साहित्य सब का अपना ऐतिहासिक विकास है। चीनी चीजों को अस्वीकार कर के जो लोग पूर्ण पश्चिमीकरण की वकालत करते हैं उनका कहना है कि चीनी चीजों के अपने नियम नही है और इसलिए वे उनका अध्ययन करने या उनका विकास करने के लिए तैयार नहीं है। यह चीनी कला के प्रति राष्ट्रीय नकारात्मकता की प्रवृत्ति को अपनाना है....हमे अन्य देशों की बहुत-सी चीजें सीखनी चाहिए और उनमे महारत हासिल करनी चाहिए हमारे लिए विशेष रूप से यह जरूरी है कि मूलभूत सिद्धान्त मे निपुणता प्राप्त करें....मार्क्सवाद एक मूलभूत सिद्धान्त है जिसका जन्म पश्चिम में हुआ है। इस सिलसिले मे हम यह कैसे अन्तर करेंगे कि क्या चीनी है क्या पश्चिमी ?

""मार्क्सवाद एक सामान्य सत्य है जो सार्वभौमिक रूप से लागू होता है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए लेकिन इस सामान्य सत्य को हर राष्ट्र की क्रान्ति के ठोस कर्म के साथ जोड़ा जाना चाहिए"" हमें सभी आधुनिक विज्ञानों का अध्ययन करना चाहिए। लेकिन जिन कुछ लोगो ने पश्चिमी औषधियों के बारे में अध्ययन किया है उन्हें चीनी औषधियों का भी अध्ययन करना चाहिए और अपने आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा पद्धति को व्यवस्थित कर अपनी प्राचीन चीनी चिकित्सा पद्धति और उ' करणों का अध्ययन करना चाहिए। चीन की नई सगठित चिकित्सा और औषधि विज्ञान के निर्माण के लिए उन्हें चीनी और पश्चिमी औषधि और औषधि विज्ञान का जोड़ना चाहिए""।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जहाँ तक आधुनिक संस्कृति का सवाल है पश्चिम का मानदण्ड हमसे ऊँचा है। हम पीछे छूट गए हैं।

क्या कला के सन्दर्भ मे भी यही स्थिति है? कला मे हमारी अपनी शक्ति और हमारी अपनी कमजोरियाँ हैं। अपनी कमियो को अपने गुणों मे परिवर्तित करने के लिए हमे अन्य देशो की अच्छी चीजों को अपने मे समा लेना चाहिए। यदि हम अपने पुराने तरीकों मे चिपके रहे और हमने विदेशी साहित्य का अध्ययन नहीं किया और न ही उसे चीन में शुरू किया, यदि हम यह नही जानते कि विदेशी संगीत कैसे सुना और सराहा जाए तथा उसे कैसे गाया और बनाया जाए तो यह अच्छी बात नही है"' विदेशी चीजों को अन्धा होकर अस्वीकार करना, अन्धों की तरह उसकी पूजा करने जैसा ही है। दोनों ही गलत और नुकसानदेह है। हमे लू सूं से सीखना चाहिए""अपनी रचना में उसके गुणों का अध्ययन करना चाहिए। चीनी और विदेशी कला के अच्छे तत्त्वो को एक दूसरे मे समा लेना चाहिए और एक नई कला को जन्म देना चाहिए जिसका चरित्र, रूप और शैली में राष्ट्रीय हों"' उदाहरण के लिए उपन्यास लिखते समय भाषा, चरित्र, पृष्ठभूमि निश्चय ही चीनी हो लेकिन जरूरी नहीं है कि वे चीनी 'किश्तवादी रूप' में लिखे गए हों""आप कुछ ऐसा रच सकते है जो न चीनी हो और न पश्चिमी, यदि हासिल यह भी निकले कि वह न तो गदहा हो और न घोडा बल्कि खच्चर हो तब भी वह बुरी बात न होगी"' विदेशी चीजो की विवेकात्मक स्वीकृति की ओर हमे ध्यान देना चाहिए और विशेष तौर पर तब जब हम समाजवादी ससार तथा पूंजीवादी ससार का प्रगतिशील जनता से कुछ ग्रहण कर रहे हो""इसे उपलब्ध करने के लिए हमे प्रयोगों से मुँह नही मोड़ लेना चाहिए।

मूल्यांकन

माओ-त्से-तुंग आज चीन का नहीं अपितु साम्यवादी जगत् का सबसे बड़ा नेता था। जनसंख्या की दृष्टि से चीन विश्व का सबसे बड़ा देश है और इस लिहाज से सबसे बड़ा साम्यवादी देश भी है। माओ का महत्त्व इस बात मे था कि वह लेनिन की भाँति विश्व के बहुत बडे भू-भाग में साम्यवाद को लाए और फिर इसके अनुसार उसने शासन और समाज को ढाला। नैपोलियन ने चीन के बारे मे कहा था कि इसे

सोए रहने दो, यदि यह जग गया तो विश्व को आतंकित कर देगा। इस जर्जरित और सुसुप्त राष्ट्र को जगाकर इसे विश्व-शक्ति बना देना कोई साधारण कार्य न था। माओ-त्से-तुंग ने यह कार्य किया और इसलिए यदि उसे आधुनिक चीन का निर्माता कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि माओ ने जो क्रान्तिकारी और विस्तारवादी विचार प्रसारित किए वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिए बड़े खतरनाक हैं। माओवाद शक्ति, हिंसा, अवसरवादिता और वर्ग-संघर्ष को तीव्र प्रोत्साहन देने वाली विचारधारा है जो विश्व को महाविनाशकारी युद्ध में धकेलने को उत्सुक है। माओ के लिए मैत्री, विश्वास और नैतिकता जैसे शब्द पाखण्ड थे। आज के आणविक युग में भी माओ ने जिस अनवरत संघर्ष, हिंसा, युद्ध और विनाश का सन्देश दिया वह निश्चय ही भयोत्पादक था। माओ ने सम्भवतः इस तथ्य की उपेक्षा कर दी कि मार्क्सवाद-साम्यवाद की जन्मभूमि सोवियत रूस तक समय की गति को पहचानकर सह-अस्तित्व की बात करने लगा है। विचित्र विडम्बना है कि जहाँ रूसी नेताओं ने 'युद्ध की अनिवार्यता' में अपना विश्वास शिथिल कर दिया है वहाँ माओ इस विचार का प्रसारक रहा कि तृतीय महायुद्ध, जो आणविक युद्ध होगा, सम्पूर्ण संसार से पूँजीवाद का विनाश करके साम्यवाद को सफल बनाएगा। माओ का शक्ति-दर्शन (Philosophy of Power) मार्क्स की इस मौलिक धारणा के प्रतिकूल है कि आर्थिक परिस्थितियाँ मानव-विचारों और संस्थाओं का निर्माण करती है। कोई भी ऐसी विचारधारा जो हिटलर और मुसोलिनी की याद दिलाती है, मानव-जाति के लिए भयावह है।

माओ बहुत उत्सुक था कि चीनी क्रान्ति का दूसरा विच्छेद-पुराने विचारों, पुरानी आदतों, पुरानी रीतियों और पुरानी संस्कृति से विच्छेद-भी करे। माओ का प्रमुख योगदान अधि-रचना के मार्क्सवादी सिद्धान्त को पहली बार ठीक-ठीक समझकर व्यवहार में परिणत करना था। वह पहला कम्युनिस्ट था जिसने ऐसा किया। उसके जीवन के अन्तिम वर्ष पुराने ढाँचे के खिलाफ क्रान्तिकारी लड़ाई गठित करने में बीते। निरन्तर क्रान्ति के उसके प्रयोग, उसके जन-अभियान, अधिरचना पर आक्रमण जारी रखने के लिए पार्टी के परे जाने के उसके प्रयत्न इसी दूसरे विच्छेद के उद्देश्य से थे। उसने बहुत स्पष्ट रूप से देखा था कि दूसरा विच्छेद करने के संघर्ष से ही पहला विच्छेद बचा रह सकता है। यह माओ की दृष्टि थी—एक महान् क्रान्तिकारी और एक महान् चीनी किसान के योग्य एक महान् दृष्टि।

गैर-मार्क्सवादी समाजवाद—लैसले
(NON-MARXIAN SOCIALISM-LASSALLE)

मार्क्स पर लिखे गए अध्याय मे यह कहा गया था कि मार्क्स और समाजवाद एकाकार हो गए है, लेकिन फिर भी एक गैर-साम्यवादी समाजवाद जैसी अवधारणा विकसित हुई। इसके समर्थकों मे वे व्यक्ति है जो समाजवाद मे आस्था रखते हैं, लेकिन राज्य के सम्बन्ध मे वे मार्क्स से भिन्न मत रखते हैं। मार्क्स से उनके मतभेद के मूल में राज्य है। वैसे भी यह सच है कि राज्य के कार्यों एवं शक्तियो की परिधि को लेकर राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे बड़ा विवाद रहा है। प्लेटो से लेकर आज तक सभी विचारको ने इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया है, लेकिन न इसका कोई समाधान सम्भव हो पाया है और न ही हो सकता है। इसकी अभिव्यक्ति एडमण्ड बर्क के इस वाक्य मे मिलती है कि सामाजिक दार्शनिकों के समक्ष सबसे बड़ी और जटिल समस्या इस बात को निश्चित करना है कि किस सीमा तक सार्वजनिक बुद्धि द्वारा राज्य स्वयं कार्यों का संचालन करे और किस सीमा तक यह कार्य, न्यूनतम हस्तक्षेप सहित, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए छोड़ दिए जाएँ।

मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी समाजवादी चिन्तन में मूल अन्तर राज्य को लेकर है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से, विशेषकर प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अनेक देश ऐसे थे, जहाँ समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। गैर-मार्क्सवादी समाजवादी रूप मे समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और वह अन्य सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिक समाज के पेचीदा हितों के साथ अधिक सहानुभूतिपूर्वक तथा प्रभावकारी ढंग से व्यवहार करने मे समर्थ है। प्रजातन्त्रीय राज्य का स्वाभाविक कार्य समूचे राष्ट्र के भौतिक हितों की अभिवृद्धि एवं परोपकारितापूर्ण एवं न्यायपूर्ण व्यवहार के राष्ट्रीय आदर्शों की रक्षा करके व्यक्तिगत कार्यों को सीमित करना तथा उनकी कमी की पूर्ति करना है। वह दुर्बलों की सहायता तथा सबलों के अन्यायो का दमन करता है और ऐसी सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान

करता है जो अकेले व्यक्तियों तथा छोटी संस्थाओं के प्रयत्न द्वारा सम्भव नहीं है।[1] कहने का अर्थ यह है कि ये अनियन्त्रित पूँजीवाद की बुराइयों पर रोक लगा देना चाहते हैं। ये मानते हैं कि चूँकि राष्ट्रीयकरण ने एकाधिकार का स्थान ले लिया है, अतः आधुनिक विशाल उद्योगों का संचालन राज्य द्वारा ही सुचारू रूप से किया जा सकता है। ये समाजवादी वयस्क मताधिकार के समर्थक हैं तथा श्रमिक संगठनों के माध्यम से प्रशासनिक ढाँचे को प्रभावित करते हैं।

फर्डिनेन्ड लैसले (1825-64)
(Ferdinand Lassalle)

"वैज्ञानिक समाजवाद के जनक" के रूप में यद्यपि मार्क्स ही जाना जाता है, लेकिन कुछ अन्य विचारक भी हैं जिनका भी समाजवाद की अवधारणा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनमें से फर्डिनेन्ड लैसले एक ऐसा व्यक्ति है जिसका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लैसले मार्क्स से आयु में कुछ छोटा था और उसकी मृत्यु भी मार्क्स के पहिले हो गई थी। लैसले को समाजवादी सिद्धान्त के इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता, लेकिन समाजवादी आन्दोलन के इतिहास से उसका पृथक् किया जाना भी असम्भव है।

लैसले को एक भ्रमकारी एवं रहस्यमय व्यक्ति कहा गया है। जार्ज मेरेडिथ ने उसे एक आकर्षक रहस्यमय व्यक्ति बताया जबकि कुछ व्यक्तियों ने उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा। जार्ज ब्रेन्ड ने बताया कि उसमें महानता थी, लेकिन वह अशुद्ध घमण्ड और उद्दण्डता के कारण विकसित न हो सकी।[2] लैसले ने जो कुछ लिखा उसे ज्यादा गम्भीरता से नहीं लिया जा सका। उसे घमण्डी और उद्दण्डी समझा गया और कहा गया कि उसने मानवीय उद्दण्डता की गहराई को प्राप्त कर लिया था। उसे ढोंगी, दिखावटी एवं अव्यवस्थित व्यक्ति कहा गया। उसका जीवन और यहाँ तक कि मृत्यु भी इसी कथन से आरोपित रहे।

उसने जो कुछ लिखा और किया उसका सार यह है कि "उसने मार्क्स के सन्देश को लोगों तक पहुँचाया जिनके लिए यह बनाया गया था। उसने समाजवाद को एक राजनीतिक आन्दोलन बना दिया।[3] जर्मन श्रमिक महासंघ का निर्माण उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। कोई भी श्रमिक मार्क्स के ग्रन्थों का रसास्वादन करने में असमर्थ था क्योंकि वे एक उच्च बौद्धिक स्तर पर लिखे गए थे। एक विद्वान लेखक की भाँति मार्क्स ने उनकी ब्रिटिश म्युजियम में रचना की थी।

लैसले मार्क्स का प्रचारक एवं व्याख्याता था जिसने मार्क्स को जनसाधारण के लिए समझाया। लैसले एक उबलता हुआ अग्नि-पिण्ड था, वह एक तूफान था जिसने श्रमिक आन्दोलन में प्राण फूंक दिए। आज चाहे वह भुला दिया जाए जो

1. फ्रान्सिस डब्ल्यू कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 83.
2. *Brandes* : Ferdinand Lassale, p. 222.
3. *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, p. 333.

कि प्राय. हर राजनीतिज्ञ और आन्दोलनकारी के साथ होता है, लेकिन वह अपनी मृत्यु के समय प्रचण्ड शक्ति था और मार्क्स को भी उसकी मृत्यु के समय इतनी ख्याति अर्जित नही हुई थी। वह एक पौराणिक पुरुष एवं लोक-कथाओं का विषय बन गया था एवं उन मृतकों मे समझा जाने लगा था जो कि फिर अपने आदमियों को मुक्ति दिलाएगा।[1]

मार्क्स और लैसले मे अन्तर

सैद्धान्तिक तौर पर लैसले का चिन्तन मार्क्सवाद पर ही आधारित है। लेकिन निकट भविष्य मे किए जाने वाले कार्यक्रम के बारे में इसका मार्क्स से मतभेद है। बावजूद लैसले द्वारा इन्कार किए जाने पर भी वह अपनी स्फूर्ति लुई ब्लाँ से ग्रहण करता है और इसके आवश्यक परिणाम के रूप में वह मार्क्स से कुछ मतभेद भी रखता है। यह मतभेद राज्य के सिद्धान्त को लेकर है और इस बात से सम्बन्धित है कि राज्य के द्वारा और राज्य के माध्यम से क्या किया जा सकता है।

यहाँ लैसले के चिन्तन से सम्बन्धित उन पहलुओं पर विचार किया जा रहा है जो मार्क्स की परिधि के अन्तर्गत नहीं आते और मार्क्स के जिन तत्वों को उसने विशेष महत्त्व दिया है। उन सबको उसने वैज्ञानिक समाजवाद का नाम देकर लोकप्रिय भी बनाया है। वह यह बात सिद्ध करना चाहता है कि आने वाला समाजवाद घटनाओं के क्रमिक विकास के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है और यह सब इतिहास के दर्शन पर आधारित होना चाहिए। वह इतिहास को तीन भागों में बाँटता है जो 1789 के फ्रेंच आन्दोलन से प्रारम्भ होता है। उसने बताया है कि क्रान्तियों का कभी निर्माण नही किया जा सकता। उन्हें केवल कानूनी मान्यता दी जा सकती है और जो समाज में हो चुका है उसको केवल शक्ल देनी होती है। दूसरे शब्दों मे, क्रान्ति जो कुछ हो चुका है उसकी स्वीकृति और क्रियान्विति है।[2]

लैसले ने बताया कि 1789 की फ्रांस की क्रान्ति इस बात की द्योतक है कि सामन्तवर्ग जिसकी शक्ति जमीन के स्वामित्व पर आधारित थी वह घटकर अर्थहीन हो गई है और वह बुर्जुआजी पर आधारित है। इससे इस वर्ग को कानून में वह स्थान मिल गया है जो इसको यथार्थ में था।[3] लेकिन यह वर्ग भी सम्पूर्ण समुदाय का प्रतिनिधित्व नही करता क्योंकि बुर्जुआजी केवल सम्पत्ति की योग्यता पर ही आधारित है। फ्रांस की क्रान्ति ने निःसन्देह श्रमिक को मुक्त कर दिया था, लेकिन उसने उसे कोई पूँजी नही दी और परिवर्तित युग के कारण जमीन के स्थान पर पूँजी का महत्त्व बढ़ गया।[4] लैसले ने कहा कि श्रमिक कानून की दृष्टि में बराबर और स्वतन्त्र है, लेकिन साधनों के अभाव में उसे जीवित रहने के लिए अपना जीवन

1. Quoted by *Gray Alexander* in The Socialist Tradition, p. 334.
2. Arbeiter Programme, p. 32.
3. Ibid, p. 36-37.
4. Ibid, p. 47.

बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।[1] उसने बताया कि 1789 का वर्ष जमीन पर निर्भर करने वाले सामन्तवाद की इतिश्री का वर्ष था और यह पूँजी के स्वामी पूंजीपति के उत्कर्ष का भी वर्ष था। उसने यह भी कहाकि 1848 का वर्ष बुर्जुआजी का अन्तिम वर्ष था जिसकी इतिश्री के उपरान्त एक जनमताधिकार पर आधारित नूतन मानवीय गुणो के युग का उत्कर्ष हुआ । इस प्रकार लैसले ने मानव-इतिहास को विभाजित किया और इन दो युगों के बीच मे केवल 59 वर्षों का मध्यान्तर रखा ।

यद्यपि लैसले ने 1862-63 में ये बातें लिखी और कही जबकि 1948 की क्रान्ति हो चुकी थी, लेकिन उसका कथन यही था कि नए युग का अभी तक सुप्रभाव नहीं हुआ है । इसके लिए उसने यद्यपि अधिक चतुराई के साथ प्रचार किया और पूंजीपति द्वारा श्रमिक के शोषण किए जाने के अनेक उदाहरण दिए, लेकिन फिर भी उसके विचारों का आधार मार्क्सवाद ही रहा ।

लैसले का कथन यही था कि श्रमिक सदा श्रम करता है, लेकिन वह सदा नुकसान में ही रहता है । उसने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो के अपेक्षाकृत लाभों और उसके परिणामो के विचार को विकसित किया तथापि उसके इन विचारों को बाद में इतनी मान्यता नही मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी । उसने यह दलील दी कि अप्रत्यक्ष करारोपण ज्यादा गरीब वर्ग के लोगों पर ही होता है । दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि यह दमनकारी है । लैसले ने अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य की आय का अधिक भाग अप्रत्यक्ष करो से ही आता है और इसको गरीब चुकाता है जबकि राजनीतिक सत्ता सम्पत्तियों की योग्यता के आधार पर प्रत्यक्ष करो पर आधारित है जिनसे राज्य को बहुत कम लाभ होता है । अप्रत्यक्ष करारोपण वह तरकीब है (लैसले ने इसको एक संस्था की संज्ञा दी है) जिसके द्वारा पूंजीपति ऐसा षड्यन्त्र रच लेते है जिससे बड़ी पूंजी करों के बोझ से मुक्त हो सके ।[2]

इस प्रकार लैसले द्वारा प्रतिपादित शोषण सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्ण रूप मे मार्क्स से लिया हुआ है, लेकिन इसमें मार्क्स की पेचिदगियाँ और उलझनें नही हैं और यह बहुत कुछ मार्क्स के पूर्ववर्ती अंग्रेज विचारकों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा से मिलता-जुलता है । इसका सार यही है कि श्रमिक को केवल मात्र जीवन-निर्वाह के लिए मिलता है जबकि पूंजीपति शेष सब-कुछ हड़प जाता है ।[3] इस विचार के तीन मुख्य तत्त्व हैं । सर्वप्रथम, लैसले ने बताया कि जीवन-निर्वाह स्तर की मजदूरी "आइरन लॉ ऑफ वेजेज" (Iron Law of Wages) में आबद्ध है। यह "आइरन लॉ ऑफ वेजेज" की अभिव्यक्ति वास्तव में लैसले की एक देन है । इस कानून को इसने खूब प्रचारित किया और इसके कारण लैसले को इतनी बड़ी ख्याति भी प्राप्त

1. *Herr Bastiat* : Scheulzevon Delitzsch, pp 105-106.
2. Arbeiter Programme, p. 50-51.
3. *Offens* : Antwortschraibem (Buchhandleny vorwarts edition) p 39.

हुई। द्वितीय, मजदूरी के लौह कानून की जड़ें माल्थस के सिद्धान्त में नहीं थीं। उसने बताया कि मजदूरी का लौह कानून यह स्पष्ट करता है कि जीवन-निर्वाह से अधिक कुछ मिल भी जाए तो वह श्रमिक के लिए हितकारी नहीं होता क्योंकि उसके बच्चों की संख्या अधिक होने लगती है जो खाने के लिए मुँह खोलते हैं। इस प्रकार लैसले द्वारा बताई गई स्थिति यह है कि यदि श्रमिक को जीवन-निर्वाह के लिए काफी मिलता है तो वह मालिक के लाभ के लिए स्वतः एक पीढ़ी का निर्माण कर देगा।

लैसले द्वारा प्रतिपादित लौह कानून का सम्बन्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो के विचारों से भी है। मार्क्स के पूर्ववर्ती अंग्रेज समाजवादियों की भाँति लैसले ने भी रिकार्डो एवं अन्य परम्परावादी अर्थशास्त्रियों की आलोचना कर मार्क्स के प्रति आस्था व्यक्त की। उसने बताया कि रिकार्डो परम्परावादी चिन्तन को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा देता है जहाँ से समाजवाद की ओर आकृष्ट होने की आवश्यकता है। उसने बताया कि समाजवाद रिकार्डो के विरुद्ध संघर्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[1]

उसने शोषण के बारे में जो कुछ कहा उससे लगता है कि वह प्रोदाँ के बहुत नजदीक है। उसने श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया और इससे जो निष्कर्ष निकाले वे अनेक दिशाओं में बहे। इसी के अन्तर्गत उसने शोषण करने की भावना का उल्लेख भी किया। उसने बताया कि श्रम-विभाजन से ही श्रमिक जीवन-निर्वाह से अधिक कमा सकता है।[2] वह श्रम-विभाजन को समस्त धन का स्रोत मानता था। उसके अनुसार पूँजीपति जो करता है वह यह है कि वह श्रम विभाजन से उत्पन्न लाभों को अपने हित में परिवर्तित कर लेता है और ज्यों-ज्यों उत्पादन में वृद्धि होती है त्यों-त्यों पूँजीपति को अधिकाधिक लाभ होता जाता है।[3]

लैसले ने श्रम-विभाजन के सिद्धान्त से एक और विचार निकाला जो उसे बहुत ही प्रिय था। उसने बताया कि जो अनुशासन और व्यवस्था उत्पादन में रहती है वह वितरण के समय अराजकता में परिवर्तित हो जाती है। श्रम-विभाजन का यह सार है कि उपभोक्ता एवं उत्पादन के बीच अधिक लम्बी डोरी होती है। उसके अनुसार एक समय था जब कि मनुष्य अपने हाथ के किए गए श्रम पर रहता था, लेकिन आज तो स्थिति यह आ गई हैं कि कोई भी व्यक्ति ऐसी चीज पैदा नहीं करता जो बेची जा सके या जिस पर वह जिन्दा रह सके। वह व्यक्ति जो जिस चीज को पैदा करता है वह उसको बेच नहीं सकता। आज उपभोक्ता का बाजार सारा विश्व बनता जा रहा है और इसलिए जो एक भाग में होता है वह दूसरे भाग को प्रभावित करता है। परिणामस्वरूप मनुष्य का उत्तरदायित्व निश्चित करना मुश्किल हो गया है। लैसले को यह कहना बड़ा ही रुचिकर लगता था कि आर्थिक क्षेत्र में मनुष्य को उस काम के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है जो उसने नहीं किया है।[4]

1. "Socialism is nothing other than a right against Ricardo"—*Lassalle.*
2. *Bastiat* : Schulzevon Delitzsch, p. 110.
3. *Ibid*, pp. 210-213.
4. Ibid, p. 37.

लैसले ने बताया कि यह सब कुछ कोरे अवसर पर निर्भर करता है और जहां सब कुछ अवसर पर ही रहता है वहां मनुष्य की स्वतन्त्रता नही रह सकती।[1]

फिर भी वह यह मानता था कि हम अर्द्धसमाजवादी विश्व मे रहते हैं। क्योंकि श्रम-विभाजन हमे बांधता है, इसमे यह निहित है कि संगठन मे ही कार्य सम्भव है, यह समाज को बांधे हुए है ताकि अधिक उत्पादन सम्भव हो सके।[2] इसलिए उत्पादन व्यवस्था और अनुशासन से सम्बद्ध है, लेकिन वितरण मे ऐसा नहीं होता। हमारे संगठन मे इतना अन्तर्द्वन्द्व है कि उत्पादन के समय समूहवाद रहता है, लेकिन वितरण के समय व्यक्तिवाद आ जाता है।[3] इस प्रकार आज हम अराजक समाजवाद की अवस्था में रह रहे है।[4]

लैसले का कथन है कि उत्पादन मे जो व्यवस्था और अनुशासन होते है वे यदि अन्यत्र भी प्रयोग मे लाए जाएँ तो समाजवाद एक पक्षीय न रहे।

जहाँ लैसले का मार्क्स से तीव्र मतभेद है वह तत्काल होने वाले उपायों से सम्बन्धित था। लैसले का विचार था कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने श्रमिक को थोथी स्वतन्त्रता दी थी, उसे किसी प्रकार पूंजी प्राप्त नही हुई थी और इसीलिए वह शोषण-कर्त्ता पूंजीपति के समक्ष असहाय अवस्था मे था। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पूंजी को या तो इतना घटा दिया जाए या इसको इतना परिवर्तित कर दिया जाए कि वह उत्पादन के कार्य में निर्जीव यन्त्र बन जाए। इस यथार्थ मे सामान्य श्रमिक के स्तर को उन्नत करने के लिए कुछ भी नही किया जाता है। उदाहरणार्थ बचत बैंक कुछ की सहायता कर सकते है लेकिन वह भी प्रभावशाली ढंग से नही जिसका अन्तिम परिणाम यह निकलता है कि मृत्यु-संग्राम को कुछ समय के लिए बढा दिया जाए। उपभोक्ता सहकारी सोसायटियो को भी लसले ने इसी श्रेणी मे रखा।

लैसले की दृष्टि मे इन सबके पीछे केवल एक बात है और वह यह कि स्वय सेवा के नाम पर श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए जो भी प्रयास किए जाते हैं वे सब स्वतः निष्फल होते है क्योकि लौह कानून उनकी स्थिति के सुधरने के अनुपात मे मजदूरी को कुचल देता है। इस प्रकार सभी सुधार और विकास-कार्य लौह कानून द्वारा अवरुद्ध हो जाते हैं। लैसले इस निष्कर्ष पर आया कि यदि श्रमिक को बचाना है तो लौह कानून को नियन्त्रित किया जाना चाहिए। अधिकाधिक श्रम संगठन बनाया जाना चाहिए और वही मुक्ति का मार्ग है, लेकिन सर्वप्रथम उसको उत्पादन के क्षेत्र मे लागू किया जाना चाहिए। उद्योगो मे उत्पादक संघो का निर्माण किया जाना चाहिए जिन्हे गिल्ड या और कुछ कहा जा सकता है। लेकिन मूल बात यह है कि उद्योगो का स्वामित्व और उनका नियन्त्रण श्रमिकों मे निहित हो। इस

1. Ibid, p. 41.
2. Ibid, pp. 114—117.
3. Ibid, p 57.
4. "We are living in a State of anarchic socialism !" —Ibid, p. 216

प्रकार मजदूरी और लाभ दोनों मे अन्तर समाप्त हो जाता है और श्रमिक को श्रम-उत्पादन का लाभ प्राप्त हो जाता है ।

लैसले ने उद्योगों की स्थापना के तरीके सम्बन्ध में भी कुछ मौलिक बातें कही जो उसकी विशेषता बताती हैं और यहां पर वह मार्क्स से बहुत कम प्रभावित है । उसने बताया कि श्रमिक स्वयं परिवर्तन नही ला सकता । इसके लिए उन्हें राज्य की ओर देखना होगा । राज्य का कार्य श्रमिकों के संगठन को आगे बढाना और उन्हें आवश्यक साधनों से ओत-प्रोत करना होगा ।[1] यह वास्तव में बहुत ही पृथक् विचार है जो मार्क्स और एंजिल्स के राज्य सम्बन्धी विचार से दूर है । उसने जर्मन श्रमिको को राज्य के बारे मे बताते हुए कहा कि राज्य श्रमिकों और मोहताज व्यक्तियों का है तथा वे और उनके संगठन ही राज्य का निर्माण करते हैं ।[2]

स्पष्ट है कि लैसले द्वारा प्रतिपादित राज्य मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचार से बहुत दूर और भिन्न हो गया है । उसके चिन्तन में राज्य का एक सकारात्मक और सक्रिय राज्य का स्वरूप है । लेकिन यह उस बुर्जुआ विचार से भी पृथक् है जो यह मानता है कि राज्य का कार्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी सम्पत्ति की रक्षा करना है । यह वास्तव मे एक बहुत ही संकीर्ण व्यक्तिवादी विचार है जो राज्य के कार्य को अत्यन्त सीमित कर देता है । लैसले ने राज्य को एक चौकीदार की संज्ञा दी जिसका कार्य चोरी और डाके से जनता को मुक्त रखना है, लेकिन उसने यह भी कहा कि यदि ये नही होंगे तो राज्य अनावश्यक हो जाएगा ।[3] अलैक्जेण्डर ग्रे ने बताया कि लैसले मे अराजकतावादी, श्रम संघवादी और एक साम्यवादी के विचारों का सम्मिश्रण मिलता है । लेकिन आगे चलकर वह एक समष्टिवादी के रूप में भी हमारे समक्ष आता है ।

राज्य के सम्बन्ध मे उसके अन्य विचारों से उसको अराजकतावादी श्रम-संघवादी और साम्यवादी कहना मुश्किल हो जाएगा । बजाए इसके कि वह राज्य के मुर्झाने की कल्पना करता, उसने राज्य में प्रचण्ड आस्था केन्द्रित की जिसका कार्य नैतिक उत्थान और मानव की स्वतन्त्रता को विकसित करना होगा । वह राज्य की प्रशंसा में अनेक गुण गाने लगा । उसने बताया कि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता की वृद्धि करने के लिए जीवित रहता है—यह मनुष्यों को सामूहिक रूप से आध्यात्मिक बनाने के लिए उनका एक संगठन है । उनका उद्देश्य व्यक्ति को उसके विकास की पराकाष्ठा पर ले जाना है जो वह बिना इसके प्रयासों के कभी प्राप्त नही कर सकता था । राज्य की यह परिभाषा अरस्तू के मुँह से भी शोभा दे सकती थी । अरस्तू की भाँति उसने भी यह बताया कि राज्य का कार्य मानव-समाज की सांस्कृतिक प्रगति करना है । इस प्रकार लैसले ने राज्य की स्तुति की ।

1. Offenes Antevortschreiben, p. 46.
2. Ibid, p. 53.
3. Arbeiter Programme, p. 65.

अन्त में यही कहा जा सकता है कि लैसले, जहाँ तक उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का सवाल है, मार्क्सवाद का प्रचारक ही है। यह कहा जाता है कि वह मार्क्स के 'Capital' को पढ़ने के अवसर से वंचित ही रहा और इसलिए उसे मार्क्स की प्रारम्भिक रचनाओं को ही अपने विचारों का आधार बनाना पड़ा। जहाँ तक शोषण पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रश्न है उसने लौह कानून के मूल में इसके अस्तित्व को बताया और इसे इतने प्रभावशाली ढंग से प्रचारित किया कि इस विचार को काफी समय तक स्थायित्व मिला रहा। पर लैसले समाजवाद के सैद्धान्तिक प्रणेता के अलावा एक राजनीतिज्ञ के रूप में भी हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ और यहाँ उसने कट्टर मार्क्सवाद से पृथक् रास्ता चुना। राज्य सम्बन्धी परम्परागत मार्क्सवादी विचार से वह सहमत न था। उसने राज्य के सकारात्मक और रचनात्मक स्वरूप को समझने और समझाने की कोशिश की। उसने यह प्रचारित किया कि वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचित सरकार सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार लैसले को उन व्यक्तियों की पंक्ति मे रखा जा सकता है जिन्हे राज्य समाजवादी कहा जा सके।

आलोचना एवं मूल्यांकन

लैसले के चिन्तन में मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी तत्त्व निहित हैं। एक ओर उसके विचारों का आधार मार्क्सवाद मे है जब कि दूसरी ओर उसके द्वारा प्रतिपादित अनेक सिद्धान्त मार्क्स से बहुत दूर चले गए हैं। यहाँ विशेष तौर पर उसके राज्य सम्बन्धी विचारों को लिया जा सकता है। मार्क्स के लिए राज्य के एक वर्ग के हाथ में कठपुतली है जिसका काम दूसरे वर्ग का शोषण करना है और जब समाज में एक ही वर्ग रहेगा तो राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी तथा यह मुर्झा जाएगा। लेकिन लैसले राज्य की स्तुति करता है, उसने आदर्शवादियों की भाँति राज्य को जनहित का एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र माना है। उसने एक राज्य समाजवादी की भाँति राज्य को गरीबो के हित मे प्रयोग में लाने को कहा है। राज्य गरीबों के हित में कार्यरत हो, यह विचार मार्क्सवाद विरोधी है। ऐसा विचार प्रतिपादित करते समय लैसले यह भूल गया है कि राज्य किस प्रकार श्रमिक वर्ग के कल्याण में संलग्न हो सकेगा जबकि समाज का साधन-सम्पन्न वर्ग इसे अपने लिए प्रयोग में लाना चाहेगा। लैसले ने एक आदर्शवादी की भाँति यह तो कह दिया कि राज्य श्रमिको का है, लेकिन क्या यह तथ्यों से आँख मूंदना नही है ?

उसने यह भी बताया कि वयस्क मताधिकार पर आधारित राज्य जनतांत्रिक होगा तथा यह सारे समाज का प्रतिनिधित्व करेगा। यह भी तथ्यों पर आधारित नही है कि केवल वयस्क मताधिकार से राज्य का स्वरूप जनतान्त्रिक हो जाता है। देखा यह गया है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य चन्द उद्योगपतियों के हाथ मे खेलता है और इस यंत्र का उपयोग श्रमिकों के शोषण के लिए किया जाता है। मार्क्स का यह कथन बहुत सही है कि उत्पादन के साधनों पर जो नियन्त्रण करता

है राज्यतन्त्र भी उसके अधीन कार्य करता है। फिर लैंसले का यह विचार कि राज्य श्रमिक वर्ग के लिए कार्य करेगा न केवल मार्क्सवादी चिन्तन से उसे दूर ले जाता है बल्कि एक बड़ा प्रश्न भी खड़ा कर देता है। प्रश्न यह है कि जब तक उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का स्वामित्व नहीं होता तब तक राज्य कभी भी श्रमिक के हित में काम नहीं कर सकता। लैंसले इस तथ्य को अधिक स्पष्ट नहीं करता और इसलिए जब तक उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का नियन्त्रण स्थापित नहीं हो जाता तब तक राज्य को एक कल्याणकारी और समाज-परिवर्तन का एक यन्त्र मानना हानिकारक हो सकता है।

लैंसले का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उसने राजकीय समाजवाद के विचार को आगे बढ़ाया। इतिहास में उसका नाम गैर-मार्क्सवादी समाजवाद के साथ जुड़ गया है तथा यथार्थ मे यह राजकीय समाजवाद ही है। मार्क्स के प्रभाव में सभी समाजवादी राज्य का वर्ग के आधार पर विवेचन करने लगे थे, लेकिन लैंसले ने मार्क्सवादी होते हुए भी इसके उपयोग की बात कही। उसने जो बताया वह कोई लोक-कल्याणकारी राज्य की बात नहीं है बल्कि एक ऐसे राज्य की कल्पना है जो श्रमिकों के लिए है और जिसके माध्यम से बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध श्रमजीवी वर्ग संघर्ष करता है।

लैंसले का यह विचार एक दृष्टि से अनूठा भी है। चाहे मार्क्स और एंजिल्स कितनी भी यह आशा रखें कि एक समय आएगा जबकि राज्य मुर्झा जाएगा, लेकिन यह विचार काल्पनिक ही प्रतीत होता है। विश्व के प्रथम साम्यवादी देश सोवियत रूस में क्रान्ति आए करीब 60 वर्ष होने को आए, लेकिन ऐसा कोई आभास नहीं नजर आता कि राज्य दुर्बल होता जा रहा है। जब राज्य समाप्त हो ही नहीं सकता और यह हमारे सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है तो फिर इसे क्यों न स्वीकार किया जाए। राज्य के सकारात्मक और रचनात्मक पक्ष तथा इसके सर्वहारा वर्ग द्वारा प्रयोग पर बल देना लैंसले का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेकिन लैंसले का महत्त्व एक सिद्धान्तवेत्ता के रूप मे इतना नहीं है जितना कि मार्क्स के एक प्रचारक के रूप में है। लैंसले की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उसने मार्क्स के जटिल एवं विद्वतापूर्ण सिद्धान्तों को जन-साधारण तक पहुँचाया।

वैसे लैंसले पर अनेक आरोप हैं। उसे अय्याश, आरामतलबी एवं आडम्बरी कहा गया है। जिन परिस्थितियों में उसकी जीवन-लीला समाप्त हुई उन्हें भी दुःखद कहा जाएगा। बात इस प्रकार है कि बर्लिन की साहित्यिक एवं फैशन की दुनियां में उसका परिचय एक सुन्दरी कुलीन बोन डोनिजेज से हुआ जो केवल 20 वर्ष की नवयुवती थी। यह परिचय विवाह में परिणत होने से रुक गया क्योंकि लड़की के पिता ने इसका विरोध किया। लड़की को शादी एक अन्य व्यक्ति से निश्चित हो गई जिस पर आग बबूला होकर लैंसले ने लड़की के पिता और होने वाले पति को लड़ाई के लिए ललकारा। यह लड़ाई लैंसले के लिए प्राणघातक सिद्ध हुई। लेकिन यह

सब उसका व्यक्तिगत जीवन था जिससे हमारा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। चाहे वह किन्हीं परिस्थितियों में मरा हो, उसे एक शहीद की मौत मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक कुशल वक्ता, उत्साही व्यक्ति एवं प्रबल इच्छा शक्ति वाला व्यक्ति था जिसकी रगों में क्रान्ति भरी थी। कुछ लोगों ने उसे बिस्मार्क के समकक्ष रखा है। यदि बिस्मार्क का उद्देश्य जर्मनी का एकीकरण था तो लैसले का लक्ष्य श्रमिकों के हित में वृद्धि कर समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना करना था। वह चाहता था कि श्रमिकों को उनके श्रम का उचित लाभ दिलाने के लिए उत्पादक संघों का निर्माण किया जाए एवं राज्य इन्हें पूँजी एवं सहायता देना अपना कर्त्तव्य माने। वह व्यक्तिवाद, मध्यमाव्यम नीति, स्वतन्त्र व्यापार, पूँजीवाद शोषण आदि के विरुद्ध था। उसको इस बात का श्रेय है कि उसने समाजवाद के जटिल सिद्धान्त को सरल बनाकर तथा श्रमिक आन्दोलन के साथ जोड़कर इसे सर्वसाधारण तक पहुँचाने में अभूतपूर्व योगदान दिया। साथ ही उसने यह भी बताया कि समाजवाद मार्क्सवाद से कुछ भिन्न भी हो सकता है। यही कारण है कि उसे गैर-मार्क्सवादी समाजवादी चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

---

6 अराजकतावादी परम्परा और समाजवाद—प्रोदाँ, बैकुनिन, क्रोपोटकिन, बर्ट्रैण्ड रसेल

(The Anarchist Tradition and Socialism—Proudhon, Bakunin, Kropotkin, Bertrand Russell)

"Anarchism" शब्द ग्रीक शब्द 'Anarchia' से बना है जिसका अंग्रेजी में अर्थ 'No Rule' है। प्राचीन यूनान में अराजकता की परम्परा का उल्लेख मिलता है। स्टोइक विचारधारा यही थी कि श्रेष्ठ जीवन संगठित राज्य मे सम्भव नहीं है, यह तो केवल उन सामाजिक परिस्थितियों मे सम्भव है जहाँ मनुष्य अपनी उन्मुक्त भावनाओं के अनुकूल कार्य कर सके। मध्ययुगीन चिन्तन में धर्म को एक व्यवस्थित एवं न्यायोचित जीवन को संचालित करने के लिए पर्याप्त माना जाता था और इसलिए राज्य का स्थान धर्म के अधीन एक पुलिस विभाग से अधिक कुछ भी नहीं था। यूनान और यूरोप में अन्य स्थानों पर ही नहीं, विश्व के अनेक देशों मे भी इस प्रकार के विचार को बल मिला है। प्राचीन भारत का चार्वाक दर्शन अराजक है जिसने ईश्वर तक के अस्तित्व को चुनौती दी और भौतिकवाद को ही एकमात्र सत्य माना। ईसामसीह से करीब तीन सौ वर्ष पूर्व चीनी दार्शनिक चुआंग जु (Chuang Tzu) ने अराजक विचार का समर्थन किया था। इस प्रकार के उदाहरण अन्य देशों से भी दिए जा सकते हैं। लेकिन यहाँ हमारा उद्देश्य आधुनिक अराजकतावाद का अध्ययन करना है। प्राचीन और आधुनिक अराजकतावाद में मूल अन्तर है। प्राचीन अराजकतावादियों ने इस विचार का उपयोग एक राज्य विहीन समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए नहीं किया जबकि आधुनिक अराजकतावादियों ने निजी सम्पत्ति, संगठित धर्म एवं राजनीतिक सत्ता का विरोध किया है। मध्य युग मे अनेक सम्प्रदाय यह स्वीकार करते थे कि व्यक्ति पर राष्ट्र का कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए क्योंकि धर्म उसे व्यवस्थित और सन्तुलित जीवन-निर्वाह करने के लिए पर्याप्त है। आधुनिक समय मे राजनैतिक दमन से मुक्ति पाने हेतु अराजकतावादी दर्शन का अभ्युदय हुआ और इसके पीछे इनका तर्क यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक विवेकशीलता एवं सामाजिकता सुखी एवं उचित सामाजिक जीवन के लिए सर्वश्रेष्ठ आधार है।

अराजकतावादी दर्शन का मूलाधार

प्रो० कोकर के अनुसार अराजकतावाद का सिद्धान्त यह है कि राजनैतिक सत्ता किसी भी रूप में अनावश्यक और अवांछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धांतिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।[1]

प्रिन्स क्रोपोटकिन के अनुसार अराजकतावाद जीवन का वह सिद्धान्त और आचरण है जिसके अन्तर्गत समाज का संचालन बिना सरकार के किया जाता है। ऐसे समाज में सामञ्जस्य कानून के प्रति समर्पण करके अथवा किसी सत्ता के आदेशों का पालन करके नहीं किया जाता बल्कि अनेक प्रकार के भौगोलिक और व्यावसायिक समूहों के बीच उत्पादन और उपभोग के लिए तथा एक सुसभ्य जाति की प्रेरणा स्वरूप अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वतन्त्रतापूर्ण किए गए समझौतों के आधार पर प्राप्त किया जाता है।[2]

प्रिन्स क्रोपोटकिन ने अपनी पुस्तक 'The Conquest of Bread' में लिखा है कि अराजकतावाद का अर्थ-अव्यवस्था नहीं है। उसका अर्थ है राज्य तथा उसके द्वारा घोषित विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों से शत्रुता। यह सत्य नहीं है कि जहाँ कोई शासन वर्ग नहीं होता वहाँ अव्यवस्था ही होती है। इसके अतिरिक्त जो व्यवस्था राज्य की सबल शक्ति के परिणामस्वरूप होती है उसकी उपयोगिता संदिग्ध ही है। क्रोपोटकिन ने विशेष रूप से इस आक्षेप पर विचार किया कि क्या राजसत्ता के अभाव में व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करेंगे और काम करना नहीं चाहेंगे तथा समाज-विरोधी काम करने लगेंगे।[3]

बेकुनिन के अनुसार अराजकतावादी क्रान्ति का अर्थ है उन सब बातों का सर्वनाश जो सामूहिक रूप से सार्वजनिक व्यवस्था के नाम से पुकारी जाती है। इस विनाश में एक सीमा तक हिंसा की आवश्यकता होगी। यह कार्य मतदान द्वारा पूरा नहीं हो सकता अतः इसमें आवश्यक रूप से कुछ रक्तपात अवश्य होगा क्योंकि कुछ लोग दृढ़ता से इसका विरोध करेंगे और साथ ही जनता में अपने पुराने शोषकों के प्रति प्रतिशोध की स्वाभाविक भावना भी भड़केगी।[4]

"रसेल के अनुसार अराजकतावाद वह सिद्धान्त है जो हर प्रकार की आरोपित सरकार का विरोध करता है। यह राज्य का विरोधी है जो कि शक्ति का प्रतीक है, जो समाज में शासन का आधार है। अराजकतावाद जिस व्यवस्था को बर्दाश्त कर सकता है वह ऐसी है जिसमें स्वतन्त्र सरकार है, जो कि बहुमत का शासन नहीं है बल्कि जिसे सबकी स्वीकृति प्राप्त है। अराजकतावादी पुलिस और फौजदारी कानून

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 181.
2. *C.E.M. Joad* : Modern Political Theory, pp. 100-101.
3. कोकर : वही, पृष्ठ 203.
4. वही, पृष्ठ 193.

जैसी संस्थाओं के विरुद्ध है जिनके माध्यम से समाज में एक भाग की इच्छा दूसरे भाग पर जबर्दस्ती लादी जाती है। स्वतन्त्रता अराजकतावादियों के लिए सबसे बड़ा ध्येय है और यह केवल तब ही सकती है जबकि व्यक्ति पर समाज द्वारा लादे गए सभी नियन्त्रण समाप्त कर दिए जाएँ।"[1]

अराजकतावादी दर्शन

आधुनिक अराजकतावाद दो विचार-धाराओं से आगे बढ़ा है—एक व्यक्तिवादी और दूसरी साम्यवादी। व्यक्तिवादी अराजकतावादियों में जोशियावारन, मेक्सटर्नर तथा बैंजिमिन टक्कर और साम्यवादी अराजकतावादियों में बेकुनिन तथा प्रिन्स क्रोपोटकिन प्रमुख हैं। साम्यवादी अराजकतावादी इतिहास में ज्यादा प्रसिद्ध हुए हैं। दोनों ही धाराओं के समर्थक राज्य के उन्मूलन मे विश्वास करते हैं लेकिन सम्पत्ति के अधिकार और उसके वितरण के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद हैं। साम्यवादी अराजकतावादियों के मत में सम्पत्ति पर ऐच्छिक संघों का अधिकार होना चाहिए।

यह कहा जाता है कि साम्यवाद का अन्त अराजकतावाद का प्रारम्भ है। चूंकि साम्यवाद एक वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है अतः जिस दिन साम्यवाद इस अवस्था को प्राप्त करने मे सफल होगा उसी दिन अराजकतावादी सिद्धान्त पर आधारित समाज का अभ्युदय हो जाएगा। इसीलिए कहा जाता है कि साम्यवाद यदि साधन है तो अराजकतावाद उसका साध्य है।

अराजकतावादियों का जबर्दस्त प्रहार राज्य रूपी शोषक एवं अनावश्यक संस्था पर है। वे राज्यों को दुर्गुण मानते हैं और इसे व्यर्थ का आडम्बर समझते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था को कायम रखने मे सहायता देता है। अराजकतावादी राज्य पर यह आरोप लगाते हैं कि उसके कारण ही समाज मे शोषण, अन्याय, विषमता और अत्याचार दिखाई देते है। वे राज्य को एक अनैतिक संस्था मानते हैं जिसके अस्तित्व का कोई औचित्य नही है। उनका कथन है कि राज्य दो भयंकर अपराध करता है प्रथम तो यह निरपराध व्यक्तियों को अपराधी बनाता है और दूसरे शुरू से अपराधी होने के अभियोग में दण्ड देता है। इस प्रकार राज्य नैतिक मूल्यों के सृजन करने के स्थान पर प्रचलित नैतिक मूल्यो को समाप्त और कर देता है।

अराजकतावादी मनुष्य को अपनी प्राकृतिक अवस्था में अच्छा मानते हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नही होता, लेकिन समाज और उसकी सस्थाएँ जो राज्य द्वारा नियन्त्रित होती हैं मनुष्य को भ्रष्ट कर देती हैं। वह इस भ्रष्ट वातावरण में सहयोग की भाषा भूल जाता है और अपने सामाजिक दायित्व से दूर चला जाता है। इतना ही नही, वह समाज विरोधी प्रवृत्तियों मे संलग्न भी हो जाता है। सार यह है कि मनुष्य यदि राज्य-विहीन समाज मे रहे तो अधिक श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बन सकता है। चूंकि अराजकतावादी मनुष्य को स्वभाव से अच्छा मानते हैं और राज्य के

1. *Bertrand Russell*: Roads to Freedom, p. 50

कारण मनुष्य पर असामाजिक प्रभाव पड़ता है और मनुष्य का इसके कारण विकास अवरुद्ध हो जाता है इसलिए वे राज्य को समाप्त करने के पक्ष में हैं।

अराजकतावादियों की मान्यता है कि राज्य के अभाव में समाज का संचालन अधिक सुचारु रूप से हो सकेगा। मनुष्य को भ्रष्ट और अपराधी बनाने वाली संस्था राज्य है। राज्य व्यक्तियों को अपराधी बनाता है और फिर उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए सेना एवं पुलिस की व्यवस्था करता है। यह व्यवस्था बड़ी खर्चीली होती है और यह व्यर्थ का खर्च है जो सारे समाज को वहन करना पड़ता है। व्यक्तियों के हितों में पारस्परिक टकराहट का कारण भी राज्य ही है। इस टकराहट के कारण आन्तरिक अशान्ति उत्पन्न होती है। जैसे राज्य के अन्तर्गत वर्गों में आन्तरिक टकराहट होती है वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राज्यों में पारस्परिक टकराहट होती है। आन्तरिक टकराहट के लिए प्रायः पुलिस और बाह्य आक्रमण से रक्षा करने के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती है। सेना और पुलिस आधुनिक राज्य के मूल स्तम्भ हैं जो शोषण एवं दमनकारी शक्ति पर निर्मित हैं। अराजकतावादियों का कहना है कि यह सारी व्यवस्था दूषित है। इसको हटाए बिना मनुष्य का कभी भी विकास नहीं हो सकता। यदि राज्य नहीं होगा तो वर्ग भी नहीं होंगे, और जब वर्ग नहीं होंगे तो कभी आन्तरिक शान्ति भंग न होगी, न पुलिस की आवश्यकता पड़ेगी और न सेना की, न नियन्त्रण की आवश्यकता होगी और न बोझीले करों से ही जनता को दबाया जाएगा। अराजकतावादियों के अनुसार विकास का एकमात्र रास्ता एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें न राज्य हो और न वर्ग ही।

अराजकतावाद पूँजीवाद का शत्रु है। अराजकतावादियों के अनुसार वर्तमान समय में व्याप्त विषमता, वैमनस्य, वर्ग-संघर्ष, शोषण, गरीबी, दयनीयता आदि का कारण पूँजीवाद ही है। पूँजीवाद एक भयंकर रोग है जो सर्वसाधारण को सुख से नहीं रहने देता, उनके श्रम का लाभ चन्द लोगों को ही मिलता है। पूँजीवाद में अपरिमित साधनों के कारण कुछ लोग राजनैतिक सत्ता को अपने हाथ में ले लेते हैं और राज्य ऐसी स्थिति में केवल पूँजीपति वर्ग का हित सम्पादन करता है। अराजकतावादी न केवल पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं बल्कि धर्म को भी पाखण्ड समझते हैं और कहते हैं कि इससे धनवानों को अपने कार्य में मदद मिलती है। धर्म वह साधन है जिसके द्वारा धनवान गरीब का शोषण करता है। बेकुनिन के अनुसार सब निरंकुश शासन-प्रणालियों में थोथे सिद्धान्तवादियों और धर्मान्धों का निरंकुश शासन सबसे अधिक खराब होता है। धर्म के नाम पर शासकों ने शासितों को सन्तोष और भाग्यवाद का उपदेश देकर अत्याचारों का शान्तिपूर्वक सहन करने का पाठ पढ़ाया है। धर्म सदैव प्रतिक्रियावादी रहा है।

अराजकतावादी विचारक प्रोदाँ (1809–1865)

(Pierre Joseph Proudhon)

अराजकतावादी विचारकों में विलियम गॉडविन हॉगस्किन, प्रोदाँ, माइकिल बैकुनिन और प्रिन्स क्रोपोटकिन अधिक प्रसिद्ध हैं। इस सूची में दो और नाम जोड़े

जा सकते हैं-जोशिया वारेन और बैंजमिन टक्कर। विलियम गॉडविन और हॉगस्किन का अध्ययन इस पुस्तक में पहले ही किया जा चुका है। प्रोदॉ, बैकुनिन और क्रोपोटकिन का कुछ विस्तार से तथा वारेन और टक्कर का, संक्षेप में, यहाँ अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रोफेसर कोकर का कथन है कि प्रोदॉ (1809–1865) शायद सर्व प्रथम व्यक्ति था जिसने स्वयं को अराजकतावादी घोषित किया। प्रोदॉ फ्रांस के एक गाँव में एक अत्यन्त गरीब परिवार में पैदा हुआ था, लेकिन उसने अथक् परिश्रम करके कॉलेज स्तर की शिक्षा प्राप्त की। उसका पैरिस नगर की अकादमी में अपने समय के उग्र समाजवादियों से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ जिसका उसके मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसको अपने विचारों के कारण कई बार जेल एवं अन्य यातनाएँ सहनी पड़ीं। सन् 1848 की क्रान्ति के समय उसने राज-द्रोहात्मक साहित्य लिखा जिसके कारण उसे जेल जाना पड़ा। उसके प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'What is Property' में उद्धृत विचारों के कारण उसे न्यायालय के समक्ष पेश किया गया। उसने *सम्पत्ति क्या है* का उत्तर यह दिया कि "वह चोरी है" और साथ ही यह घोषणा भी कर दी कि "मैं पूर्ण अर्थ मे अराजकतावादी हूँ।" फ्रांस मे द्वितीय गणतन्त्र की स्थापना के साथ ही वह विधान-निर्मात्री परिषद् का सदस्य बना, लेकिन कालान्तर में नैपोलियन तृतीय का विरोध करने के अपराध में उसे पुनः जेल जाना पड़ा। सन् 1858 में "Of Justice in the Revolution and in Church" नामक विवादास्पद पुस्तक लिखने के कारण उसे पुनः दण्डित किया। प्रोदॉ के निम्नलिखित *मुख्य ग्रन्थ हैं*—

1. What is Property ?
2. Philosophy of Poverty.
3. The Solrtion of the Social Problem.
4. Of Justice in the Revolution and in Church.
5. Political Capacity of the Working Classes

उसने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की जो उसकी मृत्यु-पर्यन्त अप्रकाशित रहे। वह जीवन की अन्तिम श्वाँस तक लिखता ही रहा, लेकिन उसने अपने पीछे कोई शिष्य-परम्परा नहीं छोड़ी जिसको वह चाहता भी नहीं था।

प्रोदॉ अपने किस्म का एक निराला ही व्यक्ति था। जिन विचारकों को समाजवाद को विचारधारा के निर्माण से सम्बद्ध किया गया है उनमें प्रोदॉ से अधिक विचित्र एवं अस्पष्ट स्थान अन्य किसी का नहीं है।[1] प्रोदॉ एक विचित्र अकेलेपन में रहना पसन्द करता था, लेकिन उसको समझने में इस बात से सहायता मिलेगी कि वह अनिवार्यतः जनता का आदमी था। उसने सर्वसाधारण के शारीरिक, नैतिक एवं बौद्धिक विकास हेतु कर्म करने का संकल्प लिया था। वह यह बात बड़े गर्व से कहता था कि उसे सर्वसाधारण में से एक व्यक्ति होने का अवसर मिला है।[2]

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 30.
2. De la Justice (1868 Edition).

अलेक्जेण्डर ग्रे ने प्रोदां को स्वभावतः एक विध्वंसक तथा आलोचक कहा है। वह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु पर प्रहार करता था। यद्यपि अपने जीवन के सन्ध्याकाल में उसके इस दृष्टिकोण में नमनीयता आगई थी लेकिन फिर भी उसके विरुद्ध यह आरोप बना ही रहा। उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चिन्तन के विकास में उसने ठोस योगदान दिया है लेकिन वह अपने समकालीन व्यक्तियों को इस बात से आश्वस्त नहीं कर पाया। प्रोदां अपने जीवन भर एक भड़के हुए सांड की तरह समकालीन समाजवादियों को अपने सीगों से मारता रहा[1] और आलोचक उसके द्वारा व्यक्त की गई टिप्पणियों का रसास्वादन करते रहे। जैसे उसने लुई ब्लां को 'स्वतन्त्रता का कट्टर शत्रु' बताया, वैसे ही उसने केबे, रूसो एवं अन्य व्यक्तियों पर भी कड़ा प्रहार किया।

प्रोदां के विचार

अलेक्जेन्डर ग्रे के अनुसार प्रोदां के चिन्तन के मूल में उसका 'न्याय का विचार' है। न्याय की उसकी अपनी परिभाषा है। उसके अनुसार न्याय सबसे आवश्यक वस्तु है जो सबको मिलनी चाहिए। उसने न्याय की प्रशंसा में अनेक बातें कहीं हैं। उसने इसको सम्पत्ति के विचार से जोड़ा है। सम्पत्ति के कारण आय के साधन अन्याय पर आधारित हो सकते हैं और पूँजी चोरी है। यदि सम्पत्ति का उपयोग ठीक तरीके से किया जाए और इसको ठीक प्रकार से बांटा जाए तो इसका घातक प्रभाव समाप्त हो जाता है और यही सम्पत्ति स्वतन्त्रता है और इससे समाज को मुक्ति मिलती है। न्याय में ही हमें मुक्ति मिलती है। उसने फिर न्याय को समानता के साथ जोड़ा और बड़े ही व्यापक अर्थ में न्याय का सम्बन्ध स्वतन्त्रता और समानता से बताया है।

प्रोदां ने न्याय की परिभाषा देते हुए कहा कि न्याय वह सम्मान है जो तत्काल ही अनुभव और पारस्परिक रूप में गारन्टी किया जाता है। यह वह मानव-गरिमा है जो किसी भी मनुष्य अथवा किन्हीं परिस्थितियों मे और किसी भी कीमत पर रखी जा सकती है।[2]

प्रोदां ने बताया कि न्याय का पहला तत्त्व तो यही है कि उस वर्ग का उन्मूलन कर दिया जाए जो इस पर सबसे बड़े भार है। ब्याज की राशि इतनी कम हो जाए कि वह करीब-करीब नही के बराबर रह जाए और यही मानवता के लिए कल्याण-कारी वस्तु रहेगी। प्रोदां को यह बात बहुत प्रिय थी कि न्याय तभी सम्भव है जब कि ऐसे बैंकों का निर्माण किया जाए जो बिना ब्याज के ऋण दें और इसके लिए सारे प्रयास किए जाने चाहिए। समाज में न्याय की स्थापना हो इसके लिए उपर्युक्त बातें मौलिक हैं।

1. *Alexander Gray*: op. cit., p. 232.
2. De la Justice, Vol. 1, p. 224.

सत्ता पर प्रहार

प्रोदों एक उग्र व्यक्तिवादी था और उसके इन विचारों में कोई असंगति नहीं उत्पन्न हुई। उसका हर प्रकार की सत्ता से विरोध था। मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली सत्तात्मक संस्थाएँ राज्य और चर्च हैं और इन दोनों का प्रोदों ने जमकर विरोध किया। इतना ही नहीं उसने बड़ी ही पैनी दृष्टि से इस चीज़ का अनुभव किया कि उसके समय में समाजवाद की प्रचलित सभी धाराएँ उतनी ही अधिनायकवादी हैं जितना कि एक अधिनायकवादी राज्य। उसका विचार था कि समाजवाद इतना ही अत्याचारी हो सकता है जितना कि वर्तमान राज्य जिसके अन्दर सब लोग पिसते हैं। यही कारण था कि उसने साम्यवादियों के विरुद्ध अपना संघर्ष निरन्तर जारी रखा और विशेष तौर पर उसने लुई ब्लां और कैबे का इस आधार पर जम कर विरोध किया कि वे अधिनायकवादी समाजवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कहने का अर्थ यह है कि न्याय जिसको समानता के रूप में देखा गया और स्वतन्त्रता जिस पर कोई नियन्त्रण नहीं है–ये दो उग्र व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके प्रति प्रोदों की अविछिन्न आस्था थी।[1] यद्यपि फ्रांस में क्रान्ति के उपरान्त स्वतन्त्रता और समानता के दो महान आदर्श रहे हैं लेकिन प्रोदों के स्वतन्त्रता और समानता सम्बन्धी विचार ऐसे हैं जिन्हें मूर्तरूप नहीं दिया जा सकता। प्रोदों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और इन विचारों में कोई असंगति भी नहीं है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके पूर्ववर्ती विचारकों ने जो विचार दिए उन्हें वह अपूर्ण समझता था। उसने बताया कि अब तक सम्पत्ति का आधार या तो उसके स्वामित्व के कारण माना जाता रहा है या यह अधिकार श्रम पर आधारित रहा है जिसका अर्थ यह है कि श्रम करनेवाले का ही उस वस्तु पर अधिकार होना चाहिए।

व्यक्तिगत सम्पत्ति पर प्रहार

जहाँ तक किसी वस्तु के स्वामित्व के आधार पर निर्मित अधिकार है, यह कहा जाता है कि आने वाली पीढ़ियों के विरुद्ध इस प्रकार का कोई अधिकार पैदा नहीं किया जाता। प्रोदों का कहना है कि जिसने जिस चीज को हड़प लिया या जो किसी वस्तु का स्वामी बन बैठा वह उसकी सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती। सम्पत्ति सबकी है और यह सबके उपभोग की वस्तु है। स्वामित्व के आधार पर सम्पत्ति देना समानता के सिद्धान्त की हत्या करना है और समानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर प्रचलित अर्थ की सम्पत्ति सम्बन्धी संस्था टूट जाती है। प्रोदों लॉक और मिल के श्रम पर आधारित सम्पत्ति के विचार से भी सहमत नहीं था। वह लॉक के इस विचार से सहमत नहीं था कि श्रमिक को उसके द्वारा निर्मित वस्तु पर अधिकार होना चाहिए क्योंकि वह अपने श्रम को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कौशल के साथ मिलाता है। प्रोदों का कथन है कि प्रकृति द्वारा दिए हुए गुणों को भी अभी ठीक प्रकार से उपलब्ध नहीं कराया गया है और श्रमिक यहाँ पर भी घाटे में रहता है। उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का सार बताते हुए यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति न

1. *Alexander Gray: op. cit., p. 235.*

उत्तराधिकार के आधार पर मिलनी चाहिए और न श्रम पर आधारित होनी चाहिए। वह व्यक्ति की सम्पत्ति मानने के पक्ष में नहीं था। उसका कथन है कि धन को सामूहिक रूप से और सामाजिक स्तर पर पैदा किया जाता है। उसका तर्क है कि श्रमिकों की जितनी अधिक संख्या होगी उतना ही प्रत्येक को कम काम करना होगा और इस प्रकार मनुष्य-शक्ति की प्राकृतिक सीमाएँ एक विस्तृत समाज मे स्वत: कम हो जाएँगी।[1] वह इस बात से सहमत नही था कि अधिक योग्य व्यक्तियों को अधिक वेतन दिया जाए। उसका कथन है कि समाज ने अपनी आन्तरिक अव्यवस्था के कारण तथाकथित अयोग्य व्यक्तियों को विकसित होने का अवसर ही कहाँ दिया। उसके कहने का अर्थ यह है कि यह समाज है, न कि व्यक्ति, जो अधिक उत्तरदायी संस्थाओं का निर्माण करता है और मनुष्यों में क्षमता पैदा करता है। उसका कथन है कि उत्पादन में पारस्परिक आत्मनिर्भरता रहती है। कोई यह नही कह सकता कि वह अपने साथियों का ऋणी नही क्योंकि कोई अपनी योग्यता का दम नही भर सकता। किसी एक व्यक्ति का कार्य पृथक् नहीं किया जा सकता। इन सब बातो से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समाज का विकास समानता की दिशा मे हो रहा है।[2]

उसने यह घोषणा की कि पूँजी चोरी है और राज्य पर उसका यह आरोप था कि इसका विकास व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है और उसके द्वारा इस प्रणाली के अन्यायों को संरक्षण मिला है। प्रो० कोकर ने लिखा है कि "प्रोदाँ ने इस व्यापक आधार पर राजनीतिक सत्ता की भी निन्दा की कि वह न्याय, विवेक तथा ज्ञान पर मनोवेग का आधिपत्य स्थापित करती है। अपनी कुछ पुस्तकों में उसने समझाया है कि सम्पत्ति की निन्दा करने में उसका मुख्य मन्तव्य सम्पत्ति के उस रूप से था जो मुनाफे, भाड़े और ब्याज के द्वारा संगृहीत है और उसके विशिष्ट आर्थिक प्रस्तावों का उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश नही वरन् उसके एकाधिकारात्मक एवं शोषणात्मक रूप का विनाश करना था। उसने "जनता के बैंक" की एक योजना तैयार की जिसका काम "श्रम नोट" जारी करना था जिनके काम के समय से निर्धारित श्रम की इकाई प्रकट होगी और जो बिना ब्याज के उन लोगों को ऋण पर दिए जा सकेंगे जो अपनी योग्यता और कार्य करने की प्रतिज्ञा जमानत के रूप में दे सकेंगे। प्रोदाँ के राज्य सम्बन्धी विस्तृत प्रस्ताव अन्योन्याश्रयता की प्रणाली के रूप में हैं जिसके अनुसार व्यक्ति तथा ऐच्छिक संस्थाएँ सहकारी बैंकों से प्राप्त ब्याज रहित ऋण द्वारा उत्पादन कार्य कर सकेंगे। उसका यह विश्वास था कि उसकी बैंक सम्बन्धी योजना से समस्त व्यक्तिगत पूँजी का अन्त हो जाएगा क्योंकि वह इससे ब्याज नहीं कमा सकेगी और इस योजना से ऐच्छिक सहयोग को इतनी सुविधा और प्रोत्साहन मिलेगा कि किसी प्रकार का भी दमनकारी सामाजिक संगठन अनावश्यक हो जाएगा।"[3]

1. *Proudhon* : Qu'est-ce que la Propriete?, p. 130.
2. *Alexander Gray* · op. cit , p. 238.
3. कोकर : वही, पृष्ठ 84.

प्रोदाँ के ये विचार बहुत ही प्रसिद्ध बने। सन् 1860 से सन् 1880 तक फ्रांस के मजदूर आन्दोलन पर उन लोगों का प्रभाव रहा जो उसके विचारों से सहमत थे। यूरोपीय प्रवासी-जन इन विचारों को अमेरिका ले गए और इन पर प्रयोग भी किए गए। प्रोदाँ के अमेरिकन अनुयायियों में विलियम ग्रीन प्रसिद्ध हुआ है जिसने प्रोदाँ के विचारों को अपने ग्रंथों में समाविष्ट किया। लेकिन यह भी सच है कि प्रोदाँ के शिष्य उसके अराजकतावाद के सिद्धान्त को उस सीमा तक ले जाने के लिए आश्वस्त और कटिबद्ध नहीं थे जितना कि वह चाहता था।

अन्य विचार

प्रोदाँ को उग्र व्यक्तिवादी और अराजकतावादी कहना उचित होगा। वह सब प्रकार की सरकारों के विरुद्ध था। उसने स्पष्ट घोषणा की कि हम जिस प्रकार मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण को स्वीकार नहीं करते ठीक उसी प्रकार मनुष्य द्वारा मनुष्य पर शोषण को भी स्वीकार नहीं कर सकते। उसने पृथक् तरीके से यही बात कही कि वह व्यक्ति जो मुझे शोषण करने के लिए कहता है वह शोषक और अत्याचारी है और मैं उसे अपना शत्रु घोषित करता हूँ। वह कहता है कि मेरे लिए राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और न मैं उसे किसी कार्य के लिए कहता हूँ। यहाँ तक कि उसको मैं अपने नौकर के रूप में भी स्वीकार नहीं करता। यही विचार उसके कानून के बारे में हैं। वह कहता है कि कानून की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि इसकी कोई आवश्यकता है तो भी मैं ही इसका विधायक हूँ।[1] वह तो यहाँ तक मानता है कि जिस कानून के निर्माण में मैंने अपनी सहमति व्यक्त नहीं की, न इसके लिए मत दिया और न इस पर हस्ताक्षर किए तो मैं इसको मानने के लिए किस प्रकार बाध्य हूँ, मेरे लिए तो इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।[2] वह राज्य को एक राक्षस मानता था जो कृत्रिम है, जिसमें न बुद्धि है, न मनोवेग और न नैतिकता—क्या इसी को हम राज्य कहते हैं ?

प्रोदाँ को केवल अराजकतावादी ही कहकर नहीं टाला जा सकता। उसके चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण बात छिपी है। वह साम्यवादियों और समाजवादियों का कटु आलोचक था क्योंकि वह राज्य को किसी भी प्रकार की क्रान्ति के अनुपयुक्त मानता था। प्रोदाँ ने इसी आधार पर लुई ब्लां की जबर्दस्त आलोचना की कि वह राज्य को एक परिवर्तन के शस्त्र के रूप में स्वीकार करता था। प्रोदाँ का कथन था कि जैसे आप एक शैतान से दूसरे शैतान को खत्म नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार आप राज्य के माध्यम से क्रान्ति नहीं ला सकते। प्रोदाँ ने दुख और आश्चर्य प्रकट किया कि उसके समकालीन साम्यवादी और समाजवादी चिंतक इस बात को नहीं समझ पाए।

प्रोदाँ ने जनतंत्र पर भी निर्मम प्रहार किया। उसने कहा कि जनतांत्रिक राज्य अपने में अन्तर्विरोध लिए हुए हैं। उसने मत-पत्र की उपादेयता पर संदेह

1. *Proudhon* : General Idea of the Revolution, p. 146.
2. Ibid, p. 258.

व्यक्त किया और कहा कि क्या इसे वंश या परम्परा की तुलना में अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।[1] उसने केवल संख्या की उपादेयता पर भी सदेह व्यक्त किया और कहा कि इसमें मस्तिष्क वाले व्यक्तियों की तौहीन होती है। बुद्धिजीवी को जनतंत्र में कौन पूछता है और इस प्रकार जनतंत्र भीड़-तंत्र है जिसके मस्तिष्क नहीं होता।

प्रोदों की आलोचना एवं मूल्यांकन

प्रोदों को कई लोगों ने कभी गभीरता से नहीं लिया। उसको प्रायः विध्वंसकारी, अव्यावहारिक, व्यक्तिवादी और अराजकतावादी कहकर टाल दिया गया। यद्यपि उसने कहा कि मैं निर्माण के लिए विध्वंस करना चाहता हूँ, लेकिन एक नए समाज की क्या रूपरेखा होगी इसका उसने कोई स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं रखा। सच तो यह है कि उसे विध्वंस करने में अधिक आनन्द आता था, निर्माण में नहीं। उसके ग्रंथों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि उसकी रुचि आलोचना और विध्वंस करने में अधिक थी और कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि वह बिना आश्वस्त हुए और उसका विकल्प बताए केवल आलोचना के लिए आलोचना करता है। वह अपने युग से क्षुब्ध था और इसकी झलक उसकी समस्त कृतियों में मिलती है।

उसके स्वतंत्रता, समानता और न्याय सम्बन्धी विचारों को भी धरातल पर नहीं लाया जा सकता। वे काल्पनिक, अव्यावहारिक और कहीं-कहीं स्वप्नलोकीय प्रतीत होते हैं। स्वतंत्रता और समानता पूर्णरूप से तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि सब मनुष्य समान न हो जाएँ। प्रकृति ने मनुष्यों को समान नहीं बनाया। प्रोदों के स्वतंत्रता और समानता सम्बन्धी विचारों में कोई तालमेल नहीं है क्योंकि आखिर स्वतंत्रता और समानता की गारंटी कौन देगा? प्रोदों के इन विचारों को स्वीकार कर लेने पर हमें समाज में असमानता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। अलेक्जेण्डर ग्रे का मत है कि यह एक समस्या है जिसको प्रोदों कभी नहीं सुलझा पाया और इससे वह विवाद का विषय बन गया। प्रोदों का मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि इन सब असंगतियों, भ्रान्तियों एवं असम्बद्धताओं के बावजूद भी उसका अराजकतावादियों के इतिहास में स्थान सुरक्षित है। उसकी मार्क्सवाद और समाजवाद की आलोचना भी महत्वपूर्ण है और विशेष तौर पर उसका यह विचार कि राज्य-क्रान्ति का माध्यम नहीं बन सकता, स्वयं में अनूठा है। उसका राजस्व सम्बन्धी सिद्धान्त बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उसका फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन पर जो प्रभाव रहा उसको नहीं भुलाया जा सकता। चाहे वह वर्तमान समस्याओं का विकल्प न रख पाया हो, लेकिन उसने सम्पत्ति, व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, न्याय, राज्य और शासन आदि के सम्बन्ध में जो विचार रखे उनमें काफी वजन है।

1. Ibid, pp. 138-148.

जोशिया वारेन
(Josiah Warren, 1799-1874)

जोशिया वारेन एक अमरीकी अराजकतावादी था। इसका अपना प्रथम अराजकतावादी पत्र 'The Peaceful Revolutionist' अमेरिका में प्रकाशित हुआ। कोकर के अनुसार वारेन ने यह बताया कि मनुष्य को राज्य के संरक्षण की आवश्यकता उसकी स्वयं की दुर्बलता के कारण नहीं है बल्कि उसके पूर्वजों द्वारा की गई त्रुटियों के कारण है जिनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति और दमनकारी सरकार रूपी संस्थाएँ भी सम्मिलित हैं। वारेन इस पक्ष में था कि श्रमिक राजनैतिक मामलों में अपनी रुचि छोड़ दें और अपनी गतिविधियों को स्वयं-सेवी सहकारी प्रयत्नों तक सीमित रखें। उसका ख्याल था कि यदि यह सम्भव हो सके तो लाभ और गरीबी दोनों ही समाज से धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगे और फिर सरकार की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। परिणामस्वरूप राज्य गायब हो जायेगा।

बैंजमिन टक्कर
(Benjamin Tucker)

बैंजमिन टक्कर ने 'Liberty' नामक एक अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र के माध्यम से दार्शनिक अराजकतावाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया। 1893 में इस पत्रिका में छपे हुए लेख किताब के रूप में प्रकाशित हो गए। इसका शीर्षक था 'Instead of a Book by a Man too Busy to write one : A Fragmentary Exposition of Philosophical Anarchism'।

बैंजमिन टक्कर ने विवेकपूर्ण आत्महित को अपने चिन्तन का मूलाधार बनाया। उसका कथन था कि अराजकतावादी पूर्णरूप में आत्मवादी हैं। वे नैतिक दायित्व के आदर्श को स्वीकार करते हैं। वह मानता था कि स्वतन्त्रता मनुष्य को संयमी और सुखी बनाती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है अधिकारों का भोग और अधिकार वास्तव में शक्ति पर आत्महित द्वारा लगाए हुए व्यावहारिक नियन्त्रण हैं। वह यह मानता था कि स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए समाज का होना आवश्यक है लेकिन इसके लिए राज्य की आवश्यकता नहीं है। राज्य की सत्ता शक्ति से सम्बद्ध है और शक्ति स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य ने सदा ही स्वतन्त्रता का अपहरण किया है। राज्य व्यक्ति पर आक्रमण करता है और यह आक्रमण अनेक रूपों में होता है। उदाहरणार्थ करारोपण, सैनिक संरक्षण, न्याय-प्रशासन आदि सभी राज्य के आक्रमण के ही रूप हैं। उसका कथन है कि सामाजिक स्वतन्त्रता का इस सीमा से दूर जहाँ एक व्यक्ति के दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप को रोकने के लिए मर्यादा लगाना आवश्यक है वहाँ कोई भी उल्लघन एक आक्रमण बन जाता है। उसके ही शब्दों में "आक्रमण की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता, चाहे वह एक साधारण अपराधी की भाँति एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर

किया जाए, अथवा एक स्वेच्छाचारी शासक की भाँति एक व्यक्ति द्वारा बहुतों पर किया जाए, अथवा आधुनिक प्रजातन्त्र के समान बहुत से व्यक्तियों द्वारा एक व्यक्ति पर किया जाए।"[1] इसीलिए बैंजमिन टक्कर समाज से राज्य की दमनकारी शक्ति को समाप्त करने के पक्ष में था। उसने शासन की अराजकतावादी परिभाषा देते हुए बताया कि "यह अनाक्रमणकारी व्यक्ति का एक बाहरी इच्छा की अधीनता में होना है।"[2]

टक्कर व्यक्तियों के स्वतन्त्र समझौतों द्वारा निर्मित संस्थाओं के निर्माण में विश्वास रखता था। उसका कथन था कि प्रत्येक संस्था को उसके सदस्यों द्वारा निर्मित नियमों के पालन कराने का अधिकार अवश्य है लेकिन संस्थाओं का अपने सदस्यों पर यह नियन्त्रण बलात्कार रहित होना चाहिए। सदस्यों को संस्थाओं की सदस्यता से त्याग-पत्र देने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसका मत था कि कोई भी संस्था किसी सामाजिक सेवा पर अपने एकाधिकार का दावा भी नहीं कर सकती। किसी भी व्यक्ति को न किसी संस्था का सदस्य बनने को बाध्य किया जा सकता है और न ही किसी गैर सदस्य को किसी संस्था द्वारा कर देने के लिए बाध्य ही किया जा सकता है। उसका स्पष्ट कथन था कि "आक्रमणात्मक कार्य की प्रवृत्ति केवल उस अधिकारी के दमनकारी काम के कारण होती है जो अनिच्छुक व्यक्ति से भक्ति तथा सहयोग की माँग करता है और समस्त लोगों पर एक अन्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था लादता है। जब दमनकारी शासन का अन्त हो जाएगा तो अपराध ही नहीं होगा।"

माइकिल बेकुनिन

(Michael Bakunin, 1814-1876)

माइकिल बेकुनिन एक रूसी अराजकतावादी था। वह एक कूटनीतिज्ञ का पुत्र था तथा उसने सेन्ट पीटर्सबर्ग तथा मास्को के विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। वह सेना में भर्ती हुआ, लेकिन उसने 21 वर्ष की आयु में ही इससे मुक्ति पाई। तत्पश्चात् वह दर्शन के अध्ययन हेतु मास्को चला गया। फिर उसने बर्लिन और पेरिस की यात्रा की। धीरे-धीरे उसका सम्पर्क अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्तियों से हुआ। वह प्यूअर बाख, कार्ल मार्क्स और प्रोदां के निकट सम्पर्क में आया। उसने मार्क्स और ऐंजिल्स के प्रभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन में सम्मिलित होना स्वीकार किया, लेकिन शीघ्र ही उसके मार्क्स से मतभेद प्रारम्भ हो गए। इसका कारण यह था कि वह किसी भी रूप में तानाशाही को समर्थन नहीं दे सकता था। वैसे उसने 1869 में मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर उनके प्रचारार्थ "Social Democratic Alliance" की स्थापना भी की थी, लेकिन मार्क्स से तीव्र मतभेद होने के कारण वह International से निष्कासित कर दिया गया।

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन से उद्धृत, पृष्ठ 187.
2. बैंजमिन टक्कर : Instead of a Book, पृष्ठ 23

उसने 1872 में एक गुप्त "Anarchist International" की स्थापना की। इसके करीब दो वर्ष बाद में वह सक्रिय राजनीति से दूर हो गया और 1876 में उसकी मृत्यु हो गई।

माइकिल बेकुनिन का जीवन अस्त-व्यस्त ही रहा। वह कई राज्य सरकारों द्वारा गिरफ्तार भी किया गया और उसने अनेक यातनाएँ भी सहीं। 1849 में ड्रेसडन में आन्दोलन का नेतृत्व करने के कारण वह हिरासत में ले लिया गया और फिर उसे ऑस्ट्रियन सरकार को सौंप दिया गया और ऑस्ट्रियन सरकार ने उसे रूस की सरकार को सौंप दिया। रूस की सरकार ने उसे 7 वर्ष तक एक किले में बन्द रखा जहाँ से उसे साइबेरिया में निष्कासित कर दिया गया। साइबेरिया में उसका एक महिला से प्रेम हो गया जिससे उसने विवाह भी कर लिया। साइबेरिया में उसको एक अच्छी नौकरी भी मिल गई,लेकिन उसका वहाँ मन नहीं लगा। साइबेरिया से भागकर वह जापान चला गया, जापान से अमेरिका और अमेरिका से वह लन्दन चला गया जहाँ वह 'International' में शामिल हो गया। कहने का अर्थ यह है कि उसका एक अनिश्चित और अस्त-व्यस्त जीवन रहा। प्रो. जी. डी. एच. कोल ने लिखा है कि बेकुनिन ने सदा ही स्वतन्त्रता की घोषणा की तथा उसने स्वतन्त्रता को जीवन का आधार बताया। उसने धनाभाव के होते हुए भी अधिकाधिक स्वतन्त्रता का उपभोग किया।[1]

अलेक्जेन्डेर ग्रे ने माइकिल बेकुनिन के बारे में बताया है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अस्त-व्यस्त रहा। यह अस्त-व्यस्तता उसके जीवन उसके चिंतन, उसके लेखन सभी में मिलती है। ग्रे ने उसे अव्यावहारिक, साधारण ज्ञान से शून्य और यथार्थ को कल्पना से जोड देने वाला भी बताया है।

बेकुनिन के विचार

बेकुनिन ने अपने विचारों को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। यह भी कहा जा सकता है कि उसने अपनी अराजकतावाद की नींव वैज्ञानिक आधार पर रखी। प्रो० कोकर के अनुसार "उसने कहा कि मानव का सम्पूर्ण विकास पाशविकता की दशा से, जिसमें उसके आचरण पर पाशविक प्रवृत्तियों तथा शारीरिक मर्यादाओं का नियन्त्रण रहता है, ऐसी दशा की ओर है जिसमें आदर्श उद्देश्यों एवं प्रमाणों का प्राधान्य रहता है। मानव-इतिहास मानव की आदिम पाशविकता के प्रगतिशील निषेध तथा उसकी मानवता के विकास में ही सन्निहित है। राजसत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म मानव-विकास की निम्न अवस्था की स्वाभाविक संस्थाएँ हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप से शारीरिक इच्छाओं तथा भय से है। व्यक्तिगत सम्पत्ति वस्तुओं में मनुष्यों की अभिरुचि

1. *Cole, G. D. H.* : History of Socialist Thought, Vol II, p. 218.

उत्पन्न करती है, राज्य भौतिक बल द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करता है, धर्म राज्य तथा सम्पत्ति दोनों का पोषण करता है और वह मानव के मौतिक सुख की कामना को जागृत करता है तथा मृत्यु के बाद शारीरिक कष्टों का भय भी दिखलाता है। इन संस्थाओं को, जो मानव की आदिम प्रकृति की विशिष्ट अभिव्यक्तियां हैं, मानव-विकास के स्वाभाविक नियमों के अन्तर्गत अवश्य ही लुप्त होना है।"[1]

बेकुनिन ने राजनीतिक संस्थाओं का विरोध किया क्योंकि वह यह मानता था कि इनके ही कारण सबल वर्गों के हितो का संरक्षण हुआ है। वह यह मानता था कि राज्य पूंजीवादी हितों का पोषक है और इमी कारण मजदूरो का शोषण किया जाता है। नैतिक दृष्टि से भी उसका कथन था कि राज्य लोगो का पतन करता है क्योंकि वह सारे कार्य लोगो से बलपूर्वक कराता है। बेकुनिन की मान्यता थी कि जो कार्य बलपूर्वक कराए जाते हैं, वे कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकते। इसमें नागरिको की इच्छाओं की अवहेलना की जाती है, अतः राज्य की अधीनता में काम करने वालों का नैतिक स्तर अत्यन्त निम्न हो जाता है। जो लोग राज्य-सत्ता का संचालन करते हैं उनकी नैतिक भावना तो और अधिक पशुतुल्य हो जाती है। राजनीतिक सत्ता उन सबको-अनैतिक बना देती है जो उसमें भाग लेते हैं और इसलिए उसका कथन है कि राज्य लोक सेवकों और श्रेष्ठ व्यक्तियों को भी भ्रष्ट कर देता है। बेकुनिन ने घोषणा की कि हम क्रान्तिकारी अराजकतावादी सब प्रकार के राज्य के रूप में और राज्य-संगठन के शत्रु हैं। हम सोचते हैं कि मनुष्य केवल तभी प्रसन्न और स्वतन्त्र हो सकते हैं जबकि वे स्वतन्त्र और स्वशासी संस्थाओं में संगठित हों जो अपने जीवन का निर्माण कर सकें और तथा जिन पर किसी प्रकार के संरक्षक का कोई नियंत्रण न हो।"[2]

बेकुनिन ने राज्य की भाँति व्यक्तिगत सम्पत्ति रूपी संस्था पर भी प्रहार किया। उसने बताया कि निजी सम्पत्ति समाज में शारीरिक और नैतिक बीमारियों के लिए उत्तरदायी है। यह करोड़ों आदमियों को अज्ञान, कठोर परिश्रम, सामाजिक और आध्यात्मिक पतन और आर्थिक परावलम्बन की अवस्था में ले आती है जबकि मुट्ठी भर लोगों को सभी प्रकार के सुख और भोगविलास उपलब्ध कराती है। कहने का सार यह है कि बेकुनिन के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मानवता के विकास में सबसे बड़ी बाधा है और इसलिए उसका विनाश होना चाहिए।

बेकुनिन धर्म पर भी जबर्दस्त प्रहार करता है। उसके अनुसार धर्म भी एक बुराई है क्योंकि वह दूषित संस्थाओं का समर्थन करता है और यह मानव की उत्कृष्ट प्रकृति के प्रतिकूल भी है। उसी के शब्दों में धार्मिक नेता "धार्मिक तथा

1. कोकर : वही, पृष्ठ 191-192.
2. *Bakunin* : God and the State, p. 63.

राजनीतिक विशेषाधिकारों का उच्चता की धार्मिकता या पवित्रता का रूप देने के बहाने जानबूझ कर प्रयोग करते हैं।"[1]

बेकुनिन ने धर्म सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए बताया कि "वह मानवता के इस दृश्यमान जगत् के महत्त्वपूर्ण कार्यों से मनुष्य को विमुख कर देता है, उसमे कल्पना, अन्धविश्वास एवं श्रद्धालुता उत्पन्न करता है और उसकी बुद्धि, तर्कशक्ति तथा विवेक को निष्फल बना देता है। धार्मिक विश्वासों के स्थान पर विज्ञान तथा ज्ञान की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और भावी दैवी न्याय के मिथ्यावाद के स्थान पर वर्तमान मानवीय न्याय के यथार्थवाद की स्थापना होनी चाहिए।"

बेकुनिन ने केवल राजनीतिक संस्थाओं का ही विरोध नहीं किया बल्कि उसने उन सभी सामाजिक संस्थाओं का भी विरोध किया जिनमें व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का कोई विचार आरोपित हो। यहाँ तक कि उसने प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर स्त्री-संस्थाओं को भी अस्वीकार कर दिया। बेकुनिन का विचार था कि स्वेच्छाचारिता राज्य या किसी संस्था के रूप मे न होकर उनके सार में विद्यमान होती है। उसे हर राजनीतिक और सामाजिक प्रणाली बुरी लगी-क्योंकि उसका उद्देश्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण करना होता है।

कहने का अर्थ यह है कि बेकुनिन व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में हर प्रकार की संत्ता से मुक्त कर देना चाहता था। उसका उद्देश्य व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपतियों की दासता से, राजनीतिक क्षेत्र में राज्य की दासता से, सामाजिक क्षेत्र में परम्परा के आधार पर श्रेष्ठ माने जाने वाले पंचों की दासता से तथा धार्मिक क्षेत्र मे पुरोहित-पादरी वर्ग की दासता से मुक्त करना था। उसका यह मत था कि राज्य-सत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म मानव-विकास की सही अवस्थाएँ नहीं हैं क्योंकि ये सब मानव की शारीरिक इच्छाओं तथा भय से सम्बद्ध हैं। ये संस्थाएँ मनुष्य की निम्न प्रवृत्तियों से जुड़ी हुई हैं और इसलिए उनकी समाप्ति ही श्रेयस्कर है।

बेकुनिन केवल सिद्धान्तवादी ही नही था। उसने अराजकतावाद को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास भी किया। उसने अराजकतावादी क्रान्ति के संगठन के लिए बताया कि प्रत्येक राजधानी और बड़े नगर मे अराजकतावादी ऐच्छिक सगठनो का जाल बिछा देना चाहिए जो मोर्चों का संगठन करेंगे। ये मोर्चे नगर परिषद् मे अपने प्रतिनिधि भेजेंगे और उस पर अपना पूरा अधिकार कर लेंगे। यह परिषद् क्रान्तिकारी कार्यों के लिए अपनी समितियां बनाकर पूरा संगठन तैयार करेगी। बेकुनिन के अनुसार क्रान्तिकारी परिषद् का काम सम्पूर्ण राजनीतिक संस्थाओं का विनाश तथा औद्योगिक एवं कृषि-सम्पत्ति का मजदूरो मे वितरण करना होगा। यह क्रान्तिकारी परिषद् अराजकतावादी दर्शन को प्रचारित व प्रसारित भी करेगी और इसके प्रतिनिधि राज्य के विरुद्ध क्रान्ति को संगठित करने के लिए जन-सम्पर्क करेंगे।

1. Ceuvres, 111—127 F.F.

अन्त में, उस अराजकतावादी समाज की एक झांकी प्रस्तुत की जा सकती है जिसका स्वप्न बेकुनिन ने देखा था। कोकर के शब्दों मे 'बेकुनिन राज्य के स्थान पर एक ऐसे स्वतन्त्र समाज की प्रतिष्ठा करना चाहता था जिसमें न तो कोई वर्ग होंगे और न सत्ता के कोई सम्बन्ध और जिसमे प्रत्येक व्यक्ति रंग, जाति, राष्ट्रीयता या विश्वास के किसी भेदभाव के बिना समान रूप से कार्य कर सकेगा और अपने श्रम का पुरस्कार पा सकेगा। इस स्वतन्त्र समाज का आधार कानून और अनिवार्य भक्ति नही वरन् समझौता और ऐच्छिक सहयोग होगा क्योंकि सहकारिता मनुष्यों की स्वाभाविक आवश्यकताओ और प्रवृत्तियों पर निर्भर होगी। अतः जिस किसी भी संगठन की आवश्यकता होगी वह नीचे से ऊपर की ओर विकसित होगा। नया समाज इन आधारभूत आर्थिक सिद्धान्तों पर कार्य करेगा। समस्त भूमि और उत्पादन के साधनो पर समाज का स्वामित्व होगा। समाज ऐसे व्यक्तियों को उन पर कब्जा करने का अधिकार देगा जो व्यक्तिगत रूप से या स्वतन्त्रतापूर्वक निर्मित संस्थाओं द्वारा काम करके उनका उपयोग उत्पादन के लिए करने को तैयार होंगे। तब प्रत्येक व्यक्ति को उपज में से अपनी आवश्यकता के अनुसार भोग करने का केवल इस शर्त पर अधिकार होगा कि उसने अपनी योग्यता के अनुसार उत्पादन के लिए प्रयत्न किया हो। स्थानीय सस्थाएँ मिलकर एक बडी प्रादेशिक संस्थाएं बना सकेंगी किन्तु उनमें दबाव किसी भी अवस्था मे न हो सकेगा। यह आवश्यक नहीं है कि यह सहकारिता केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक ही सीमित रहे। राज्य के विनाश का अर्थ होगा अन्त में राजनीतिक सीमाओं का विनाश। उस समय व्यक्तियों के स्वतंत्र कम्यून (Commune) होंगे; कम्यून के स्वतन्त्र प्रांत होंगे, प्रान्तों के राष्ट्र और राष्ट्रों का स्वतन्त्र संघ, योरोप का संयुक्त राज्य और अन्त में अखिल विश्व का एक सघ होगा। इन सघों के नियम होंगे, जिनमें दण्ड की कोई व्यवस्था न होगी, क्योंकि ये नियम ऐसे होंगे जिन्हें समाज को कायम रखने के लिए आवश्यक समझेंगे।"[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

बेकुनिन एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं कर पाया जो सुदूर भविष्य से सम्बन्धित हो बल्कि वह तो अपना [illegible] था जिसकी [illegible] शीघ्र ही और सम्भवतः 19वीं शताब्दी के पूर्व ही [illegible]। विचारक केवल अपने समय तक ही नहीं सोचा करता। वह भविष्य की ओर भी देखता है और [illegible] चिन्तन अतीत, वर्तमान और भविष्य दोनों का [illegible] हुआ [illegible] बेकुनिन की आलोचना इसी आधार पर की जाती है कि वह केवल अपने [illegible] खोया रहा।

एक दूसरी दृष्टि से भी उसकी आलोचना की जा सकती है [illegible] कि उसने राज्य का तो विध्वंस [illegible] इस बात के लिए [illegible]

1. कोकर: वही, पृष्ठ 154-155

समाज ने राज्य का एक रूप ग्रहण कर लिया तो फिर क्या होगा ? समाज प्राकृतिक है और अनिवार्य भी। राज्य के समाप्त हो जाने पर वही मनुष्य को नियन्त्रण में रखेगा लेकिन समाज भी तो निरंकुश और अत्याचारी हो सकते हैं। जिस प्रकार राज्य कानून के जरिए कार्य करता है और जनता पर अत्याचार करता है फिर उसी प्रकार समाज भी तो रूढ़ियों, परम्पराओं, पूर्वाग्रहों और रीतिरिवाजों के माध्यम से चलता है और अपने सदस्यों को गुलाम भी बना सकता है। बेकुनिन स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि व्यक्ति पर समाज का दबाव जबर्दस्त होता है और इसके विरुद्ध बगावत करना उतना ही मुश्किल होता है जितना कि प्रकृति के विरुद्ध बगावत करना। ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि दृष्टिगोचर होने वाले एक अत्याचारी से मुक्ति दिलाकर मनुष्य को बेकुनिन कहीं अधिक भयानक सत्ता के अधीन तो नहीं कर रहा है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।[1]

बेकुनिन शिखर के अराजकतावादी विचारकों में माना जाता है। उसने राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर जिस युक्तिपूर्ण ढंग से प्रहार किया वह अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सच है कि बेकुनिन के हाथों अराजकतावाद चिन्तन का एक गम्भीर विषय बन गया और उसने अराजकतावाद की नींव वैज्ञानिक आधार पर रखी।

क्रोपोटकिन
(Kropotkin, 1842-1921)

क्रोपोटकिन का जन्म रूस के एक सामन्त घराने मे हुआ था। उसने भी बेकुनिन की भाँति अपनी शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त प्रारम्भिक दिनों में सेना में कार्य किया। यद्यपि उसका सेना का कार्यकाल 5 वर्ष का ही था लेकिन उसने काफी अनुभव अर्जित कर लिया। उसने अनेक स्थानो का भ्रमण भी किया। 1871 में स्विट्जरलैंड मे उसकी भेंट बेकुनिन से हुई। इस भेंट के पूर्व ही वह अपनी नौकरी छोड़ चुका था। बेकुनिन एवं अन्य अराजकतावादियों के प्रभाव मे आकर उसने सन् 1857 में रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन मे भाग लिया। उस पर शून्यवाद (Nihilism) का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह रूस में इसका एक बड़ा समर्थक बन गया। शून्यवाद वह दर्शन है जो न केवल राज्य की सत्ता को अस्वीकार करता है बल्कि समस्त प्रचलित मूल्यों को भी ठुकराता है। अपने परम्परा-विरोधी क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे 1874 में हिरासत मे भी ले लिया गया लेकिन 3 वर्ष उपरान्त वह जेल से भाग निकला। इसके उपरान्त वह स्विट्जरलैंड, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि देशों मे रहकर अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करने लगा और 1917 मे क्रान्ति के समय रूस वापिस आया। श्रमजीवी तानाशाही के विरुद्ध होने के कारण उसने क्रान्तिकारी कार्यों में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं ली। उसने अपनी शक्ति लेखन-कार्यों में लगाई।

1. *Alexander Gray : op. cit.*, p 362.

क्रोपोटकिन की कृतियाँ बड़ी स्पष्ट, सजीव, सहानुभूतिपूर्ण और वैज्ञानिक कही जाती हैं। क्रोपोटकिन का महत्व इस बात मे है कि उसने अन्य अराजकतावादी विचारकों से विपरीत जाकर अपने चिन्तन को क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत किया।[1] उसे उच्च कोटि का वैज्ञानिक लेखक माना जाता है और प्रो० जोड ने तो यहाँ तक कह दिया कि क्रोपोटकिन ही क्रान्तिकारी साम्यवाद का प्रमुख समर्थक और विचारक है। प्रो० कोकर के शब्दों में उसने अपने सिद्धान्तों को ऐतिहासिक एव विकासवादी आधार प्रदान किया। उसका मत था कि मानव तथा समाज की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। वह जीव विज्ञान तथा मानव भूगोल का ज्ञाता था। उसके कुछ अराजकतावादी प्रमेय (Propositions) इन्ही विज्ञानों के सामान्य निगमनों (Generalizations) की भाषा में प्रस्तुत किए गए हैं जिनका उसने ठोस सामग्री से समर्थन किया है। उसके अपने सिद्धान्त का आधार प्राकृतिक अधिकारों के आध्यात्मिक विचार नहीं, मानसिक विकास के वास्तविक क्रम सम्बन्धी विचार थे। उसके विचार मे प्राकृति, विकास के नियम समान रूप से पशुओं एवं उनके समुदायो तथा मनुष्य और मानव-समाज पर लागू होते हैं। उनके द्वारा जीवन की अवस्थाओं के साथ अनुकूलता स्थापित करने वाली प्रतिक्रियाओं का निरूपण होता है, जैसे विभिन्न इन्द्रियों, शक्तियों एवं आदतों का विकास जिनके द्वारा मानव तथा मानव–समुदाय की अपने वातावरण के साथ अधिकाधिक अनुकूलता स्थापित होती है।[2]

क्रोपोटकिन ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की—(1) The Conquest of Bread (2) Anarchism—Its Philosophy and Ideas (3) The State, Its Part and History (4) Fields, Factories and Workshops (5) Mutual Aid a Factor of Evolution (6) Modern Science and Anarchism (7) Memoirs of Revolutionist.

क्रोपोटकिन के विचार

क्रोपोटकिन ने विकास के दो भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अधिक जोर दिया— प्रथम, यह बताया कि व्यक्ति के जीवन तथा सामाजिक जीवन दोनो मे प्रगति केवल स्थिर विकास की प्रक्रिया द्वारा ही नही होती वरन् कभी-कभी सहसा द्रुत गति से और आकस्मिक एवं स्पष्टतः विनाशकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप भी होती है। उसका मत है कि समाज और व्यक्ति दोनों ही निरन्तर विकास की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं लेकिन जब स्वार्थी लोगों के अज्ञान, उदासीन एवं दूषित स्वार्थों के कारण उनका विकास रुक जाता है तो उन्हे पुनः रास्ते पर लाने के लिए ऐसी बड़ी घटनाओं की आवश्यकता होती है जो इतिहास के तात्कालिक क्रम को तोड़कर मानवता को दलदल से निकालकर पुनः विकास-मार्ग पर लाती हैं। द्वितीय, क्रोपोटकिन के

1. Ibid, p. 363.
2. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 195-196.

विकासवादी सिद्धान्त में अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसकी इस कल्पना में है कि पशु-जीवन तथा मानव-जीवन के विकास में संघर्ष की अपेक्षा सहकारिता का अधिक प्रमुख स्थान रहा है। उसकी यह मान्यता थी कि सावयव विकास का नियम मूलत: पारस्परिक सहायता का नियम है, पारस्परिक संघर्ष का नहीं। प्राणी जितना श्रेष्ठ होगा उतनी ही सहयोग की प्रवृत्तियाँ उसमें अधिक विकसित होंगी। क्रोपोटकिन ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन हेतु एक पूरे ग्रन्थ "Mutual Aid a Factor of Revolution" की रचना कर डाली। उसने इस ग्रन्थ में सामाजिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक श्रेष्ठ नियम के पालन पर जोर दिया और वह यह था कि "दूसरों के साथ वैसा ही आचरण करो जैसे आचरण की तुम वैसी ही अवस्था में दूसरों से अपने साथ किए जाने की आशा रखते हो।"

क्रोपोटकिन मानव और समाज की स्वाभाविक प्रगति के मार्ग में तीन मूल बाधाएँ बताता है जिनका विनाश किए बिना विकास सम्भव नहीं है। ये बाधाएँ तीन हैं—(1) राज्य, (2) व्यक्तिगत सम्पत्ति, और (3) धार्मिक सत्ता। अब हम क्रोपोटकिन के इन तीन बातों से सम्बन्धित विचार प्रस्तुत करते हैं—

क्रोपोटकिन के राज्य सम्बन्धी विचार

क्रोपोटकिन ने राज्य पर जबर्दस्त प्रहार किया है। वह राज्य के अस्तित्व का न प्राकृतिक और न ऐतिहासिक औचित्य ही स्वीकार करता था। उसका विचार था कि राज्य मनुष्य की सहकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति की शोषणकारी संस्थाओं का स्वतन्त्र समाज में प्रवेश एक साथ ही एक दूसरे के पूरक के रूप में हुआ। राज्य की रचना और उसकी गतिविधियाँ इस बात की सूचक हैं कि मनुष्य अभी भी अपनी प्रतियोगितापूर्ण एवं असामाजिक प्रवृत्तियों के वशीभूत हैं। राज्य का अस्तित्व ही इस बात का सूचक है कि मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में नहीं है और वह एक कृत्रिम जीवन व्यतीत कर रहा है जो उसे कभी विकास की ओर नहीं ले जा सकता। क्रोपोटकिन ने बताया कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति समाज की उत्पत्ति के बहुत बाद में हुई। राज्य की उत्पत्ति के पूर्व जो सभ्यता थी उसके अन्तर्गत मनुष्य, बहुत सुखी और प्राकृतिक जीवन बिताता था। मनुष्यों के सम्बन्धों का निगमन आखेट तथा कृषि के समान बचपन से ही सीखी हुई आदतों एवं रिवाजों द्वारा होता था। उसके अनुसार उस समाज में कानून नहीं था क्योंकि कानून के पीछे राज्य का होना आवश्यक है। सामान्य सामाजिक सम्बन्धों के संचालन हेतु कुछ रीति-रिवाज थे एवं परम्पराएँ थीं जो समाज को स्थिर रखने में पर्याप्त थीं। उसके अनुसार राज्य का जन्म समाज के विरोधी वर्गों में विभाजित हो जाने के कारण हुआ जिसके परिणामस्वरूप अपनी आर्थिक सत्ता को बनाए रखने के लिए प्रभावशाली वर्ग ने दूसरे वर्ग पर अपनी सत्ता को आरोपित कर दिया जो कालान्तर में जाकर राज्य के नाम से पुकारा जाने लगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों राज्य-सत्ता का विकास हुआ त्यों-त्यों कानून अधिकाधिक उन

नियमों का रूप धारण करने लगे जो उन रिवाजों की पुष्टि या समर्थन करते थे, जो शासक वर्गों के लिए उपयोगी या हितप्रद थे और उनकी आर्थिक श्रेष्ठता को स्थायित्व प्रदान करते थे। इस प्रकार आज कानून या तो अनावश्यक हैं या हानिप्रद। आज के कानूनों मे कुछ तो ऐसे रिवाज हैं, जो समाज के लिए हितप्रद हैं जो बिना राज्य की स्वीकृति के भी मान्य रहेगे और कुछ नियम ऐसे हैं जिनका पालन सम्पत्ति के स्वामियो के लिए हितप्रद होने के कारण शासनकर्त्ता अल्पमत द्वारा प्रयुक्त सत्ता के भय से होता है।"[1]

राज्य पर प्रबल प्रहार करते हुए क्रोपोटकिन ने बताया कि इतिहास का अध्ययन इस बात का साक्षी है कि राज्य ने कभी भी कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं किया। उसने कभी भी किसी महान् उद्देश्य को प्राप्त करने का ध्येय नहीं बनाया बल्कि उसके अस्तित्व के कारण मनुष्य के कष्ट और अन्याय में वृद्धि ही हुई है। राज्य सदा एक वर्ग के हाथ मे कठपुतली बना रहा है और उसने साधारण मजदूर और कृषक को कभी शोषक द्वारा किए जाने वाले शोषण से नहीं बचाया। उसने कभी भी समाज के निर्बल वर्ग की रक्षा नही की है।

क्रोपोटकिन का विचार था कि राज्य कभी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को सुरक्षित बनाए रखने की दिशा मे योगदान नही देता। उसे नागरिक के अधिकारों का कभी सरक्षक नहीं कहा जा सकता। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, सभा की स्वतन्त्रता, गृह की अनुलघनीयता की रक्षा तथा अन्य सभी नागरिक स्वतन्त्रताओं का आदर उसी समय तक होता है जब तक जनता उनका प्रयोग साधिकार वर्गों के विरुद्ध नहीं करती।[2] इस प्रकार उसने स्पष्ट किया कि राज्य की रक्षात्मक एवं पारमार्थिक सेवाएँ न आवश्यक हैं और न प्रभावकारी ही हैं। उसने इतिहास से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि राज्य की स्थायी सेनाएँ नागरिक सेनाओ द्वारा पराजित हुई हैं और बाह्य आक्रमण स्थानीय नागरिको के विद्रोह के फलस्वरूप नाकामयाब हुए हैं। इसलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आन्तरिक अशान्ति और बाह्य आक्रमण से रक्षा हेतु उन्हे राज्य की आवश्यकता नही है क्योंकि राज्य यह सारे काम करने मे सर्वथा असमर्थ है। राज्य द्वारा संपादित किए जाने वाले सांस्कृतिक और परोपकारी कार्यों की उपादेयता मे भी राज्य ने अपना सन्देह व्यक्त किया है। उसने बताया कि जब मनुष्य आर्थिक और राजनीतिक दासता से मुक्ति प्राप्त कर लेगा तो उसे किसी की सेवा करने और किसी पर आश्रित रहने की आवश्यकता न होगी। कहने का अर्थ यह है कि क्रोपोटकिन को राज्य रूपी संस्था में कोई श्रेष्ठ बात नजर नही आई। उसने तो राज्य को वह समाज बताया जिसमे भूस्वामी, सेनापति, न्यायाधीश, पुरोहित और पूँजीपति अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए एक दूसरे की सत्ता को समर्थन

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 198
2. Paroles d' un Revolte, pp. 28-29.

देते हैं और इसके पीछे इनका उद्देश्य सर्वसाधारण का शोषण करने और अपने को धनी बनाने की मनोवृत्ति भी निहित है।"[1]

व्यक्तिगत संपत्ति

व्यक्तिगत सम्पत्ति पर भी क्रोपोटकिन का जबर्दस्त प्रहार था। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुर्गुणों को उसकी सार्वभूत प्रकृति में निहित मानता था। उसका विचार था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने स्वरूप मे ही न्याय के प्रति अपराध है। इस संस्था के कारण एक छोटा सा वर्ग वर्तमान तथा भूतकाल की पीढ़ियों के अगणित मनुष्यों के सामूहिक प्रयत्नों से उत्पन्न लाभों के अधिकांश का भोग करता है। क्रोपोटकिन के शब्दों में "विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और उसका प्रयोग, अन्वेषण तथा अनुसंधान, मस्तिष्क और हस्त की कुशलता, मन तथा शरीर के श्रम में सभी मिलकर काम करते हैं। प्रत्येक अन्वेषण, प्रत्येक प्रगति, मानवीय सम्पदा में प्रत्येक वृद्धि, अतीत तथा वर्तमान के अथक एवं भागीरथ, शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम का फल है। तब कोई किस आधार पर इस विशाल पूर्ण में से जरा सा भी ले सकता है और यह कहने का दावा कर सकता है कि मेरा है तेरा नहीं।"[2]

क्रोपोटकिन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दूषित परिणामों की ओर भी संकेत किया। उसने बताया कि इसके कारण ही 'जनता में दुख-दरिद्र, करोड़ों की बेरोजगारी, अस्वस्थ बालक, किसानों की ऋण-ग्रस्तता, धन-पतियों में अति व्यय, आडम्बर, आलस्य जिसके कारण वे विलासी बन जाते हैं, समाचार-पत्रों की अधोगति और युद्ध को उत्तेजन'[3] मिलता है। क्रोपोटकिन ने इस आर्थिक अवस्था को राजनैतिक अवस्था से भी जोड़ा और बताया कि किस प्रकार राज्य तथा सम्पत्ति की शोषणकारी संस्थाएँ एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं और इन संस्थाओं के आविर्भाव से किस प्रकार मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता जिसका वह युगों से उपभोग करता आया था, समाप्त हो गई है।

धर्म पर प्रहार

क्रोपोटकिन ने ऐतिहासिक धर्म का भी विरोध किया। धर्म या तो "जगत् की सृष्टि की मीमांसा करने वाला एक आदिम सिद्धान्त है या प्रकृति को समझने का एक भद्दा प्रयास है, या वह एक ऐसी नैतिक प्रणाली है जो जनता के अज्ञान तथा अंधविश्वास से लाभ उठाकर, उसे वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत जो अन्याय सहने पड़ते हैं, उन्हे सहन करने का उपदेश देती है।"[4] क्रोपोटकिन ने बताया कि धर्म का परिणाम सदा धनिकों के हित में ही होता है और इससे सदा निर्धनों का अहित ही हुआ है। क्रोपोटकिन यद्यपि रूढ़ि-बद्ध धर्म के विरुद्ध था लेकिन वह सामाजिक नैतिकता को आवश्यक मानता था। समाज के लिए नैतिकता आवश्यक है लेकिन यह राज्य, गिरजा या किसी संस्था

1 *Kropotkin* : Modern Science and Anarchism, p. 81.
2. *Kropotkin* : The Conquest of Bread, p. 9.
3. Paroles d' un Revolte, pp. 5-6.
4. Anarchist Communism, pp. 32-35.

द्वारा आरोपित नहीं की जानी चाहिए। राज्य के जन्म के बहुत पहले से ही नैतिकता समाज में रही है, बल्कि राज्य ने तो इस नैतिकता को समाप्त कर दिया है। इस नैतिकता का जन्म उन सामाजिक नियमों से होता है जिनका निर्माण उसी समय से होने लगता है जबकि सामाजिक प्राणी एक दूसरे के साथ रहना सीखते हैं। यह सामाजिक नैतिकता, सार्वजनिक हित और आत्म-बलिदान के सिद्धान्तों पर आधारित है। यह नैतिकता स्वाभाविक है और यह रुढ़ि-बद्ध धर्म से स्वतंत्र है।

क्रोपोटकिन ने जो कुछ लिखा, उसमें उसने मानव की सामाजिक दायित्व की तथा मानव बंधुत्व की भावनाओं और ऐसा श्रम करने की प्रवृत्ति पर जोर दिया जिसमें उसकी रचनात्मक प्रवृत्तियों की तुष्टि के साथ-साथ उसके साथियों के लिए पर्याप्त मात्रा में उत्पादन करने की इच्छा भी हो। उसके विचार में स्वाभाविक मानवीय गुणों द्वारा ऐसे समाज मे, जिसने राजसत्ता तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश कर डाला है, *शांति-व्यवस्था तथा न्याय-परायणता के लिए पर्याप्त गारंटी* प्राप्त होती है।[1]

अन्य विचार

उसने समाज के सहकारी पक्ष पर जोर दिया और बताया कि राज्य के समाप्त होते ही जो कि दमनकारी सत्ता का सजीव रूप है, स्वतन्त्र संघ स्वतः बनने लगेंगे और नागरिक सहकारी जीवन व्यतीत करने लगेंगे। उसका कथन था कि राज्य के अन्तर्गत सहकारी जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि सहकारी जीवन स्वेच्छा पर आधारित है जो कि एक दमनकारी सत्ता के निर्देशन में कभी भी संभव नहीं है। स्वतंत्र सहकारी जीवन राज्य के उन्मूलन के बाद ही संभव है।

क्रोपोटकिन ने अराजकतावाद को एक वैज्ञानिक दृष्टि दी। उसने अपने चिन्तन में मानव स्वभाव के अध्ययन तथा आलोचकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों को भी समाविष्ट किया। उसने अराजकतावाद के विरोधियों की युक्तियों का भी जवाब दिया। उसने बताया कि दबाव से किए गए प्रतिज्ञा-पत्रों की क्रियान्विति हेतु राज्य होता है। स्वेच्छा पर आधारित, स्वतंत्र समाज में प्रतिज्ञा-पत्रों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

क्रोपोटकिन ने मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए यह भी बताया कि यह बात गलत है कि मनुष्य स्वभाव से कामचोर होता है। काम के प्रति अरुचि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। मानव आलस्य के स्थान पर कार्य करना ज्यादा पसंद करता है। काम में अरुचि जो देखी जाती है इसका कारण सामाजिक अवस्थाएँ, सामाजिक वातावरण आदि हैं। जब विपाक्त वातावरण समाप्त हो जाएगा तो मनुष्य स्वतः ही कार्य करने में रुचि लेगा और उसकी रुचि के अनुकूल यदि व्यक्ति को कार्य मिलने लगेगा तो उसके आलसी होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

1. कोकर : वही, पृष्ठ 204.

क्रोपोटकिन ने यह भी बताया कि मनुष्य स्वभाव से असामाजिक या समाज विरोधी नहीं होता है। आज जो समाज विरोधी कार्य देखने को मिलते हैं उसका कारण मनुष्य नहीं बल्कि दूषित सामाजिक नियम हैं। अधिकांश अपराध आज भी उत्पादन और वितरण-प्रणाली के दोषों के कारण होते हैं। सामाजिक जीवन में कितनी विषमताएँ हैं उनको अगर गम्भीरता से देखें तो पता चलेगा कि मनुष्य किस प्रकार शांत रह सकता है। समाज के चंद लोग भोगविलास का जीवन व्यतीत करें और दूसरे परेशानी में जीवन बिताएँ-भला ऐसे समाज में कैसे संतुलन स्थापित रह सकता है? सामाजिक जीवन मे यदि समानता आ गयी तो अपराध स्वतः हो समाप्त हो जाएँगे और फिर एक दमनकारी सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

राज्य के साथ ही साथ उसने कानून पर भी प्रहार किया। इसके सम्बन्ध में दो बातें कहीं जा सकती हैं–प्रथम, कानून अनावश्यक हैं। उसके चिन्तन में पारस्परिक सहयोग सबसे बड़ी वस्तु है। क्रोपोटकिन की पुस्तकों में इसी आशय से लिखी हुई 'Mutual Aid' पुस्तक सुप्रसिद्ध है। उसने बताया कि पारस्परिक सहयोग का कानून पारस्परिक संघर्ष के कानून से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य में नैतिक भाव है और वह पारस्परिक सहयोग की भावना के विकास मे सहयोग देता है। मनुष्य में नैतिक शक्ति किसी धर्म या विधि निर्माताओं के आदेशों से ज्यादा शक्तिशाली है।[1] विधि पर क्रोपोटकिन का दूसरा आरोप है कि यह यथार्थ में कृत्रिम है जिसमें कुछ विष और घोल लिया जाता है। कानून परम्पराओं और रीति-रिवाजो पर आधारित होता है। कानून की उपस्थिति रीति-रिवाजों की पुष्टि करती है। उसने सार रूप में यह बताया कि कानून कुछ स्वीकृत आदतों और रीति-रिवाजों का समूह है। यह भी इतना बुरा नहीं है जितना कि यह है कि विधि-निर्माता अपनी ओर से कुछ संभ्रांत वर्ग के लोगों के हितों का संरक्षण कर देता है। क्रोपोटकिन का यह भी विचार था कि कानून को लिखित रूप नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे भविष्य को अवरुद्ध कर दिया जाता है। गॉडविन के शब्दों मे यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि "भविष्य के लिए कानून बनाना असंभव है।"[2]

आलोचना एवं मूल्यांकन

क्रोपोटकिन ने, अन्य अराजकतावादियों की तरह जिस समाज की कल्पना की वह सम्भव नहीं है, तथापि आकर्षण की बात तो यह है कि उसने अपने विचारों को जिस शैली मे कहा वह अपने मे एक अनूठी वस्तु है। उसने एक बहुत ही सरल और विशेष न चुभने वाली शैली में अपनी बात कही। उसने बेकुनिन तथा अन्य शून्यवादियों की शैली नहीं अपनायी। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोपोटकिन के चिन्तन में क्रान्ति का कोई स्थान न था, बल्कि यह कहा जा सकता है कि क्रान्ति

1. Modern Science and Anarchism, p. 21.
2. Ibid, p. 87.

तो उसके चिन्तन में प्रमुख स्थान रखती है। विशेषता तो यह है कि उसने अपने विचार जिस तरीके से रखे उनको क्रियान्वित करने के लिए किसी का सिर फोडने की आवश्यकता नहीं है। अलेक्जेन्डर ग्रे ने क्रोपोटकिन को बहुत ही प्रिय एव आदरणीय स्थान दिया है। क्रोपोटकिन का महत्त्व इस बात में है कि उसने अन्य अराजकतावादी लेखकों की भाँति अपनी कृतियों में अराजकता नही दिखलायी। उसने बड़े व्यवस्थित ढग से अपनी बात को रखा और अव्यावहारिक बात को व्यावहारिक बनाने का प्रयास नहीं किया।

बर्टण्ड रसल
(Bertrand Russell, 1872-1970)

बर्टण्ड रसल विश्व के जाने माने विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियों मे से एक था जिसे अपने जीवन में ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उसे एक महान गणितज्ञ, आधुनिक भौतिक, दार्शनिक, नीति शास्त्री, राजनीतिक विचारक, ख्याति-प्राप्त लेखक और शांतिवादी होने का गौरव प्राप्त था। उसने इन विविध पक्षों मे जो योगदान दिया वह चिरस्मरणीय रहेगा। उसकी गिनती 20वीं शताब्दी के महानतम विचारकों और लेखकों में की जाती है।

रसल का जन्म 18 मई 1872 को इंग्लैण्ड के एक जाने-माने परिवार मे हुआ। रसल के दादा जोन रसल इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री रह चुके थे। चूंकि रसल के माता-पिता की मृत्यु रसल के बाल्यकाल में ही हो चुकी थी इसलिए उसका लालन-पालन दादा-दादी ने किया। रसल प्रतिभाशाली छात्र था और जिन-जिन विद्यालयों मे वह पढ़ा उसने वहाँ अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। सन् 1903 में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी प्रिन्सिपिल ऑफ मेथेमेटिक्स' लिखी। सन् 1910 मे वह कैम्ब्रिज में प्राध्यापक नियुक्त हो गया। कुछ समय उपरांत उसे अमेरिका के सुप्रसिद्ध हारवर्ड विश्वविद्यालय मे नियुक्ति का निमंत्रण मिला, लेकिन ब्रिटिश सरकार की अनुमति न मिलने के कारण वह अमेरिका नही जा सका। 1918 में उसे 6 महीने का कारावास भी भोगना पडा जिसका कारण उसका शांति पर लिखा गया एक लेख था। कारावास में उसने अपना 'इन्ट्रोडक्शन टू मेथेमेटिकल फिलोसॅफी' भी लिखा। 1920 में उसे रूस भ्रमण का अवसर मिला जो उस समय तक साम्यवादी हो चुका था। उसने अपनी रूस यात्रा पर एक पुस्तक लिखी जो काफी विवाद का विषय बनी। उसने 1923-24 में श्रमिक दल की ओर से ब्रिटिश पार्लियामेन्ट का चुनाव भी लड़ा, लेकिन वह हार गया। उसने अपने अन्य महान ग्रन्थो की रचना रूस यात्रा के उपरांत की। 1949 मे उसे इंग्लैण्ड के राजा की ओर से 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' का पुरस्कार मिला। 1950 मे उसे विश्वविख्यात नोबल प्राइज से सम्मानित किया गया। 1950 में ही उसे आस्ट्रेलिया में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया।

रसल का व्यक्तिगत-जीवन संघर्ष और मनमौजी का रहा। उसने चार शादियाँ कीं और हर बार उसकी पत्नियों ने उसे तलाक दे दिया। उसका अन्तिम

विवाह जब हुआ तब वह काफी बूढ़ा हो गया था। उसके दाम्पत्य जीवन के असफल होने का सबसे बड़ा कारण रसल का मनमौजी स्वभाव होने के अतिरिक्त उसका व्यस्त जीवन भी था। सन् 1970 में उसके दीर्घ जीवन का अन्त हुआ और इस समय तक वह विश्व के सर्वाधिक जाने माने विद्वानों और विचारकों की श्रेणी में आ चुका था। उसकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. The Principles of Mathematics—1903.
2. The Problem of Philosophy—1912.
3. The Principles of Social Reconstruction—1916.
4. The Political Idealism—1917.
5. Roads to Freedom—1918
6. Introduction to Mathematical Philosophy—1919.
7. The Practice and Theory of Bolshevism—1920.
8. The Analytical Mind—'921.
9. The Problem of China—1922
10. Marriage and Morals—1929
11. The Conquest of Happiness—1930
12. A History of Western Philosophy—1945.
13. Wisdom of the West—1959

रसल के प्रमुख विचार

स्वतन्त्रता, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध आदि पर रसल के विचार

रसल का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक सृजनात्मक प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा वह मानव-विकास को समृद्ध करता है। और अपनी परिणति को प्राप्त करता है यह सृजनात्मक प्रवृत्ति उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को भी व्यक्त करती है। रसल का कहना है कि समाज और राज्य अपने वर्तमान परिवेश में इस सृजनात्मक शक्ति को कुंठित कर देते हैं, अतः आवश्यक है कि समाज और राज्य दोनों की संरचना इस प्रकार हो कि यह सृजनात्मक शक्ति कुंठित न हो सके। रसल ने बताया कि इस विश्व में स्वतंत्रता और सत्ता के बीच निरन्तर संघर्ष चलते रहते हैं। व्यवस्था और कानून पर जोर देने वाले वे लोग हैं जो इस भय से त्रस्त हैं कि मनुष्य इनके बिना जीवन नही चला सकेगा और मृत्यु-अवस्था को प्राप्त हो जाएगा। लेकिन दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास रखने वाले ऐसा मानते हैं कि यह स्वतन्त्रता एक अधिक उत्कृष्ट मानव-सभ्यता को जन्म देगी।

रसल के अनुसार आवेग दो प्रकार के होते हैं–संग्रहकारी (Possessive) और सृजनकारी (Constructive)। सभी मानव-संस्थाएँ इन आवेगों से सम्बद्ध हैं जिन्हें या तो संग्रहकारी संस्थाएँ कहा जा सकता है या अन्य संस्थाओं को सृजनकारी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए सम्पत्ति एक संग्रहकारी वस्तु है जबकि विज्ञान, कला, संगीत ये सृजनकारी हैं। संग्रहकारी आवेग मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा संग्रह करने की दिशा मे प्रवृत्त करता है, लेकिन चूंकि भौतिक पदार्थ सीमित हैं अतः एक मनुष्य जब अपने लिए ज्यादा संग्रह करता है तो वह ऐसा दूसरों को इन

उपलब्धियों से ही वंचित करके करता है। इस प्रकार ज्यादा संग्रह की प्रवृत्तियाँ संघर्ष को जन्म देती हैं। संघर्ष-सत्ता लोलुपता को जन्म देती है और अन्ततोगत्वा यह युद्ध की ओर प्रवृत्त करती है। राज्य और सम्पत्ति दो संग्रहकारी संस्थाएँ हैं और जिनकी परिणति केवल युद्ध में ही होती है। किसी वस्तु पर एक मात्र आधिपत्य की भावना सदा संग्रह में ही परिणत होती है और यह संग्रह युद्ध को जन्म देता है।

रसल के अनुसार संग्रह या तो सुरक्षात्मक होता है या आक्रमणात्मक।[1] लेकिन दोनों ही बातों से एक दुर्भावनापूर्ण चीज पैदा होती है। यह दुर्भावना ही राज्य को हस्तक्षेप का निमन्त्रण देती है और जहाँ राज्य का हस्तक्षेप बढ़ जाता है वहाँ अन्य बुराइयाँ आ जाती हैं। रसल संग्रहकारी प्रवृत्तियों को समस्त बुराइयों की जड़ मानता है। व्यक्ति चीजों को प्राप्त करने के साथ ही वह यह भी मानता है कि कुछ और ऐसी वस्तुएँ हैं जैसे विवाह, व्यवसाय की पसंदगी, आवेग (Impulse), विश्राम, मनोरंजन आदि जिनकी व्यक्तियों को अपनी पसंद है और उन पर राज्य का कोई भी नियंत्रण नहीं होना चाहिए। रसल के शब्दों में "एक कलाकार का मनोवेग व्यक्ति के लिए और बहुधा संसार के लिए एक अमूल्य चीज हुआ करती है। अतएव इस चीज का अपने अन्दर तथा दूसरों के अन्दर सम्मान करना एक उत्तम जीवन का 10 भागों में से 9 भागों का निर्माण करना है।" मनुष्य संग्रह करने के लिए शक्ति का प्रयोग करता है लेकिन विश्व की सारी चीजें शक्ति से प्राप्त नहीं हो सकतीं। जैसे पौरुष पर शक्ति के द्वारा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन इस शक्ति से आपको उसका प्रेम नहीं मिल सकता। रसल इसलिए शक्ति या बल के स्थान पर शांति पर जोर देता है। इसकी मान्यता है कि संसार की सभी वस्तुएँ शांति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं अतएव भौतिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता नियंत्रित की जानी चाहिए। . . ? इसलिए आवश्यक है कि ऐसा नहीं किए जाने पर शक्तिशाली धनी हो जाएँगे और अन्य लोग गरीब।

रसल सृजनात्मक मनोवेगों को श्रेष्ठ मानता है जिनमें विशिष्ट व्यक्तियों का निर्माण करने की शक्ति होती है एवं जिसकी परिभाषा करना कठिन हो जाता है। जैसे बगीचे में बगुलों का समूह चलता है तो उनके चलने में एक विशिष्टता का बोध होता है। यह विशिष्टता आनन्द देने वाली होती है, लेकिन इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। जब मनुष्य अपने सृजनात्मक आवेग द्वारा प्रेरित होकर कोई भी कलात्मक, साहित्यिक, संगीत संबंधी कार्य करता है तो यह एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करता है और उसका यह सृजनात्मक आवेग विश्व को सुन्दर एवं आकर्षक बनाता है।

वैसे तो प्रत्येक मनुष्य में एक सृजनात्मक शक्ति होती है, लेकिन वह समाज जिसमें वह रहता है उसे आगे बढ़ने से रोक देता है। मनुष्य किसी-किसी परम्पराओं,

1. के एन वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग 2, पृ० 369.

अन्धविश्वासों और कुरीतियों से इतना बंधा हुआ रहता है कि परम्पराओं के अनुसार चलने के अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा चारा ही नहीं रह पाता है। उससे उसकी सारी शक्ति कुंठित हो जाती है। अतः रसल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस शक्ति का निर्माण करने वाले मनोवेगों को बढ़ाना और उन्हें सुरक्षित रखना राजनैतिक संस्थाओं का सबसे प्रधान उद्देश्य होना चाहिए।[1] रसल का मन्तव्य था कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक भाग समाज और राजनैतिक संस्थाओं द्वारा नियंत्रित होता है, दूसरा व्यक्तिगत क्रियाशीलता या रचनात्मक प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होता है। वह मानता है कि मनुष्य में व्यक्तिगत क्रियाशीलता या रचनात्मक प्रवृत्ति को विकसित करने का जितना अवसर दिया जाएगा उतना ही वह व्यक्ति महान होगा।

महान् व्यक्ति द्वारा किया गया कार्य सबके लिए आनन्द का विषय बनेगा। इनका कार्य किसी के लिए कष्टदायक नहीं होता बल्कि सृजनकारी दूसरे सृजनकारी कार्यों को बढ़ावा देता है। रसल के शब्दों में "एक वैज्ञानिक या कवि का कार्य या रचनाएँ दूसरों को भी समृद्ध करती हैं और स्वयं को भी। धन का वर्धन या सद्-इच्छा उन सभी के लिए लाभकारी है जो उनसे प्रभावित होते हैं न कि केवल उनके लिए ही जो उनके पात्र है। वे जो जीवन का आनन्द प्राप्त करते हैं वे दूसरों के लिए स्वयं आनन्द बन जाते हैं अपने लिए तो बनते ही हैं। बल प्रयोग इस प्रकार की चीज का निर्माण नहीं कर सकती यद्यपि वह इन चीजों का विनाश कर सकता है।"[2]

रसल के कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्ति को अधिकाधिक विकसित करने और उसको अभिव्यक्त करने का अवसर मिलना चाहिए। समाज और सभी संस्थाओं (जिनसे वे सम्बद्ध होते हैं) को चाहिए कि उसे यह सारे अवसर सुलभ कराए। वैचारिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार का नियंत्रण उसके लिए घातक हो सकता है। वर्तमान युग में राजनीतिक और आर्थिक विशाल संगठन बन गए हैं जिनमें मनुष्य खो जाता है। मनुष्य जैसी कोई चीज रह नहीं पाती, वह तो समाज रूपी विशाल मशीन का एक तुच्छ पुर्जा बनकर रह जाता है। रसल मानता है कि आधुनिक समय की सबसे बड़ी समस्या यही है कि इन बढ़ते हुए संगठनों और व्यक्तियों की रचना-शक्ति के बीच किसी प्रकार का तालमेल बैठाया जाए। जब तक यह तालमेल नहीं बैठ पाता तब तक मनुष्य की सही उन्नति नहीं हो सकती।

मनुष्य और समाज

व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए रसल ने लिखा है कि मनुष्य समुदाय में रहना अधिक लाभकारी मानता है, परन्तु उनकी इच्छा शर्तों में

1. *Russell* : Political Ideals, p. 71.
2. *Russell* : Political Ideals, p. 74.

रहने वाली मधुमक्खियों की तरह न होकर अधिकाधिक रूप मे व्यक्तिगत होती है, इसीलिए सामाजिक जीवन में कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, और एक सरकार की आवश्यकता होती है। क्योंकि एक ओर तो सरकार आवश्यक हो जाती है, लेकिन दूसरी ओर सरकार में शक्ति की असमानता होती है और जिनके हाथ में अधिक शक्ति संचित होती है वे सामान्य नागरिक के हित के विरुद्ध अपनी ही आकांक्षाओं को पूरा करने मे उसका दुरुपयोग करते हैं, इसीलिए अराजकता और निरंकुशता समान रूप से विनाशकारी हैं और यदि मनुष्य जाति को सुखी रहना है तो इन दोनों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता आवश्यक है।[1]

रसल का कहना है कि सभी प्रकार के समुदाय मनुष्य को दो प्रकार से प्रभावित करते हैं। एक तो व्यक्ति के हितों को बढ़ाने को रोकने पर और दूसरे उसके हितो पर दूसरो के द्वारा किए जाने वाले कुठाराघातो को रोकने के रूप मे। लेकिन इन दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट नही हुआ करता। व्यक्ति अपने जीवन की विभिन्नताओ के कारण अनेक प्रकार की सत्ताओं के सम्पर्क मे रहता है जिनमे बहुत कम सत्ता ऐसी होती है जो उसकी रुचि के अनुकूल हो तथा उसके मनोवेगो को सन्तुष्ट कर सके। सच तो यह है कि सत्ता व्यवसायी होती है और मनुष्य को उसमें बंधना पड़ता है जिसके कारण उसकी इच्छाएँ दब जाती हैं। इन परिस्थितियो में स्वतन्त्रता की रक्षा कहाँ हो पाती है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रसल के राजनैतिक विचारों के मूल में उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार हैं। वह स्वतन्त्रता को इतना महत्त्व देता है कि उसको सुरक्षित रखने हेतु वह सत्ता का भी विरोध करता है। उसका कहना है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मानव के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। उसने साम्यवादी, फासीवादी और अन्य अधिनायकवादी पद्धतियों का इसीलिए विरोध किया कि उनमे स्वतन्त्रता को कोई महत्त्व नहीं मिलता। वह लोकतन्त्र को इसीलिए सबसे ज्यादा उपयुक्त मानता है और इस बात को महत्त्व देता है कि लोकतन्त्र और समाजवाद दोनों साथ-साथ मिलकर चल सकते हैं।

रसल के अनुसार रचनात्मक कार्य करने की क्षमता ही स्वतन्त्रता है। वह मानता है कि परम्पराओं और रूढ़ियों से स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छा के अनुकूल चलना ही स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता का सम्बन्ध अपनी आन्तरिक आवाज से मानता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपनी आन्तरिक आवाज के कहने पर सेना मे भर्ती होने से मना करता है तो उसे ऐसा करने का अधिकार होना चाहिए। यह उसकी स्वतन्त्रता है जिसे राष्ट्र, समाज या कोई व्यवस्था नहीं छीन सकती। उसका विचार है कि स्वतन्त्रता एक ऐसा प्रश्न है जिसमें भूख, भय, दमन

1. *Russell* : Power-a New Social Analysis, p. 211.

तथा शासन नहीं होता। इसीलिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें ये सब बातें न हों, क्योंकि एक स्वस्थ वातावरण में ही वास्तविक स्वतन्त्रता निवास करती है। एक ऐसे राज्य में जहाँ आर्थिक असंतुलन हो, जहाँ एक वर्ग अपनी समृद्धि और साधनों के बाहुल्य के कारण दूसरे वर्ग पर शासन करता हो, वहाँ स्वतन्त्रता निवास नहीं करती। भूखे आदमी की स्वतन्त्रता और रोटी इन दो के बीच एक वस्तु चुनने के लिए कहा जाए तो वह निश्चित ही रोटी का ही चयन करेगा क्योंकि वह रोटी के बिना जीवित नही रह सकता। रसल के कहने का अर्थ यह है कि वास्तविक स्वतन्त्रता केवल एक ऐसे समाज में ही सम्भव है जिसमें आर्थिक सन्तुलन हो। वास्तविक स्वतन्त्रता केवल तभी सम्भव है जबकि समाज का एक मौलिक निर्माण हो, शासन के सभी साधनो को समाप्त कर दिया जाए, मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों का उदय हो तथा समाज में उत्पादन और मनुष्यों के आर्थिक सम्बन्धों को एक नई दिशा दी जाए।[1]

रसल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के मूल में व्यक्ति है। उसका कहना है कि चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति माना जाना चाहिए क्योंकि केवल व्यक्ति ही साकार है और सभी अच्छाइयां उसी के अन्दर अनुभव की जा सकती हैं। रसल ने स्पष्ट कहा है कि विश्व-निर्माण की दृष्टि मे किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का सर्वोच्च ध्येय व्यक्ति का विकास ही होना चाहिए। व्यक्ति यदि राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्र में रहेगा तो जिस विश्व का निर्माण होगा वह एक ऐसा विश्व होगा जिसमें रचनात्मक प्रवृत्ति प्रज्ज्वलित होगी, जिसमे जीवन आशा और आनन्द का केन्द्र बन जाएगा, यह एक ऐसा विश्व होगा जिसमें स्नेह उन्मुक्त रहेगा, जिसमे प्रेम प्रभुत्व की भावना से मुक्त होगा, जिसमें अत्याचार और दमन के स्थान पर प्रसन्नता होगी और यह वह विश्व होगा जिसमे सभी इच्छाओं का अबाधित विकास सम्भव हो सकेगा। ऐसे विश्व में तन, मन और आत्मा आशाओं से भरी रहेगी। रसल का कहना है कि ऐसी गरिमा का निर्माण सम्भव है। केवल ऐसा निर्माण करने के लिए मनुष्यों को ऐसा निश्चय कर लेना है।[2]

रसल स्वतन्त्रता का अर्थ उस स्वतन्त्रता (Laisse faire) से नहीं लेता जो पूँजीवादी समाज में मिलती है। उसका अर्थ उस तथाकथित स्वतन्त्रता से भी नहीं है जिसकी आड़ में एक शक्तिशाली वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है। यह प्रतियोगात्मक स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है। वह ऐसी स्वतन्त्रता की भर्त्सना करता है और उसकी मान्यता है कि इसको दबाने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। रसल अन्धविश्वासों से प्रेरित स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि परम्परागत प्रवृत्तियों एवं अनिश्चित और स्वार्थी भावनाओं के पीछे जो अन्धविश्वास असभ्य या सभ्य जातियों मे चल रहा है उसको चलने देना

1. *Russell* : Roads to Freedom, p. 95.
2. *Russell* : Roads to Freedom, p. 210.

स्वतन्त्रता नहीं है। उसका कहना है कि राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह ऐसी गलत परम्पराओं पर आधारित इन स्वतन्त्रताओं का उन्मूलन करने में योगदान दें। लेकिन राज्य को इसके आगे नही बढना चाहिए। चिन्तन और धर्म का सम्पूर्ण क्षेत्र ही राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए।[1] इसको स्पष्ट करते हुए रसल ने लिखा है कि राज्य इस बात का आग्रह करने मे सही है कि बच्चों को शिक्षा दी जाए, परन्तु यह गलत है कि वह सभी बच्चों को एक प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए और सब पर एक ही प्रकार का लेबिल चिपकाने के लिए बाध्य करे।[2] उसका इस बात पर जोर था कि मानसिक और बौद्धिक क्रियाकलापों को नियन्त्रित करने का अधिकार राज्य को नहीं है।

राज्य सम्बन्धी रसल के विचार

रसल न तो राज्य को मार्क्स की तरह किसी अवस्था में जाकर खत्म ही करना चाहता है और न ही वह इसके कार्य-क्षेत्र को विस्तृत ही देखना चाहता है। वह मार्क्स की इस बात को कल्पना मानता है कि एक ओर राज्य को संक्रमण काल में बहुत शक्ति से ओतप्रोत कर दिया जाए और दूसरी ओर कालान्तर मे वह मुरझा जाए। रसल ऐसे समाज की कल्पना नही करता जिसमे कानून और व्यवस्था की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। उसका कथन है कि चाहे समाज में कितनी भी समता और सामञ्जस्य क्यो न हो कुछ अपराधी फिर भी बचे रहेंगे। मानव प्रवृत्ति एक सी नहीं होती चाहे उसमें एक क्रम भले ही हो। अपराध की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में अवश्य बनी रहेगी और इसलिए अपराध पूर्ण रूप से समाप्त नही किया जा सकता। यही कारण है कि रसल राज्य और कानून की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करता है। चोरी, हिंसा जैसी कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो कम की जा सकती हैं, लेकिन मूलतः खत्म नहीं की जा सकतीं। युद्ध और शान्ति, आयात-निर्यात, मादक वस्तुओं का नियन्त्रण, उत्पादन का न्यायोचित वितरण आदि कुछ ऐसी चीजें हैं जो समाज या राज्य की मदद के बिना ठीक कभी नही हो सकती। पूर्ण स्वच्छंदता कुशल नेतृत्व और बौद्धिक रूप से उन्नत लोगों के लिए ही है। यदि यह समाज में पूर्ण रूप से लागू की जाए तो शक्तिशाली व्यक्ति कमजोर को निगल जाएगा। बहुमत के नाम पर सम्पन्न लोग साधनहीन लोगों का दमन कर देंगे और शारीरिक रूप से सबल लोग निर्बल व्यक्तियों को समाप्त कर देंगे। सामाजिक कुरीतियों और अपराधों को रोकने के लिए लोगों की एक आदत बनानी पड़ती है जो एक लम्बे समय तक कानून के अधीन ही सम्भव है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-प्रवृत्ति मे वह सामंजस्य ही श्रेष्ठ कहा जा सकता है जिसमें स्वेच्छाचारिता के स्थान पर कानून का शासन हो। वैसे रसल शक्ति का मूल, हिंसा और पशुबल को मानता है। उसके अनुसार राज्य आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में

1. *Bertrand Russell* : Political *Idealism*, p. 53
2. *Bertrand Russell* : Political *Idealism*, p. 66

अपने बल का उपयोग करता है। अन्दरूनी मामलों में वह पुलिस, जेल, न्याय-व्यवस्था आदि साधनों द्वारा नागरिकों पर सामाजिक शांति और सुव्यवस्था के नाम पर अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। बाह्य मामलों में आक्रमण को रोकने के नाम पर राज्य न केवल एक शक्तिशाली सैनिक संगठन ही बनाता है बल्कि उनके प्रयोग के लिए विनाशकारी शस्त्रों का निर्माण भी करता है। राज्य की शक्ति आंशिक रूप से वैधानिक होती है और आंशिक रूप में आर्थिक। वह अपराधियों को दंड देता है और अपनी इस शक्ति के प्रयोग द्वारा वह उन्हें भूखा बना सकता है।[1] सार यह है कि राज्य एक निर्दय आवश्यकता है और इसी रूप में इसका औचित्य है। रसल का कहना है कि लाखों निर्दोष व्यक्ति कुटिल राजनीतिक और सरकार की पशुवत् शक्ति का शिकार बन जाते हैं। सरकार के कर्णधार अपने हितों के लिए निर्दोष व्यक्तियों को दूसरे निर्दोष व्यक्तियों की हत्या करने के लिए बाध्य कर देते हैं। वह मानता है कि अनगिनत लोगों का युद्ध में बलिदान मानव सभ्यता पर जबर्दस्त कलंक है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस अन्दरूनी और बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में ही राज्य जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करता उनसे ज्यादा वह समस्याओं को उलझा देता है और नई समस्याओं का निर्माण कर देता है।

लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी रसल इस रूप में अराजकतावादी नहीं है कि राज्य बिलकुल ही समाप्त हो जाए। वह राज्य के औचित्य को इन शब्दों में प्रकट करता है, "अराजकतावादी जो कुछ कहते हैं उसके बावजूद कुछ कार्यों के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था प्रतीत होती है। शान्ति तथा युद्ध, आयात-निर्यात, सफाई का प्रबन्ध तथा जघन्य वस्तुओं की बिक्री पर नियन्त्रण, एक न्यायपूर्ण वितरण-प्रणाली तथा अन्य कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें एक समाज में एक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। परन्तु राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए हमे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उसके कार्य केवल उतने ही हों जो कि नितांत आवश्यक हैं। राज्य की शक्तियों को सीमित रखने का केवल एक साधन है और वह यह है कि समाज में ऐसे समुदाय हों जो कि अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए कटिबद्ध हों, चाहे उसके लिए राज्य के कानूनों का विरोध ही क्यों न करना पड़े। राज्य, यद्यपि वह अपने वर्तमान रूप में काफी बुराइयों का स्रोत है, कुछ अच्छे कार्यों का साधन भी है। राज्य की आवश्यकता तब तक रहेगी जब तक कि मनुष्य में विनाशकारी प्रवृत्तियाँ आम तौर से पाई जाती रहेंगी। परन्तु वह केवल साधनमात्र है और एक ऐसा साधन है, जिसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से और कभी-कभी ही करना होगा, यदि उसे भलाई की अपेक्षा बुराई अधिक करने से रोकना है।"

रसल के राज्य सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए अलेक्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि उसको पूर्ण अराजकतावादी कहना गलत है। उसने अनुभव किया है कि राज्य,

1. रसल : रोड्स टू फ्रीडम, पृष्ठ 124.

बावजूद इसकी सब बुराइयों के फिर भी आवश्यक है। रसल उन मुट्ठीभर समाजवादियों मे है जो कि सब मनुष्यों को मौलिक रूप से श्रेष्ठ नहीं मानते हैं। वह बार-बार हमे स्मरण दिलाता है कि हमारे बुरे मनोवेग एक मात्र बुरी सामाजिक व्यवस्था के कारण ही नही हैं।[1]

समाजवाद, युद्ध आदि पर रसल के विचार

समाजवाद में रसल की आस्था है, लेकिन उसे श्रम संघवाद, श्रेणी समाजवाद, अराजकतावाद में कोई न कोई कमी नजर आती है। उसने समाजवाद को इस प्रकार परिभाषित किया कि "समाजवाद भूमि और पूँजी पर सामुदायिक स्वामित्व की व्यवस्था है। सामुदायिक स्वामित्व से तात्पर्य एक लोकतान्त्रिक राज्य के स्वामित्व से भी हो सकता है, लेकिन लोकतान्त्रिक राज्य के स्वामित्व को सामुदायिक स्वामित्व नही कहा जा सकता।"[2]

रसल की मान्यता है कि अर्थ-व्यवस्था और उत्पादन के साधन पूँजीपतियों के हाथों से मुक्त होकर स्वायत्त समुदायों के हाथों में आने पर ही समाजवादी व्यवस्था लाई जा सकती है। रसल ने पूर्ण मार्क्सवादी और पूर्ण अराजकतावादी विचारों को खतरनाक बताया। उसे मार्क्सवादी यह विचार भी पसन्द न आया कि जो काम करेगा केवल वही खाएगा और काम का वितरण राज्य के अधिकारियों द्वारा किया जाएगा और न पूर्ण अराजकतावादी वह विचार पसन्द आया जो स्वेच्छाचारिता का दूसरा नाम है। रसल दोनो विचारों के समन्वय की बात सोचता है। उसका कथन है कि "क्या हम दोनों के लाभों का एक साथ फायदा नही उठा सकते। मुझे लगता है कि हम ऐसा कर सकते हैं।"[3]

रसल ने वर्तमान पूँजीवादी समाज मे लोगों की सग्रहात्मक प्रवृत्ति की भर्त्सना की और कहा कि ऐसे समाज को जिसके मूल्य भौतिक हों, बदलना पडेगा। उसके अनुसार आदर्श समाज वह है जिसमें व्यक्ति पर परमार्थिक आनन्द को अधिक महत्त्व देंगे। रसल के शब्दों में, "ऐसा जीवन जो आत्मा में जिया जाता है—ऐसी आत्मा मे जिसका उद्देश्य संग्रह करने के बजाए सृजन करना है—एक प्रकार का मौलिक आनन्द है और जिसे प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी पूरी तरह समाप्त नही किया जा सकता।"[4]

रसल का युद्ध-विरोध बहुत ही चर्चा का विषय रहा है। उसने बताया कि "युद्ध बुराई के पेड़ का अन्तिम फल है।"[5] उसकी मान्यता है कि यदि एक बार संसार

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, pp. 377-78.
2. *Russell* : Road, to Freedom p. 21.
3. Ibid.
4. Ibid, p. 191.
5. Ibid, p. 27.

युद्ध के भय से मुक्त हो जाए, तो फिर चाहे वह किसी भी प्रकार की सरकार की अधीनता में कार्य करे और चाहे किसी भी प्रकार की आर्थिक स्थितियाँ क्यों न हों, वह समय पर अपने प्रशासकों की भयकरता पर नियन्त्रण पाने के साधन ढूँढ लेगा। दूसरी ओर, सभी युद्ध और विशेषकर आधुनिक युद्ध डरपोक को अपना नेता ढूँढने के लिए बाध्य करके और साहसी लोगों को समाज से अलग कर गुटों में संगठित करके अधिनायकवाद को बढ़ावा देता है।"[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

रसल को राजदर्शन का प्रणेता न मानकर एक ऐसा शान्तिप्रिय व्यक्ति कहा जाता है जो अनेक समस्याओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ एवं अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत करता था। उसके लिए कहा गया है कि उसने अपने किसी-मौलिक विचार द्वारा राजनीति-शास्त्र को कोई विशेष योगदान नहीं दिया। उसे किसी एक विचारधारा—समाजवाद साम्यवाद, श्रेणी समाजवाद, श्रेणी संघवाद, अराजकतावाद से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उसके हृदय में एक नूतन समाज की स्थापना का ध्येय था जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो तथा जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्ति के विकास करने का अवसर प्राप्त हो सके, लेकिन इसके लिए उसने कोई ऐसी बात नहीं कही जो नई हो और न इसे प्राप्त करने के लिए कोई योजना ही प्रस्तुत की।

रसल की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह व्यक्तिवाद, अराजकतावाद एवं समाजवाद के सिद्धान्तों के बीच झूलता रहा। उसे सत्ता से नफरत थी और इस आधार पर उसने राज्य की निन्दा की। उसे राज्य समाजवाद से भी स्वतः घृणा हो गई। वह अनिवार्यतः व्यक्तिवादी और अराजकतावादी था, लेकिन उसका समाजवादी बनने का भी प्रयास रहा और इस प्रकार इस उलझन में वह पूरी तौर पर किसी भी एक विचार को नहीं अपना सका।

उसने विधि की अपेक्षा जनमत को अधिक महत्त्व दिया। यह सच है कि जनमत को जनतन्त्र में महत्त्व मिलना चाहिए, लेकिन केवल नैतिक दबाव पर्याप्त नहीं है। जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, वहाँ भी रसल अपने ढंग का अलग ही व्यक्ति है। उसने सामाजिक नैतिकता को ही चुनौती दे डाली। उसने विवाह जैसे मामलों में प्रचलित सामाजिक नैतिकता को ठुकरा कर स्वच्छन्दता पर जोर दिया। उसने बताया कि जीवन आनन्द के लिए है और इसलिए स्थायी विवाह नहीं होने चाहिए। इन्हीं विचारों का प्रतिपादन करने के कारण उसे अतिवादी, अनैतिक, समाज विरोधी आदि नामों से पुकारा गया।

कुछ भी हो, रसल का विश्व के दार्शनिकों, गणितज्ञों एवं शांति के प्रहरियों में स्थान रहेगा। उसने अराजकतावाद एवं साम्यवाद दोनों ही की असंगतियों पर

1. *Russell* : Power—A New Social Analysis, p. 310.

प्रहार किया । उसने पूँजीवादी व्यवस्था पर भ्राक्रमण किया, लेकिन साथ ही इसके विकल्प के रूप में समाजवादी व्यवस्था को एकदम स्वीकार नही कर लिया । उसके दोषों की भ्रोर भी उसने घ्यान भ्राकर्षित किया। उसने मनुष्य को व्यवस्था का दास बनने से रोकने का प्रयास किया । युद्ध की भर्त्सना जितने प्रभावशाली ढंग से उसने की उतनी बहुत कम लोग कर पाए हैं । विश्व-शांति के प्रयासों के इतिहास में रसल को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । 97 वर्ष की भ्रायु में भी मानवता को भावी भ्राणविक संहार से मुक्त करने की दिशा में उसने जो कार्य किया वह स्मरणीय रहेगा। भ्रन्त में, यही कहा जा सकता है कि रसल जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व, जिन्होंने जीवन के इतने विविध क्षेत्रों को प्रभावित किया हो, दुर्लभ होते हैं ।

7 विकासवादी समाजवाद : समष्टिवाद, फेबियनवाद, संशोधनवाद एवं बर्न्सटीन

(Evolutionary Socialism : Collectivism, Fabianism, Revisionism and Bernstein)

जैसा कि हम प्रथम अध्याय में ही देख चुके हैं कि समाजवाद के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते है जो देश, काल एवं विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित हैं। लेडलर ने अपनी पुस्तक "A History of Socialist Thought" की प्रस्तावना में बताया है कि एक सामान्य विद्यार्थी से पूछे जानेपर समाजवाद के कम से कम 57 प्रकार अवश्य बताएगा। वह ओवन और सेंट साइमन के काल्पनिक समाजवाद, स्मोलर (Schmoller) और बिस्मार्क के राज्य समाजवाद, किंग्स्ले और माडरिस के ईसाई समाजवाद, बर्नार्ड शा और सिडनी वेब के फेबियनवाद, बर्न्सटीन के संशोधनवाद, कोल और हाब्सन के श्रेणी समाजवाद, लेनिन और ट्राट्स्की के बोलशेविज्म,स्टालिन और माओ के साम्यवाद का उल्लेख करेगा। उसने रेमजे मेकडानल्ड, एच० जी० वैल्स, कार्ल काट्स्की (Kautsky) एवं विलियम मारिस द्वारा लिखे गए कुछ पृष्ठ भी पढ़े होंगे। वह यह अवश्य जानता है कि समाजवादी चिन्तन के केन्द्र में मार्क्स और ऐंजिल्स की रचनाएँ हैं, लेकिन वह यह बताने में असमर्थ रहेगा कि इतनी विचारधाराओं की उत्पत्ति क्यों हुई, इनमे कौनसी विचारधाराएँ छद्मवेशीय हैं तथा इन विचारधाराओं में क्या अन्तर है ?

यह सच है कि समाजवाद की विभिन्न धाराएँ निकल पडी हैं, लेकिन फिर भी उनमें कुछ समान तत्त्व ऐसे हैं जिनके आधार पर उन्हें समाजवाद के मूल वृक्ष से जोड़ा जा सकता है। उन्हें समाजवाद की विभिन्न टहनियाँ कहा जा सकता है और इस दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है। हम अब तक मार्क्स के पूर्ववर्ती स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों के बारे में पढ़ चुके हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के जनक के रूप में मार्क्स और ऐंजिल्स का भी अध्ययन किया जा चुका है। फिर लेनिन, स्टालिन और माओ का भी अध्ययन किया जा चुका है जिन्होंने रूस और चीन में मार्क्सवाद को कार्यान्वित किया। गैर-मार्क्सवादी समाजवाद के प्रणेता

के रूप में लैसले का भी अध्ययन किया जा चुका है। अब समाजवाद की ही कतिपय शाखाएँ अध्ययनार्थ प्रस्तुत की जारही हैं जिनमें विकासवादी समाजवाद, श्रम-सघवाद, श्रेणी समाजवाद, जनतान्त्रिक समाजवाद प्रमुख है। ये मूलतः समाजवादी विचार-धाराएँ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारधाराएँ भी हैं जिन्हें यद्यपि समाजवादी तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन जिनके बारे मे जानकारी करना एव समाजवाद से उनकी पृथकता एवं समीपता बताना आवश्यक है। इस दृष्टि से अराजकतावाद, फासीवाद एवं गांधीवाद का उल्लेख करना आवश्यक होगा। इस अध्याय में विकासवादी समाजवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा। विकासवादी समाजवाद के अन्तर्गत समाजवाद, फेबियनवाद एव सशोधनवाद का अध्ययन किया जाएगा।

मार्क्स ने अपने जीवन का एक बहुत बडा भाग इंग्लैंड मे ही बिताया। उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना भी, जिन्होंने मार्क्स को अमरत्व प्रदान किया, लन्दन मे ही हुई। इग्लैण्ड पर मार्क्स का प्रभाव पडा, लेकिन वह तत्काल नहीं पडा। उसके सिद्धान्त पहले रूस में प्रचारित, प्रसारित एवं कार्यान्वित हुए और फिर जैसा कि अलेक्जेन्डर ग्रे ने अपनी पुस्तक 'The Socialist Tradition' मे लिखा कि मार्क्स लेनिन के कन्धों पर बैठकर इग्लैण्ड वापिस आया।[1] लेकिन मार्क्स फिर भी अपने मौलिक रूप मे स्वीकृत नही हुआ, इग्लैण्ड ने उसे अपने ढग से स्वीकार किया। उसने मार्क्सवाद को संशोधित रूप से अपनाया। उसने जनतान्त्रिक समाजवाद को अपनाया और क्रान्ति तथा वर्ग-संघर्ष को त्याग दिया। उसने मार्क्स के इस मन्तव्य कि "केवल प्रजातन्त्र से वर्गीय शत्रुता का नाश नही हो सकता और न उससे वर्तमान समाज के अन्तिम विनाश को ही बताया जा सकता है को भी अस्वीकृत कर दिया।"[2]

समष्टिवाद
(Collectivism)

समष्टिवाद, राजकीय समाजवाद दोनो प्राय: पर्यायवाची शब्द बन गए हैं तथा इनका एक ही अर्थ मे प्रयोग भी किया जाता है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे दी गई परिभाषा के अनुसार समष्टिवाद या राज्य समाजवाद "यह वह नीति या सिद्धान्त है जो जनतान्त्रिक राज्य द्वारा सम्पत्ति के अब की अपेक्षा अधिक अच्छे वितरण और उत्पादन मे विश्वास करता है।" समाजशास्त्र के विश्वकोष के अनुसार "समष्टिवाद व्यक्तिवाद से विरोधी सिद्धान्तो का सामान्य नाम है।" सामाजिक प्रगति के आर्थिक सुधारो का कार्यक्रम, सार्वजनिक कल्याण का सिद्धान्त और एक आदर्श व्यवस्था के लिए समष्टिवाद एक सुझाव है। प्राविधिक तौर पर इस शब्द का प्रयोग समाजवाद, साम्यवाद, श्रमसघवाद और बोलशेविकवाद जैसे अधिकाधिक नियन्त्रण की व्यापक योजना के लिए सामान्य लेबिल है। समष्टिवादी मार्क्स से प्रभावित अवश्य

1. *Alexander Gray* : The Socialist Tradion, p 384.
2. *Karl Kautsky* : Road to Power, p. 101.

है, लेकिन वे कट्टर मार्क्स पंथी नहीं हैं। समष्टिवाद पूँजीवाद को बुरा और अन्यायपूर्ण समझता है तथा उसका अन्त भी करना चाहता है पर वह समझता है कि यह कार्य तथा समाजवाद की स्थापना शान्तिमय और वैध उपायों और विकास द्वारा ही संभव है। यह हिंसा, क्रान्ति व वर्गयुद्ध को अनिवार्य नहीं समझता। समष्टिवाद का कथन है कि प्रजातन्त्र के माध्यम से भी समाजवाद लाया जा सकता है क्योंकि प्रजातन्त्र आज विश्व के अधिकांश देशो मे प्रचलित है। समष्टिवाद राज्य के माध्यम द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन की योजना बनाता है और राज्य को एक आवश्यक संस्था के रूप मे सदा के लिए स्वीकार भी करता है।

समष्टिवादी चिन्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी के आरम्भ के मध्य में अधिकांश व्यावसायिक अर्थशास्त्री व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को प्राय: स्वीकार करते थे। कोकर के अनुसार "उनका कथन था कि (1) पूँजी स्वाभाविक रूप से ऐसे उद्योगों की ओर प्रवृत्त होती है जिसमें उसके लगाने से अधिक वृद्धि हो, (2) अनियमित प्रतियोगिता के कारण कीमतें इतनी कम हो जाती हैं कि वे करीब-करीब लागत के बराबर स्तर पर आ जाती हैं, (3) आजीविका के लिए कम से कम जितने परिश्रम की आवश्यकता है निष्कंटक रूप से नहीं बढ़ाई जा सकती, (4) जब प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की अभिव्यक्ति बिना किसी राजकीय सहायता या प्रतिबन्ध के स्वयं करता है तब वह अपने और सार्वजनिक हितों की वृद्धि सर्वोत्तम ढंग से करता है।"[1] लेकिन कालान्तर में अधिकाधिक खंडन होता आया है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्तों की आलोचना 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक अर्थशास्त्रियो के जर्मन लेखकों की कृतियों में हुआ। इन लेखको में एडोल्फ वैग्नर (Adolf Wagner), गुस्तव स्मालर (Gustev Schmoller), लूजो ब्रेन्टानो (Lugo Brentano), एडोल्फ हैल्ड (Adolf Held), लारेंज वान स्टीन (Lorez Vone Stein), तथा एलबर्ट शीफल (Albert Schaeffle) को मुख्य रूप से गिनाया जा सकता है। प्रमुख राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने सामाजिक राजनीतिक संघ की स्थापना की। इन लोगों को उपहासात्मक ढंग से व्यावसायिक समाजवादी या शैक्षणिक समाजवादी भी कहा गया।

19वी सदी के इन जर्मन अर्थशास्त्रियों ने परम्परागत राजनीतिक अर्थशास्त्रियो की कटु आलोचना की और बताया कि अनुभव से दूर जाकर विचार करने की उनकी प्रवृत्ति है। इन्होने उनकी इस मान्यता को चुनौती दी कि प्राकृतिक नियमों को स्वतत्र रूप से काम करने देने तथा वैयक्तिक हित को अनियंत्रित छोड देने से सामाजिक लाभों का वितरण, व्यक्तियों की योग्यता एवं प्रयत्न कर, अनुरूप होता है। इन राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने बताया कि अर्थशास्त्र को अपने परिणाम इतिहास

1. फ्रान्सिस डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनैतिक चिन्तन, पृष्ठ 82.

तथा व्यक्तिगत पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यो के आधार पर निकालने चाहिए । इन राजकीय समाजवादियो ने इस चीज पर जोर दिया कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पादन से सम्बन्धित नही है बल्कि समस्या के मूल मे वितरण व्यवस्था है जिसके समाधान के लिए शासन का व्यापक विस्तार आवश्यक है । कोकर के अनुसार "उनके सिद्धान्त प्रणाली मे यथार्थवादी होते हुए भी लक्ष्य में स्पष्टत. नैतिक थे। राजनीतिक अर्थशास्त्र के, जैसा वे उसे समझते थे, व्यावहारिक तथा नैतिक लक्ष्य थे, *अर्थात् यह बतलाना कि सम्पत्ति-वितरण न्याय के सिद्धान्तो के अनुकूल कैसे हो सकता* है और वैयक्तिक स्वार्थ को समाज के हित के अधीन किस प्रकार किया जा सकता है । *उनका यह विश्वास था कि उनके आर्थिक नीतिशास्त्र का यथार्थवादी आधार* था । वे यह मानते थे कि आधुनिक राज्य सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक एकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप मे विकसित हुआ है जो राष्ट्रीय समाज के विभिन्न वर्गों एवं व्यक्तियो मे विद्यमान भाषा, शिष्टाचार एव संस्थाओं की एकता से स्पष्ट है और जो उनके आर्थिक भेदो को पीछे छोड़ देती है । अतः प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के स्वतन्त्र और स्वाभाविक कार्यों के विपरीत मानना या मार्क्सवादियो का अनुसरण करना जिन्होने प्रजातन्त्रीय राज्य को सम्पत्ति के स्वामियो का प्रतिनिधित्व माना, मिथ्या एव भ्रमजनक है ।"[1]

समष्टिवाद के उद्देश्य

समष्टिवाद एक शोषणविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना पर बल देता है । सार रूप मे इसके लक्ष्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है । ये बिन्दु निम्नलिखित हैं—

(1) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्ति,
(2) प्रमुख उद्योगो एव सामाजिक सेवाओ पर सामाजिक नियन्त्रण,
(3) उत्पादन का सामान्य आवश्यकताओ के आधार पर निर्धारण,
(4) समाज में व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सार्वजनिक लाभ की भावना को बढ़ावा,
(5) समाज मे प्रतियोगिता के स्थान पर सामूहिक सहयोग की भावना पर बल,[2]
(6) राजनीतिक और आर्थिक पहलुओ की समान रूप से पुष्टि,
(7) निर्बल वर्ग और विशेष तौर पर श्रमिकों के न्यूनतम दरों का निर्धारण,

1. *फ्रांसिस डब्लू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 83.*
2. समष्टिवादियो की मान्यता है कि प्रतियोगिता से वर्ग संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता का अर्थ यह होगा कि निर्धन और निर्बल व्यक्ति धनी और शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा पीस दिए जाएँगे क्योंकि जब तक आर्थिक समानता नही होगी प्रतियोगिता सदा धनी व्यक्ति के हित मे ही जाती है ।

(8) उत्पादन के मुख्य साधनों पर केन्द्रीय प्रजातांत्रिक सत्ता का नियंत्रण,[1]
(9) उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शांतिमय रक्तहीन और क्रमिक उपायों का अवलंबन,
(10) वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सामंजस्य पर जोर,
(11) प्रजातन्त्र एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अटूट विश्वास।

समष्टिवादी अपने उन उद्देश्यों के औचित्य को निम्नलिखित कारणों से सिद्ध करते हैं—(1) उनका जबरदस्त प्रहार पूँजीवाद एवं उस पर आधारित समाज व्यवस्था पर है। उनका कथन है कि पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर आर्थिक विषमताओं को जन्म देती है। इसके कारण एक ओर केवल वर्ग संघर्ष की ज्वाला प्रज्वलित होती है, मनुष्यो मे मनोमालिन्य, घृणा, ईर्ष्या एवं विषाद को जन्म मिलता है तथा दूसरी ओर दुख, दरिद्रता, भूख, शोषण बढते जाते हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि समाज मे संतुलन समाप्त हो जाता है और मनुष्य कष्टमय जीवन बिताते है।

समष्टिवादी प्रजातंत्र को पूर्ण देखना चाहते हैं और इसलिए जैसा कि प्रो० जी० डी० एच० कोल ने कहा है, इनकी मान्यता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ ही नही एक धोखा भी है।

समष्टिवाद क्यों ?

यद्यपि समष्टिवाद की परम्परा 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलती है, लेकिन यह मूलतः 20वी शताब्दी की ही विचारधारा है। आधुनिक युग मे समष्टिवाद के उदय के कतिपय प्रमुख कारण हैं। समष्टिवाद के जन्म के कारणो पर प्रकाश डालते हुए सी० ई० एम० जोड ने बताया है कि ये प्रमुखतः दो हैं—प्रथम, मार्क्सवाद और दूसरा व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया। इन दोनो के कारणो के मूल मे पूँजीवादी व्यवस्था छिपी हुई है जिसके विरुद्ध सारा समाजवादी आन्दोलन छि[illegible] गया। समष्टिवाद के जन्म के कारणों को सक्षेप मे समझाते हुए यह कहा जा सकत[illegible] है कि व्यक्तिवाद से उत्पन्न दोष नियन्त्रण से बाहर होने लगे थे। व्यक्तिवाद [illegible] पूँजीवाद को जन्म दिया जिससे राष्ट्रीय क्षेत्र मे शोषण और इसके फलस्वरूप सम[illegible] मे गरीब और अमीर दो वर्गों का निर्माण एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे साम्राज्यवाद [illegible] उपनिवेशवाद का बोलबाला हुआ। कहने का अर्थ यह है कि राष्ट्रीय और अन्तर्रा[illegible] दोनो ही क्षेत्र मे दो वर्ग हुए जिन्होने मानव-जीवन को कष्ट में डाल दिया। समस्याओं से जूझने के लिए मार्क्स और उसके कट्टर अनुयायियो ने जो र[illegible]

1. समष्टिवादी न तो साम्यवादियो की भाँति श्रमिकों के अधिनायकवाद मे विश्वास [illegible] और न ही वे व्यक्तिवादियो की तरह पूँजीपतियो की सत्ता मे ही आस्था रखते हैं। उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण मे, विश्वास करते हैं जिन्हे वे प्रजातान्त्रिक निय[illegible] रखने के पक्ष मे हैं।

बताया वह भी अनेक लोगों को उपयुक्त नहीं नजर आया। उन्हें मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व रुचिकर नहीं लगा। उन्हें इसका अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप भी ठीक नही लगा क्योंकि इससे एक वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना का उन्हें भय लगा और इसलिए मार्क्सवादियों का राज्य के मुर्झा जाने का सिद्धान्त भी उन्हे अप्रिय लगा। इसलिए उन्होने एक ऐसे विचार को प्रस्तावित किया जो मार्क्स द्वारा पूँजीवाद की, की गई बुराइयों से तो सहमत हो, लेकिन साथ ही मार्क्स की पद्धति का अनुकरण न हो। अतः विकल्प के रूप मे समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवाद का सिद्धान्त सामने आया।

समष्टिवाद के मूल सिद्धान्त

(1) सामाजिक क्रियाकलापो के केन्द्र में राज्य—समष्टिवादी राज्य को एक आवश्यक संस्था मानते हैं। उनके लिए समाज परिवर्तन का माध्यम राज्य है। वे केवल राज्य के वर्तमान पूँजीवादी स्वरूप को बदलने के पक्ष मे हैं। वे मार्क्सवादियों की भाँति राज्य को एक वर्ग की सस्था नही मानते बल्कि उसे वे सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्था मानते हैं। वे व्यक्तिवादियो की भाँति राज्य को न आवश्यक बुराई मानते हैं और अराजकतावादियो की भाँति इसे न एक अनावश्यक बला ही। वे तो राज्य को एक नकारात्मक अच्छाई मानते हैं। एक प्रकार से उनका राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण अासर के इस वाक्य से ज्यादा अच्छी तरह से समझाया जा सकता है कि "राज्य का उदय जीवन की आवश्यकताओ के लिए हुआ था और उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।" चूँकि अच्छे जीवन की निरन्तरता हेतु राज्य का निरन्तर बना रहना आवश्यक है, अतः मार्क्सवादी राज्य के स्थायित्व मे विश्वास रखते हैं और मार्क्सवादियों की भाँति कालान्तर में इसके लोप होने मे विश्वास नहीं करते।

राज्य के द्वारा समाज मे किए जाने वाले कार्यों तथा उसके प्रति दृष्टिकोण को कोकर ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है कि इनके अनुसार प्रजातन्त्रीय राज्य अपने सर्वोत्कृष्ट रूप मे समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और वह अन्य सामाजिक सस्थाओ की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिक समाज के पेचीदा हितो के साथ अधिक सहानुभूतिपूर्वक तथा प्रभावकारी ढंग से व्यवहार करने में समर्थ है। प्रजातन्त्रीय राज्य का स्वाभाविक कार्य समूचे राष्ट्र के भौतिक हितों की अभिवृद्धि एवं परोपकारितापूर्ण एवं न्यायपूर्ण व्यवहार के राष्ट्रीय आदर्शों की रक्षा करके व्यक्तिगत कार्यों को सीमित करना तथा उनकी कमी को पूर्ति करना है। वह दुर्बलो की सहायता तथा सबलों के अन्यायो का दमन करता है और ऐसी सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान करता है जो अकेले व्यक्तियो तथा छोटी सस्थाओ के द्वारा सम्भव नही है। वर्तमान राज्य सभ्य देशो मे इस प्रकार के कार्य कभी से करने लगे हैं। वे आश्रितों की व्यवस्था करते हैं, स्त्रियों व बालकों के श्रम पर मर्यादा लगाते हैं, मादक पदार्थ निषेध की व्यवस्था करते हैं, जनस्वास्थ्य की रक्षा करते हैं, शिक्षा की व्यवस्था व डाक का प्रबन्ध करते हैं और

देश की स्वाभाविक सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत आर्थिक जीवन मे जो प्रवृत्तियां मिलती हैं, जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगो का विकास और उसके परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण करते हैं। उनके कारण भविष्य मे सार्वजनिक आर्थिक कार्यों का विस्तार स्वाभाविक होगा। राष्ट्रीय सरकारें स्वयं उन सेवाओ के लिए प्रवन्ध करेंगी जो परम आवश्यक और स्थाई हैं और जिनके लिए एकीभूत शासन प्रबन्ध की आवश्यकता है, जैसे सड़कें, रेल यातायात, बैंक, सामाजिक बीमा, म्युनिसिपैलिटियां, जल, प्रकाश और अन्य स्थानीय उपयोगी वस्तुओं की व्यवस्था करेंगे, अन्य सरकारी विभाग, कारखानो के मालिकों तथा मजदूरो के पारस्परिक विवादों के निर्णय के लिए हस्तक्षेप करेंगे। सम्पत्ति के समुचित वितरण हेतु अधिकाधिक कर लगाने का प्रबन्ध किया जाएगा। सैद्धान्तिक समाजवादियों ने लगान, भाड़े, ब्याज अथवा मुनाफे का निषेध नही किया और न उन्होंने वेतन प्रणाली का अंत कर देने के लिए ही कहा। उनका यह विश्वास था कि समुचित अवसरों पर राज्य को मुनाफे पर मर्यादा लगा देनी चाहिए जिससे आय और प्रयास के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित हो सके और राज्य को वेतन की कम से कम दर नियत कर देनी चाहिए जिससे मजदूरो के जीवन की अवस्थाओं में सुधार हो। उनके विचार मे यह सम्भव नही था कि व्यक्ति तथा राज्यों के कार्यों के बीच में कोई स्पष्ट रेखा खींची जा सके। उन्होने इस बात को जानने के लिए कि किस-किस क्षेत्र मे राजकीय हस्तक्षेप व्यक्ति के स्वयं कार्य करने की शक्ति के लिए तथा सामाजिक कल्याण के लिए हितकारी अथवा हानिकारक सिद्ध होगा, अनुभव को ही पथप्रदर्शक माना।

(2) कल्याणकारी राज्य मे विश्वास—प्रो० कोकर के उपर्युक्त कथन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि समष्टिवादियों का दृष्टिकोण व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद दोनो से ही भिन्न है तथा यह राज्य को कल्याणकारी संस्था मानते हैं जिनका लक्ष्य सार्वजनिक हित है। अतः राज्य को केवल निषेधात्मक कार्यों के स्थान पर सकारात्मक व सामाजिक सुरक्षा के कार्य करने चाहिएँ। स्पष्ट है कि समष्टिवाद, राज्य को लोक कल्याणकारी संस्था मानता है।

(3) पूँजीवाद का विरोध–समष्टिवाद पूँजीवाद के विरुद्ध है और पूँजीवादी व्यवस्था पर इसका आरोप है कि इसने समाज को असंतुलित, अव्यवस्थित एवं विषम बना दिया है। सार यह है कि जहाँ तक पूँजीवाद के विरोध का प्रश्न है, समष्टिवादियों और साम्यवादियों मे कोई अन्तर नहीं।

(4) उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण–समष्टिवादी मानते हैं कि सामाजिक समानता और आर्थिक न्याय तभी सम्भव है जबकि सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाए। ये चाहते हैं कि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य के स्वामित्व से लाभ राज्य कोष मे होगा जिससे मजदूरों को उचित वेतन मिलेगा तथा विकास की सुविधाएँ प्रशस्त होंगी। ये वितरण व्यवस्था पर भी राज्य का नियन्त्रण

चाहते हैं ताकि सारे समाज को उससे लाभ मिल सके। सार यह है कि उत्पादन और वितरण दोनों को ये व्यक्तियों के स्थान पर राज्य के अधीन देखना चाहते हैं।

(5) जनतन्त्र एवं शान्तिपूर्ण तरीकों में आस्था–समष्टिवादी जनतन्त्र, वैधानिकता एवं शांतिपूर्ण तरीकों में विश्वास करते हैं। ये यथार्थ में विकासवादी ही हैं और क्रांति के स्थान पर ये विकास के रास्ते को स्वीकार करते हैं। इनकी मान्यता है कि वयस्क मताधिकार से लोगों में स्वत. चेतना आती है और बहुमत प्राप्त कर कानूनों में परिवर्तन लाया जा सकता है। यद्यपि ये आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तन चाहते हैं, लेकिन इसके लिए संसद सबसे उपयुक्त स्थान है। ये पूँजीपतियों को मुआवजा देने के पक्ष में है और वैचारिक दृष्टि से इन्हें उदारवादी कहा जा सकता है क्योंकि ये विचारक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सगठन निर्माण की स्वतन्त्रता, वयस्क मताधिकार एवम् जनतान्त्रिक सरकार के पक्ष मे हैं।

(6) आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों की अभिवृद्धि—चूँकि समष्टिवादी वैधानिक तरीके से पूँजीवादी व्यवस्था को परिवर्तित कर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं, अतः ये राज्य को इसके लिए सबसे बड़ा साधन और माध्यम स्वीकार करते हैं। ये मानते हैं कि देश के सारे साधनों को राज्य के अधीन कर उनका उपयोग सुनियोजित ढंग से सामूहिक हित में किया जाए। विशेष तौर पर समाज का दुर्बल वर्ग विशेष संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। दुर्बल वर्ग के लोगों को राज्य की ओर से ज्यादा से ज्यादा सुविधाएँ प्राप्त हों, काम करने के घंटे कम हों, वेतन ज्यादा हो, सुविधाएँ अधिक हों एव यथासम्भव इन्हें कर भार से मुक्त रखा जाए या कम से कम कर इन पर लगाए जाएँ। इसी प्रकार दूसरी ओर अधिक सम्पन्न व्यक्तियों पर उनकी सम्पन्नता के अनुपात से अधिक कर भार रक्खा जाए। समष्टिवादी अनुपार्जित आय (Unearned income) पर अधिकाधिक कर लगाने के पक्ष मे हैं। सार यह है कि यद्यपि समष्टिवादी न्यूनतम और अधिकतम आय के बीच अंतर स्पष्ट नही कर पाए हैं, लेकिन उनका उद्देश्य दोनों प्रकार की आयो में कम से कम सम्भव अन्तर रखने का अवश्य है ताकि समाज मे अधिकाधिक संतुलन कायम किया जा सके। ऐसा करने के पीछे उनके मस्तिष्क में मूल विचार यह है कि समाज मे जितनी अधिक आर्थिक विषमता होगी उतना ही अधिक सामाजिक और राजनीतिक असन्तुलन भी होगा।

(7) व्यक्ति और समाज के मध्य आंगिक सम्बन्धों की स्थापना—समष्टिवादी यूनानी विचारधारा से प्रभावित हैं जिसके अनुसार व्यक्ति और राज्य के बीच मे किसी प्रकार का कोई विरोध नही है अर्थात् व्यक्ति का सर्वांगीण विकास राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है और दोनो का उद्देश्य भी एक ही है। समष्टिवादी व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो को उसी प्रकार मानते है जिस प्रकार हमारे अंगो का हमारे शरीर से सम्बन्ध होता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

समष्टिवाद की दो दृष्टियों से आलोचना प्रस्तुत की जा सकती है—एक, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण एवम् दूसरा, साम्यवादी दृष्टिकोण है। व्यक्तिवादी विचारकों का कथन है कि समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। हेयक के शब्दों में "पूर्ण नियोजन ही पूर्ण दासता का प्रतीक है" बेलक के अनुसार, "व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा और समष्टिवाद एक गुलाम राज्य की स्थापना करेगा। समष्टिवादी चिन्तन को लागू करने से यह परिणाम निकलेगा कि आर्थिक व राजनीतिक सत्ता राज्य मे केन्द्रित हो जावेगी जिसके परिणामस्वरूप नौकरशाही को बढ़ावा मिलेगा और सत्तारूढ़ दल का अधिनायकत्व स्थापित हो जावेगा।" व्यक्तिवादी विचारक यह भी कहते हैं कि सामाजिक क्रियाकलाप राज्य के अधीन होने से व्यक्ति में कार्य करने की लगन एवं शक्ति का ह्रास होगा। आर्थिक क्षेत्र में समष्टिवादियों पर आरोप लगाया जाता है कि इनकी योजना से उत्पादन घट जाएगा और कोई भी ठीक ढंग से कार्य नहीं करेगा। व्यक्तिवादी यह भी आरोप लगाते हैं कि समष्टिवाद एक अटपटा और अस्पष्ट सिद्धान्त है जिसका उपयोग चन्द लोग अपने हित में करते हैं।

साम्यवादी दृष्टिकोण से भी समष्टिवाद पर आरोप लगाये जाते हैं। साम्यवादी मानते हैं कि समष्टिवादी आग से खेल रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि ये वर्ग संघर्ष मे विश्वास नहीं रखते और राज्य को सार्वजनिक हित की संस्था मानते हैं। साम्यवादी कहते हैं कि संसदों और विधान सभाओं में आस्था रखना धोखा है क्योंकि ये पूँजीपतियों की संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ पूँजीवाद का कभी खात्मा नहीं कर सकतीं क्योंकि ये उनके द्वारा पोषित हैं। राज्य जो कि समाज के आर्थिक रूप से प्रबल वर्ग की कठपुतली है, वह भला कैसे सार्वजनिक हित मे कार्य कर सकता है। इनका कहना है कि यथार्थ मे समष्टिवाद पूँजीवाद का ही दूसरा रूप होगा और यह और भी अधिक खतरनाक है क्योंकि यह गीदड़ का चोला पहना हुआ शेर है।

यद्यपि समष्टिवाद की व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनों ही दृष्टियों से आलोचना की जाती है, लेकिन यह सच है कि समष्टिवाद का दर्शन अनेक देशों में स्वीकृत हुआ है। यह व्यक्तिवाद और साम्यवाद के बीच का मध्यममार्ग है जो ऐसे सब लोगों के लिए रुचिकर है जो एक ओर साम्यवादियों के वर्ग संघर्ष और हिंसा सिद्धान्तों से घबराते हैं तथा दूसरी ओर व्यक्तिवाद के युग विरोधी विचार से असहमत हैं। उनके लिए समष्टिवाद एक समन्वयकारी दर्शन है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामाजिक एकता से जोड़ देता है। बर्नस्टीन ने इसीलिए कहा है कि यह साम्यवाद की कब्र के लिए उच्च सड़क है।

फैबियनवाद
(Fabianism)

19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड मे कई प्रकार के समाजवादी आन्दोलन हुए।

अनेक घटनाओं तथा परिस्थितियों ने इन आन्दोलनों को जन्म दिया जिनमे 1867 के कानून द्वारा औद्योगिक मजदूरो को मताधिकार की प्राप्ति, सन् 1870 के बाद के दशक की राजस्व सम्बन्धी मन्दी, भूमि प्रश्न के सम्बन्ध में आन्दोलन, मार्क्स के ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादों में प्रकाशन तथा अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों का खण्डन आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। समाजवादी विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु इंग्लैण्ड मे अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ, जिनमें समाजवादी प्रजातान्त्रिक संघ (Social Democratic Federation), समाजवादी परिषद् (Socialist League), स्वतन्त्र मजदूर दल (Independent Labour Party) तथा फेबियन सोसाइटी (Fabian Society) मुख्य हैं।

फेबियनिज्म एक विशुद्ध अंग्रेजी विचारधारा है जिसकी प्रवर्तक जनवरी सन् 1884 में स्थापित एक फेबियन सोसाइटी थी। यह सोसाइटी कुछ ऐसे प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों द्वारा स्थापित की गई थी जो अपने क्षेत्र में ख्याति प्राप्त थे। इन पर हेनरी जार्ज के सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्त एवं जान स्टुवार्ड मिल के व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत विकसित होने वाले समष्टिवाद का प्रभाव पड़ा था। जार्ज बर्नार्ड शा और सिडनी वैब जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति इसके प्रारम्भिक सदस्यो मे से थे। अन्य सदस्यों मे प्रो० अहमवाला, एच. जी वैल्स, श्रीमती एनीबीसेन्ट, कार्ल जेलास्की, विलियम क्लार्क, जे. आर. मेकडानल्ड थे। इस सोसाइटी ने समस्त शिक्षित मध्यवर्ग की जनता मे समाजवाद को प्रसारित करना अपना लक्ष्य बनाया। एडवर्ड आर. पीस (Edward R. Pease) की "History of the Fabian Society", जार्ज बार्नार्ड की 'The Fabian Society' एवं प्रो जी. डी. एच कोल की Fabian Socialism में फेबियनवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

एडवर्ड आर. पीस ने अपनी पुस्तक "History of the Fabian Society" मे उस सामान्य समझौते का उल्लेख किया है जिसमे प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी प्रतिज्ञाबद्ध थे। उसके अनुसार "इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगिता की प्रणाली में सुख-सुविधाएँ कम व्यक्तियो को मिलती हैं और अधिक जनता को कष्ट मिलता है तथा इसलिए समाज का पुनः सगठन इस प्रकार होना चाहिए कि समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके। शा द्वारा तैयार किए गए घोषणा-पत्र से जो सितम्बर, सन् 1884 मे स्वीकार किया गया, सोसायटी ने कुछ-कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों मे समाजवाद को स्वीकार किया और कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और राज्य को प्रत्येक उत्पादन विभाग मे अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिए।"[1] सोसायटी के सदस्यों ने काफी विचार-विमर्श के उपरान्त यह निश्चय किया कि वे राजनैतिक विचार सभाओं मे भाषण देंगे एवं संसदीय जनतन्त्र के कार्यक्रमो में अपने उद्देश्य को प्राप्त करेंगे। स्वयं जार्ज

1. *Edward R. Pease* : History of the Fabian Society, p. 32.

बर्नार्ड शा के शब्दों मे फैबियन लोग क्रान्तिवादी शब्दाडम्बर के विलास का त्याग कर सामान्य पार्लियामेन्टरी ढंग पर व्यावहारिक सुधार के लिए कठिन श्रम करने के लिए राजी हो गए।[1] सन् 1887 में फैबियनवादियो ने अपने समाज का उद्देश्य इन शब्दों मे प्रकट किया, फैबियन समाज समाजवादियों का समाज है जिसका उद्देश्य समाज को पुनर्गठित करना है। यह नया सगठन भूमि तथा उद्योग धन्धों को व्यक्तिगत तथा वर्ग के स्वामित्व से निकाल कर समाज को उसका स्वामी बना कर किया जाएगा जिससे सामान्य लाभ के लिए कार्य करे। केवल इस रीति से ही प्राकृतिक तथा मनुष्य के द्वारा प्राप्त किए हुए लाभों का समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जा सकेगा। सिडनी वैब ने इतिहास को लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति बताते हुए यह निष्कष निकाला कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन जनतन्त्रीय पद्धति द्वारा ही सम्भव है क्योकि वास्तविक परिवर्तन हृदय से होता है और जनतन्त्रीय पद्धति द्वारा ही हृदय परिवर्तन सम्भव है। वैब ने बताया कि यह किया जाने वाला परिवर्तन जनसाधारण की दृष्टि मे नैतिक होना चाहिए तथा यह परिवर्तन सवैधानिक और शान्तिपूर्ण तरीको से ही किया जाना चाहिए।

सार रूप मे फैबियन सोसाइटी के कार्यक्रम और उद्देश्य निम्नलिखित हैं जो साधारण परिवर्तन के साथ आज भी मान्य हैं—

(1) सोसायटी का उद्देश्य भूमि, सम्पत्ति और औद्योगिक पूंजो को व्यक्तिगत और वर्गीय स्वामित्व मे मुक्त कर तथा सार्वजनिक लाभ के लिए उन्हें समुदाय को प्रदानित करके समाज की पुनर्रचना करना।

(2) भूमि से व्यक्तिगत सम्पत्ति को तथा व्यक्ति द्वारा उपभोग किए जाने वाले उसके लगान, उसके जोतने के लिए दी जाने वाली स्वीकृति व लाभ पर दिए जाने वाले मूल्य को घटाना तथा ऐसे औद्योगिक पूंजी के प्रबन्ध को कि जिसका प्रबन्ध समाज द्वारा सुविधापूर्वक किया जा सकता है, समुदाय को हस्तांतरित कराना। "अगर ये कार्यक्रम बिना मुआवजे के और बेदखल किए गए व्यक्तियों य वर्गों को थोडी बहुत रियायत देने के बाद पूरे हो जाते हैं तो लगान और सूद श्रम के पुरस्कार मे जुड जाएँगे और मध्यम वर्ग जो कि दूसरों के श्रम के सहारे ही जीता है विलुप्त हो जाएगा, और आर्थिक शक्तियों के इस प्रकार सक्रिय हो जाने से सभी लोगों को विकास के लिए अवसरों की समानता प्राप्त होगी।"

फैबियनवाद की मुख्य विशेषताएँ

फैबियनवाद लोकतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास रखता है। फैबियनवादी विचारक लोकतन्त्र और समाजवाद को एक दूसरे का विरोधी नहीं बल्कि पूरक मानते हैं। फैबियनवाद न तो मार्क्स को ही पूर्ण रूप से सही मानता है जो सर्वहारा वर्ग के

1. *George Bernard Shaw, Sidney Webb, William Clark* : Fabian Essays in Socialism and Fabian Society Tracts, 1884–1924, Vols. 1–2.

अधिनायकवाद पर आधारित है और न यह लोकतन्त्र का यह अर्थ लगाता है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर सामाजिक विषमता को प्रोत्साहन मिलता है। यह हर प्रकार के विशेषाधिकारों एवं अनार्जित आय का विरोध करता हुआ सामाजिक न्याय की व्यवस्था करता है।

फेबियनवादी मार्क्स द्वारा पूंजीवाद की, की गई आलोचना से सहमत हैं। ये परिश्रमहीन आय की भर्त्सना करते हैं जो भूमि और उद्योग दोनों में ही केन्द्रित हैं। वे मानते हैं कि इस आय को मुट्ठीभर पूंजीपति भूमि और पूंजी पर स्वामित्व के कारण हथिया लेते हैं जिसके कारण समाज मे अनेक बुराइयां फैलती हैं। इसके परिणामस्वरूप कुछ लोग बहुत धनी हो जाते हैं जबकि समाज का एक बहुत बड़ा भाग भयकर गरीबी और मोहताजी से संघर्षरत रहता है। समाज में व्याप्त इस चरम अमीरी और गरीबी का वर्णन करते हुए बर्नार्ड शा ने अपनी भावविक शैली में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—न्यूयॉर्क की एक सौन्दर्य पिपासु महिला अपने मृत कुत्ते के लिए एक सुन्दर चांदी के कफन के लिए आदेश देती है जबकि समाज में दूसरी ओर एक जीवित नर कंकाल बर्फ से ढकी हुई गली में नंगे पांव व भूखा मारा-मारा फिर रहा है। प्रो० लास्की ने उद्योगों के नियन्त्रण हेतु फेबियन विचारों के पूर्णतः अनुरूप एक योजना बनाई जिसमें उसने उनके राष्ट्रीयकरण की बात कही। प्रो० लास्की ने बताया कि समाज की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिए। लास्की के अनुसार, ऐसे उद्योग जो व्यक्ति के जीवन को रुचिकर बनाते हैं लेकिन जिनके अभाव में समाज को कोई हानि नही होती उन्हें निजी स्वामित्व मे रखा जा सकता है, लेकिन उन पर भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है। सार यह है कि फेबियनवादी किसी न किसी रूप में उद्योगो पर सामाजिक नियन्त्रण अवश्य चाहते हैं।

फेबियनवादी उद्योगों का ही नहीं भूमि का भी राष्ट्रीयकरण चाहते हैं। बर्नार्ड शा ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि भूमि का सार्वजनिक स्वामित्व समाजवादो की प्रथम दशा है। उनका कथन है कि विश्व के अधिकांश भाग का अब भी औद्योगीकरण नहीं हुआ है और इससे उन देशों में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कोई मतलब ही नही है। भूमि के राष्ट्रीयकरण से ही वहाँ की समस्याओं का समाधान सम्भव है। उनका कहना है कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में भूमि पर दबाव बढ़ता जाएगा और इसलिए भूमि की प्रतियोगिता बढ़ेगी। यह प्रतियोगिता वर्ग-संघर्ष में परिवर्तित हो सकती है और इसलिए भूमि का राष्ट्रीयकरण ही इससे मुक्ति का एकमात्र हल है।

फेबियनों को जैसा कि प्रो० कोकर ने बताया कि "राज्य (पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के 19वीं सदी के प्रजातन्त्रीय राज्य) के द्वारा किए जाने वाले [illegible] के औचित्य तथा प्रभावकारिता में अटल विश्वास था। यह राज्य

प्रतिनिधि एवं संरक्षक, जनता का अभिभावक, व्यवसायी प्रबन्धकर्त्ता, सचिव, यहाँ तक कि उसका साहूकार भी है। इन हैसियतों में वर्तमान राज्य बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तनों के यदि निर्दोष नहीं तो कम से कम विश्वासपात्र अवश्य बनाए जा सकते हैं। मताधिकार का विस्तार करने, राज्य कर्मचारियों को विशेष रूप से सुदक्ष बनाने और शिक्षा के सुयोग्य समान कर देने के सम्बन्ध में परिवर्तन कर देने की आवश्यकता है। इन सुधारों के अतिरिक्त राजनीतिक मशीनरी में कोई मौलिक परिवर्तन आवश्यक नही है। यदि प्रजातन्त्र के नागरिक इन सत्ताओं का, जो उनके पास हैं, पर्याप्त रूप में उपयोग करें तो वे अपनी राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारों द्वारा शनै-शनैः भूमि तथा औद्योगिक पूँजी दोनों से प्राप्त होने वाले आर्थिक लगान के समस्त रूपों को समाज के हाथों में सौंप सकेंगे।"[1]

फेबियनो की एक समाजवादी योजना है जिसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) उत्पादन के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना,
(2) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत उपयोग की व्यवस्था,
(3) इस व्यवस्था का निर्माण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रख कर,
(4) सत्ता का विकेन्द्रित स्वरूप जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय और स्थानीय स्वामित्व की व्यवस्था,
(5) भुखमरी, बेरोजगारी के विरुद्ध राज्य संरक्षण की गारन्टी,
(6) सरकार पर श्रमिकों का वर्चस्व, एवं
(7) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समाजवादी उपयोग।

फेबियनवाद और मार्क्सवाद में समानता और अन्तर

फेबियनवाद मार्क्सवाद से प्रभावित है और दोनों में इस बात पर सहमति है कि पूँजीवाद एक घृणित संस्था है तथा इसको समाप्त करने की आवश्यकता है। दोनों ही एक शोषण-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना पर बल देते हैं, *लेकिन दोनों में मूल अन्तर भी हैं जो कि सैद्धान्तिक भी हैं और व्यावहारिक भी।* सैद्धान्तिक दृष्टि से फेबियन लोग मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से सहमत नही हैं और न वे भविष्य मे मध्यम वर्ग के लाभ में ही विश्वास रखते हैं। वे राज्य के मुर्झा जाने मे भी विश्वास नही रखते। वे इसे न केवल काल्पनिक एवं अव्यावहारिक ही मानते हैं बल्कि उसे अनावश्यक भी समझते हैं। वे राज्य को समाज का मित्र मानकर चलते हैं और उसे सामाजिक गतिविधियों एवं उनके परिवर्तनों के केन्द्र में अवस्थित करते हैं। फेबियन मार्क्स के श्रम सम्बन्धी और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों के स्थान पर समाज को वस्तुओं का मूल्य उत्पन्न करने का प्रधान कारण भी मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की उपज है,

1. कोकर : वही, पृष्ठ 101.

अतः उसमे होने वाली वृद्धि का लाभ समाज को ही मिलना चाहिए। फेबियन सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में भी विश्वास नहीं रखते ।

व्यावहारिक दृष्टि से भी दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है । फेबियन समाज परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण तरीको को मान्यता देते हैं जबकि मार्क्सवादी इनको सफलता मे सन्देह करते हैं । फेबियन विश्वास करते हैं कि धीरे-धीरे विकासवादी प्रक्रिया से जनतन्त्रात्मक एव अहिंसात्मक मार्ग द्वारा समाजवाद की स्थापना हो सकती है । जैसा कि श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने कहा है, "ऐसी कोई रेखा-बिन्दु नही होगी जिसे पार कर समाज व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होता है । परिवर्तन सदैव अग्रिम दिशा की ओर निरन्तर होता रहता है और हमारा समाज समाजवाद के मार्ग पर सही बढ़ रहा है ।"

आलोचना एवं मूल्यांकन

फेबियनवाद की अनेक दृष्टियों से कटु-आलोचना की गई है । प्रोफेसर बार्कर ने कहा है कि "फेबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट व अनिश्चित सिद्धान्त है । व्यावहारिक रूप में तथा सिद्धान्त में यह एक झूठे झंडे के नीचे है जो अपने उद्देश्यों के विषय में कोई सन्देह प्रकट नही करना चाहता । फेबियन अपनी सफलता के लिए केवल चालाकी पर निर्भर करते हैं ।" कहा गया है कि यह समाजवाद है ही नही, बल्कि एक उदारवादी लोकतन्त्रवाद है क्योंकि वह खुले रूप मे शोषक वर्ग का मुकाबला करने के लिए कभी मैदान में उतरता ही नही फिर भी अपनी सफलता पर किंचितमात्र भी सन्देह नही करता । यह केवल अपने बुद्धि चातुर्य से काम निकलता है और एक अर्थ मे यह खतरनाक सिद्धान्त भी है क्योकि यह शोषक वर्ग पर प्रहार नही करता और सहअस्तित्व की बात करता है । एक ऐसे समाज में जहाँ परस्पर विरोधी हितों को लेकर वर्गों का निर्माण हो चुका है वहाँ सहअस्तित्व कैसे सम्भव है । यह सहअस्तित्व का सिद्धान्त तो केवल बुर्जुआ वर्ग के हित में ही जाता है और श्रमिक वर्ग इसके नीचे पिसता रहता है ।

यह भी कहा जाता है कि फेबियनवाद उपदेश अधिक है और कार्यक्रम कम है । वेब ने कहा था कि फेबियनवाद समाजवादी विचारों को समाज के सभी वर्गों के पास पहुँचाना चाहता है और उनके मस्तिष्क को बदलना चाहता है । लेकिन क्या समाजवादी विचारों की आवश्यकता बुर्जुआ वर्ग के लिए है ? वह इन विचारों को क्यों स्वीकार करने लगा । हृदय परिवर्तन और मस्तिष्क परिवर्तन की बातें तो थोथी नजर आती हैं, और इसीलिए ऐंजिल्स ने फेबियनों को धार्मिक युग का उपदेशक कहा है जो क्रान्ति से डरते हैं ।

सच तो यह है कि यह खाए-पीए आमोद-प्रमोद में पलने वाले और सम्पन्न व्यक्तियों का आन्दोलन था जो समाजवाद को केवल बौद्धिक रूप से स्वीकार करते थे, लेकिन जिसे लाने के लिए वे संघर्ष करने को तैयार नहीं थे और यही कारण

था कि फेबियनवाद का सन्देश केवल एक वर्ग तक सीमित रह गया और कभी जनसाधारण तक यह नहीं पहुँच पाया। यद्यपि यह दर्शन जनसाधारण के लिए था, लेकिन यह जनसाधारण को आकर्षित करने में असमर्थ रहा क्योंकि इसका नेतृत्व एक विशिष्ट वर्ग के बुद्धिजीवी कर रहे थे जिनका जनसाधारण के साथ कोई भावनात्मक लगाव नहीं था। और जो इसके लिए संघर्ष करने को तत्पर नहीं थे, यही फेबियनवाद का दुर्भाग्य था।

यह सही है कि फेबियनवाद कभी एक समाजवादी आन्दोलन के रूप में उभर कर सामने नहीं आया और इसका यद्यपि समाजवादी चिन्तन को कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है, लेकिन फिर भी समाजवादी इतिहास में इसको स्थान प्राप्त है।[1] फेबियनवाद की देन यही है कि इसने समाजवाद को बौद्धिक धरातल दी और जो व्यक्तिवाद और साम्यवाद से चिढ़े हुए थे उन्हें समाजवाद की ओर गम्भीरता से सोचने के लिए बाध्य किया। एलेक्जेन्डर ने ठीक ही कहा है कि "भावी पीढ़ियों की शीतल आँखें फेबियनवाद के अनेक सिद्धान्तों को मृतवम्य या गाईफाक्स के कागजी पटाखों की संज्ञा देंगी, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि कम से कम विक्टोरिया युग के व्यक्तियों को फेबियनों ने यह अवश्य दिखाया कि किसी भी प्रश्न की गम्भीरता समझने के लिए कुछ खोदने और तह में जाकर कुछ प्राप्त करने की सदा सम्भावना बनी रहती है।" अन्त में इस बात से भी मना नहीं किया जा सकता कि व्यावहारिक क्षेत्र में इन्होंने पर्याप्त योगदान दिया जैसा कि प्रो० कोकर ने लिखा है। प्रो० कोकर के शब्दों में, "यह कहा जा सकता है कि फेबियन सोसायटी ने सिद्धान्त-क्षेत्र में उतना योगदान नहीं दिया, जितना व्यावहारिक क्षेत्र में। जिस प्रतिभा और बुद्धिमता के साथ उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में तथ्य एकत्र करके उनकी व्याख्या की है, उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानिक सरकारें शनैः-शनैः और सावधानी के साथ समाजवाद के एक नरम रूप को व्यावहारिक रूप दे सकी हैं।"[2]

संशोधनवाद या पुनर्विचारवाद और बर्न्सटीन

(Revisionism and Edward Bernstien, 1850–1932)

कार्ल मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त उसके दर्शन को लेकर उसके समर्थक भी कई गुटों में बँट गए। इसके अनेक कारण थे। मार्क्स के उन देशों में रहने वाले अनुयायी जहाँ जनतंत्र अपनी जड़ें मजबूत कर चुका था, मार्क्स के कतिपय सिद्धान्तों जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति की अपरिहार्यता आदि विचारों से आश्वस्त नहीं थे और वे मार्क्सवाद को जनतांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत ढालना चाहते थे। कुछ उसके अन्य समर्थक अपने-अपने देशों की भौगोलिक,

1. *Alexander Gray*: Op. cit., p. 400.
2. कोकर : वही, पृष्ठ 102.

ऐतिहासिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप मार्क्सवाद को ढालना चाहते थे। कुछ अन्य लोगों ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर आपत्ति प्रकट की। उन्होंने क्रान्ति के सिद्धान्त को एक विकासशील रूप देने का प्रयत्न किया जबकि दूसरों ने इसके हिंसात्मक स्वरूप को अधिक महत्त्व दिया।

जिन लोगों ने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा उसके विकासवादी पहलू पर अधिक जोर दिया और मार्क्सवाद को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करने का प्रयास किया, उनमें प्रमुख संशोधनवादी (Revisionist) हैं। इन लोगों ने न केवल मार्क्सवाद को अपने ढंग से ही समझाया बल्कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार जहाँ वह उपयुक्त नहीं लगा वहाँ इसकी उन्होंने आलोचना भी की। जिन लोगों ने मार्क्सवाद का संशोधन किया उसमें ज्यादा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति एडवर्ड बर्नस्टीन है जिसके बारे में आगे के कुछ पृष्ठों में लिखा गया है। बर्नस्टीन को तो संशोधनवाद का जनक ही कहा गया है, लेकिन कुछ और भी संशोधनवादी हैं जिनमें फ्रांस के जीन जोरेस (Jean Jaures) और बेनन मेलन (Benon Melon), बेल्जियम में अनसीले (Edward Ansiele), इटली में बिसोलाटी (Leonido Bissolati), रूस में टूगन बेरोनास्की (Tugan Baronorsky), स्वीडन में कार्ल ब्रेन्टिंग (Karl Branting) आदि प्रमुख हैं।

बर्नस्टीन के विचारों का उल्लेख करने के पूर्व संशोधनवाद की कुछ परिभाषाएँ दे देना अनुपयुक्त न होगा—

आर्डन स्काफ के अनुसार, "पुनर्विचारवाद एक ऐतिहासिक विचार है जो प्रथम बार जर्मन सोशियल डेमोक्रेसी में गत शताब्दी के अंत में एडवर्ड बर्नस्टीन के कार्यों को सम्बोधित किया गया था। यह भ्रान्तिपूर्ण क्रान्ति विरोधी पुनर्विचारवाद सभी वाद के इसी प्रकार के मार्क्सवाद के संशोधन के कार्यों को आदर्श प्रस्तुत करता है।"

गोमुलका के अनुसार,"संशोधनवाद सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के सामान्य सिद्धान्तों से पृथक् है या उनका खंडन है।" दूसरे शब्दों में "मार्क्सवाद लेनिनवाद की सार्वभौम सच्चाइयों से हटना है। एक पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी वह है जो दल के नेतृत्व की वैचारिक एवं नीति सम्बन्धी मामलों में अकाट्यता पर प्रश्न करता है।"

कोकर के अनुसार, "एक संशोधनवादी के लिए समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए समाजवाद का अर्थ है व्यक्तिगत पूँजीवाद पर राज्यका प्रतिबन्ध। यह प्रतिबंध व्यक्तिगत स्वामियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में राजकीय हस्तक्षेप का रूप ले सकता है अथवा पूँजी के किसी भाग विशेष में व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर राज्य के स्वामित्व की स्थापना का रूप ले सकता है।"[1]

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 107.

एडवर्ड बर्न्सटीन के विचार

बर्न्सटीन का जन्म जर्मनी के बर्लिन नगर'में हुआ था। जर्मनी में सामाजिक प्रजातंत्र की विचारधारा बर्न्सटीन के जन्म के पहले ही प्रचारित थी और उसका नेतृत्व फर्डिनेन्ड लेसली कर रहा था। लेसली Universal Germanmen Association का नेता था जिसका उद्देश्य समाज में वर्ग संघर्ष को शांतिपूर्ण वैधिक एवं जनतान्त्रिक पद्धति से दूर करना था। 1864 में लेसली की मृत्यु हो गई और उसके उपरान्त वैबिल और ले बुकनेच ने संगठन का नेतृत्व किया। इन लोगों ने जर्मनी में सामाजिक प्रजातन्त्र प्राप्त करने की दृष्टि से अनेक व्यावहारिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किए।

इस पृष्ठभूमि को दृष्टिगत रखते हुए बर्न्सटीन पर पड़ने वाले प्रभावों को समझा जा सकता है। वह 22 वर्ष की आयु में Social Democratic Party में शामिल हो गया। 1878 में समाजवाद विरोधी कानून के पारित होने पर उसे जर्मन छोड़ना पड़ा और वह दो दशकों तक स्वीट्जरलैंड और इंग्लैंड में एक निर्वासित के रूप में रहा। इंग्लैंड मे जब वह आया तो मार्क्स की मृत्यु हो चुकी थी, लेकिन उसने एँजिल्स से सम्पर्क बनाए रखा। वह इंग्लैंड मे फेबियनो के सम्पर्क में भी आया। उसके विचारों का एक और संकलन है जिसका संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद "Evolutionary Socialism" के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसकी एक Problem of Socialism नामक लेखमाला भी प्रकाशित हुई है।

बर्न्सटीन पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश को आवश्यक नहीं मानता था। वह मार्क्स की इस भविष्यवाणी से सहमत नही था कि विकास की अपनी प्रक्रिया के द्वारा पूँजीवाद का विनाश अवश्यभावी है। बर्न्सटीन ने बताया कि जिस प्रकार से पूँजीवाद का विकास हो रहा है उसमें उसके विनाश के बीज नहीं हैं और इसलिए उसने जर्मन सामाजिक जनतांत्रिक दल को चेतावनी दी कि उसे ऐसी कोई योजना नहीं बनानी चाहिए जो इस मान्यता पर निर्मित हो कि पूँजीवाद का विनाश पूर्व निर्दिष्ट है।

बर्न्सटीन ने मार्क्स की आलोचना करते हुए उसके चिन्तन में अनेक स्वप्न-लोकीय तत्वों को ढूँढा। उसने लिखा कि यद्यपि मार्क्स और एँजिल्स के मैनीफेस्टो में सामाजिक विकास की प्रक्रिया सही है, लेकिन उसका समय निर्धारण ठीक नही है। उसने कहा कि सामाजिक दिशाएँ उस तरीके से नहीं बदली हैं जिसका कि मैनीफेस्टो मे उल्लेख किया गया है। विकास की अवस्थाओं के बारे मे जो समय निर्धारण मार्क्स और एँजिल्स ने किया है, बर्न्सटीन ने उस अनुपात को त्रुटिपूर्ण बताया है।

बर्न्सटीन ने यह भी कहा कि मार्क्स की मध्यम वर्ग के लोग होने की बात भी सही नहीं निकली और इसके साथ उसकी यह बात भी त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुई कि कालान्तर में वर्गों की प्रतिद्वंद्विता बढ़ेगी। बर्न्सटीन ने मध्यम वर्ग के लोप की बात

की भर्त्सना करते हुए बताया कि जिनके पास सम्पत्ति है उनकी संख्या में ह्रास नहीं, बल्कि वृद्धि हुई है। चाहे मध्यम वर्ग की प्रवृत्ति बदली हो, वह लुप्त नहीं हुआ है।[1]

बर्न्सटीन ने बताया कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी कि गरीब ज्यादा गरीब होते जाएँगे, गलत साबित हुई है। उसने बताया कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपतियों का विकास हुआ और मध्यम वर्ग की स्थिति भी सुदृढ़ हुई।

उसने कहा कि समाज में पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है। उसने मार्क्स के इस कथन को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया कि केवल श्रमिक वर्ग ही पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध बगावत कर सकता है। उसने बताया कि पूँजीवाद से समाजवाद की ओर प्रावर्तन शनैः-शनैः होता है और समाज स्वयं पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध जाग्रत होता है। उसके कथन का सार यह था कि परिवर्तन की दिशा में केवल श्रमिक का ही नहीं अपितु सारे समाज का योगदान होता है और इसलिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात वृथा एवं अटपटी है।

बर्न्सटीन समाजवादी आन्दोलन को आधुनिक प्रजातांत्रिक आन्दोलन का एक भाग मानता था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समाजवाद की स्थापना वर्ग संघर्ष का प्रतिफल नहीं होगी बल्कि श्रमिक वर्ग को लोकतंत्र की ओर मोड़कर उसके जीवन-स्तर को उन्नत करने से होगी। वह इस राय का था कि श्रमिकों में राजनीतिक जागृति आनी चाहिए तथा उन्हें अपने अधिकारों के लिए जागरूक रहना चाहिए। उन्हें अपने व्यावसायिक एवं औद्योगिक संगठनों को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

बर्न्सटीन समाजवाद और प्रजातन्त्र को एक दूसरे का पूरक समझता था। उसी के शब्दों में "बिना कुछ प्रजातान्त्रिक परम्पराओं एवं संस्थाओं के आज का समाजवादी सिद्धान्त वास्तव में सम्भव नहीं होगा। निःसन्देह मजदूर आन्दोलन तो होगा, किन्तु सामाजिक प्रजातन्त्र नहीं। आधुनिक समाजवादी आन्दोलन और उसकी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ फ्रांस की महान् क्रान्ति तथा औचित्य की उन भावनाओं का ही प्रतिफल है जो उस क्रान्ति के द्वारा मजदूरों के आन्दोलन तथा मजदूर आन्दोलन में सामान्यतः स्वीकार कर ली गई हैं। प्रजातन्त्र और समाजवाद में परस्पर अन्तर्विरोध नहीं है. प्रजातन्त्र समाजवाद की शर्त है। प्रजातन्त्र समाजवाद का केवल साधन ही नहीं उसका सार भी है।"[2] कहने का सार यह है कि बर्न्सटीन के अनुसार सर्वहारा के अधिनायकत्व की अपेक्षा लोकतान्त्रिक प्रणाली से समाजवाद ज्यादा अच्छी तरह लाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, ट्रेड यूनियन इसी प्रणाली के माध्यम से उद्योग के प्रबन्धकों को सम्मिलित कराने में कामयाब होते हैं। बर्न्सटीन फेबियनों के इस विचार से सहमत था कि ट्रेड यूनियनों के माध्यम से प्राप्त होने वाला समाजवाद ही

1. *Edward Bernstein* : Evolutionary Socialism (English Version), p. 9.
2. *Bernstein* : Evolutionary Socialism, p. 166.

वास्तविक समाजवाद है। इन्होंने मार्क्स की आलोचना करते हुए बताया कि उसका समाजवाद तो एकाधिकारवादी हो जाएगा। ये मानते हैं कि लोकतन्त्र स्वयं ही वर्गविहीन सरकार की प्रणाली है और चाहे थोड़े समय के लिए उस पर वर्ग विशेष का प्रभाव रहे,लेकिन अन्ततोगत्वा वह भी समाप्त हो जाएगा। लोकतन्त्र में मत का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को सैद्धान्तिक दृष्टि से समुदाय का हिस्सेदार बना देता है और सैद्धान्तिक हिस्सेदारी ही अन्त मे वास्तविक हिस्सेदारी बन जाती है।[1]

बर्नस्टीन ने मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को संकीर्ण बताया। उसने मार्क्स की आलोचना करते हुए बताया कि समाज की प्रगति का आधार केवल उत्पादक शक्तियाँ ही नहीं हैं बल्कि इनके साथ ही साथ कानूनी व्यवस्थाओं, नैतिक मान्यताओं, आध्यात्मिक व धार्मिक प्रवृत्तियों, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक अवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। निःसंदेह, मार्क्स और ऐंजिल्स ने इनको गौण तत्त्वों के रूप मे स्वीकार अवश्य किया था, लेकिन बर्नस्टीन ने इन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने अपनी पुस्तक "Evolutionary Socialism" में लिखा है कि "आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊंचा उठा हुआ है। ये आदर्श केवल आर्थिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी इन आदर्शों के क्षेत्र मे आते हैं। ये विभिन्न तत्त्व आज आर्थिक तत्त्वो पर इतने आधारित नहीं हैं जितने प्राचीन काल में थे। आधुनिक आदर्शों का, विशेषकर नैतिक आदर्शों का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है, वे केवल आर्थिक तत्त्वों पर आधारित नहीं हैं।" बर्नस्टीन ने बताया कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आर्थिक निर्देशन की शक्ति बढ़ती जाती है और इसके साथ ही प्राकृतिक आर्थिक शक्ति मनुष्य की सेविका बन जाती है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है और व्यावसायिक, धार्मिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास में, कारण और कार्य की अन्योन्याश्रितता अधिक परोक्ष होती जा रही है तथा परिणामस्वरूप पूर्वोक्त की उपरोक्त के रूप को निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है।

कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी बर्नस्टीन ने आलोचना की है। बर्नस्टीन का कथन है कि "जिस प्रकार अणु सिद्धान्त किसी शिल्पकला के सन्दर्भ या कुरूपता को नापने के लिए अक्षम है उसी प्रकार मार्क्स का श्रम सिद्धान्त श्रम के उत्पादन को बाँटने में न्याय व अन्याय को मापने में अक्षम है।"[2] प्रो० कोकर ने बर्नस्टीन द्वारा मार्क्स के मुख्य सिद्धान्त की आलोचना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का खण्डन करते समय बर्नस्टीन ने उस भ्रान्ति की ओर निर्देशन किया जो 'कैपीटल' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत परिवर्तन के कारण

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 107-108.
2. Quoted by *Laidler* : A History of Socialist Thought, p. 301.

उत्पन्न होती है। 'कैपीटल' के इस खण्ड में बाजार मूल्य (Market Value) को उत्पादन की लागत के, जिसमें औसत मुनाफा भी सम्मिलित है, बराबर माना गया है, किन्तु पहले के खण्डों में विनिमय-मूल्य (Exchange Value) केवल उसी को माना गया है, जो उत्पादन में लगाए गए श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है कि समस्त पुण्यों का सामाजिक मूल्य उस समस्त श्रमकाल के बराबर है जो उसके उत्पादन में लगा है और पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना अधिक है, वह पूर्ण सामाजिक बढ़ोतरी (Surplus) है जो श्रमिकों द्वारा उत्पन्न की गई है, परन्तु जो उनसे अन्यायपूर्वक छीन ली गई है। बर्न्सटीन का यह विचार था कि श्रमनिर्मित मूल्य के किसी भी सिद्धान्त के आधार पर हम वितरण के लिए कोई उपयुक्त प्रणाली स्थापित नहीं कर सकते।[1] मूल्य सिद्धान्त श्रम के उत्पादन के विभाजन में न्याय या अन्याय का निर्णय करने के लिए किसी आदर्श को स्थापित करने में उतना ही असफल है, जितना किसी मूर्ति की सुन्दरता या कुरूपता का निर्णय करने के लिए अणु-सिद्धांत (Atomic theory)। आज जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) की दर बहुत अधिक ऊंची है, हमे उनमें श्रेष्ठतम अवस्था वाले मजदूर दिखाई देते हैं और जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य की दर बहुत निम्न है, उनमें मजदूर अत्यन्त दलित अवस्था में हैं। साम्यवाद या समाजवाद के लिए वैज्ञानिक आधार या समर्थन केवल इस बात से प्राप्त नहीं किया जा सकता कि मजदूर को उसके काम की उपज का पूर्ण मूल्य प्राप्त नहीं होता। संशोधनवादी सामान्यतः मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को अस्वीकार करने में बर्न्सटीन का अनुसरण करते थे जहाँ तक उस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य केवल मजदूरों के प्रयत्नों से निर्धारित होता है और जिस अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति शोषण करते हैं, उसका निर्धारण केवल उस अतिरिक्त भाग से होता है जो उत्पादन में से मजदूरी देने के बाद बच रहता है। परन्तु वे इस बात का खण्डन नहीं करते कि अतिरिक्त मूल्य होता है या अतिरिक्त भाग उस बढ़ोतरी से बनता है जो पूँजीपति को वस्तुओं की बिक्री से धन प्राप्त होता है, उसमें से जो धन वे वस्तुओं को मूल्य देने में खर्च करते हैं, उसे घटाकर बच रहती है। वे इस बात में विश्वास करते थे कि पूँजीपतियों के बढ़ोतरी को बढ़ाने के प्रयत्नों से पूँजीवाद के स्वाभाविक विकास को शक्ति मिलती है और उससे मजदूरों का शोषण भी होता है।"

आलोचना एवं मूल्यांकन

संशोधनवादियों की, जिनमें बर्न्सटीन प्रमुख है, आलोचना भी फेबियनों की तरह व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनों दृष्टियों से की जा सकती है। व्यक्तिवादी उन पर व्यर्थ ही में समाजवाद को उदारवाद से जोड़ने के प्रयास करने का आरोप

1. Evolutionary Socialism, p. 39.

लगाते हैं। उनका कथन यह है कि संशोधनवादियों ने उदारवादी चिन्तन को समाजवाद से सम्बद्ध कर इसे भ्रमित किया है।

उग्र समाजवादी और साम्यवादी आलोचक संशोधनवादियों पर यह आरोप लगाते हैं कि इन्होंने समाजवाद को लाने के लिए कोई सक्रिय कदम ही नहीं उठाया। इन्होंने कतिपय मूलभूत बातों जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व आदि को ठुकरा कर समाजवाद के सार को भुला दिया है और अपनी बौद्धिक प्रखरता के आधार पर समाजवाद का नाम लेकर प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था के औचित्य को बनाए रखा है। मार्क्स पर प्रहार करने के कारण बर्न्सटीन को पुराने-पंथी, मध्य विक्टोरियन उदारवाद से सम्बद्ध कर दिया गया है।[1]

इन आलोचनाओं के बावजूद भी बर्न्सटीन का अनेक देशों के समाजवादी आन्दोलनों पर भारी प्रभाव पड़ा है। उसका जर्मन सामाजिक जनतन्त्र पर गहरा प्रभाव रहा है और आज भी वह वृद्धि की दिशा में है यद्यपि हिटलर के शासन-काल में उसे गहरा धक्का भी लगा था। उसने समाजवाद को उन्नत कर आदर्श की अवस्था में पहुँचाया और यह जर्मन सामाजिक जनतन्त्र के कार्यक्रम का अंग भी बना।[2] अलेक्जेन्डर ग्रे ने तो उसे क्रान्तिवादी तक बता दिया जिसने एक यथार्थवादी की दृष्टि से समाजवाद को देखा और इसे सुरक्षित बनाने के लिए मार्क्स का संशोधन भी कर दिया।[3] उसने समाजवाद को जनतन्त्र के साथ जोड़कर अनेक जनतन्त्रीय देशों में इसे सम्मानजनक सिद्धान्त बना दिया। अन्त में, बर्न्सटीन की एक बहुत बड़ी देन यह कही जा सकती है कि उसने समाजवाद को लाने के लिए क्रान्ति की बात को अनावश्यक ही नहीं बताया बल्कि मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि प्रगति सामाजिक परिस्थितियों के विघटन पर आधारित है, गलत भी साबित करने का प्रयास किया।

---

1. *Gray, Alexander* : The Socialist Tradition, p. 406.
2. The Precursor Edward Bernstein in Revisionism., Edited by Leopold Labedz (1962), p. 41.
3. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit.

8 श्रमसंघवाद

(Syndicalism)

मार्क्सवाद से प्रभावित विचारधाराओं में एक श्रमसंघवाद भी है। इसका प्रादुर्भाव 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में हुआ था। श्रमसंघवाद का अंग्रेजी रूपांतर सिंडीकेलिज्म (Syndicalism) है जो फ्रेंच शब्द सिंडीकेट से निकला है। इसका अर्थ श्रमसंघ (Labour Union) है। अंग्रेजी में सिंडीकेट शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है।[1] यही कारण है कि श्रमिकों के एक आन्दोलन को प्रायः श्रमसंघवादी आन्दोलन कहते हैं। वैसे साधारणतः सिंडीकेलिज्म शब्द साधारण ट्रेड यूनियन आन्दोलन के लिए काम में आता है, किन्तु इसका प्रयोग क्रांतिकारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को सम्बोधित करने के लिए ही प्रयुक्त होता है। फ्रांस में जहाँ इन आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ उनकी दो धाराएँ रही जिनके उग्रपंथी एवं नरमपंथी श्रमसंघवादी आन्दोलनों को क्रमशः क्रांतिवादी श्रमसंघवाद तथा सुधारवादी श्रमसंघ का वाद कहा गया।

ऐतिहासिक सन्दर्भ में इस आन्दोलन के सिद्धांत को फ्रांस की राज्य-क्रांति से जोड़ा जा सकता है। यद्यपि राज्य-क्रांति के परिणामस्वरूप जनता में राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ लेकिन श्रमिकों पर प्रतिबन्ध होने के कारण वे इससे लाभान्वित नहीं हो सके। सरकार और पूँजीपति दोनों ही मजदूरों के हितों के प्रति उदासीन थे। फ्रांस में 1830, 1848 तथा 1871 में जो क्रांतियाँ हुई उनके मूल में श्रमिक असन्तोष था। लेकिन इन आन्दोलनों को निर्दयता के साथ कुचल दिया गया। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर श्रमिक वर्ग सरकार और पूँजीपतियों के मिले-जुले षड्यंत्र के विरुद्ध संगठित होने लगे। तत्कालीन फ्रांस में राजनीतिक भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था और फ्रांस में प्रनातोले, जैसे प्रतिभाशाली लेखक मजदूरों को संगठित होने की प्रेरणा दे रहे थे। इनके लेखों से श्रमिक वर्ग को पूँजीवादी व्यवस्था के साथ ही राज्य जैसी भ्रष्ट संस्था का भी अन्तिम संस्कार कर देने की प्रेरणा मिली।

सन् 1875 में फ्रांस में तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद सरकार ने मजदूरों को संघ बनाने के अधिकार दे दिए जिसके फलस्वरूप फ्रांस में बहुत से श्रमिक संघों का निर्माण हुआ। सन् 1887 में पेरिस में एक केन्द्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना हुई जिसकी शाखाएँ देश के बड़े-बड़े नगरों में स्थापित की गई। कहने का

1. *Gray, Alexander* : The Socialist Tradition, *op. cit*, p. 408.

अर्थ यह है कि फ्रांस में 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मजदूर संगठन सुदृढ़ हो गए और इनका अपने ही सदस्यों पर नियन्त्रण राज्य के नियन्त्रण से भी अधिक था। प्रायः सभी व्यावसायिक संघ इस एक केन्द्रीय संगठन के अधीन स्थापित हो गए।

श्रमसंघवाद क्या है ?

श्रमसंघवाद एक दर्शन के मुख्य तत्वों का निरूपण करने के पूर्व इसकी कुछ प्रचलित परिभाषाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। यहाँ कुछ प्रमुख *परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं—*

कोकर के शब्दों में, श्रमसंघवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार केवल श्रमिकों को उन परिस्थितियों का नियन्त्रण करना चाहिए जिनमें वे काम करते तथा जीवन बिताते हैं। जिन सामाजिक परिस्थितियों की उन्हें आवश्यकता होती है उनको वे केवल अपने प्रयत्नों से, अपने संघों की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा तथा उन साधनों से, *जो उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप होते हैं, प्राप्त कर सकते हैं।*[1]

गेटिल के अनुसार, "श्रमसंघवाद में समाजवादियों के आर्थिक सिद्धान्तों अराजकतावाद के राजनैतिक सिद्धान्तों का जो राज्य में पूँजीवाद का साधन होने के कारण विश्वास नहीं करते और व्यापारिक संघों के सीधे और राजनीतिक तरीकों का मेल है।"

जोड के शब्दों में, "श्रमसंघवाद सामाजिक सिद्धान्त का वह रूप है जो श्रमसंघों को नए समाज का आधार तथा उस समाज को प्राप्त करने का साधन मानता है।"

हूवर का कहना है 'वर्तमान युग में श्रमसंघवाद से अभिप्राय उन *क्रांतिकारियों के सिद्धान्तों और कार्यक्रमों से है जो पूँजीवाद को नष्ट करने तथा* समाज की स्थापना करने के लिए औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं।

एलेक्जेण्डर ग्रे के शब्दों में, "श्रमसंघवाद संक्षेप में समाजवाद का वह रूप है जो कि क्रान्ति को वर्गसंघर्ष का परिणाम मानता है और जो श्रमिकसंघ का यान्त्रिक रूप में प्रयोग करके निश्चित ही राज्य की मशीन का अंत कर देगा।"

श्रमसंघवाद की मुख्य मान्यताएँ

एवं संसदीय व्यवस्था की ओर मुँह मोड़ लेते हैं और अपनी समस्या के समाधान का अलग ही रास्ता बताते हैं। श्रमिक संघवाद श्रमिकों का आन्दोलन है तथा वह संसदीय व्यवस्था को निरर्थक मानता है। यह एक अमीरों की संस्था है जो उन्हे श्रमिकों को शोषण करने में सहायता देती है। राज्य सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। समाज का संगठन बहुलवादी है, जबकि राज्य केवल एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इनके अनुसार राज्य केवल उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसे उत्पादकों की चिन्ता नही होती। राज्य कर्मचारी उत्पादकों से घृणा करते हैं। मृत्य वर्ग जनहित से बहुत दूर रहता है और वह समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अतः श्रमसंघवादी राज्य को मूल रूप से वर्ग दमन और वर्ग शोषण की संस्था मानते हैं।[1] अत. वे इसे नष्ट कर देने के पक्ष में हैं। श्रमिक संघवादियों की राज्य के प्रति इतनी घृणा के पीछे एक कारण छिपा है और वह यह है कि तत्कालीन फ्रांस मे राज्य का व्यवहार पूँजीपतियों के प्रति मित्रतापूर्ण एवं मजदूरों के प्रति शत्रुता लिए हुए था। मार्क्सवादियों की तरह श्रमसंघवादियों की धारणा है कि समाज पूँजीवादी और मजदूरवर्ग मे विभक्त है। इनके अनुसार दोनों वर्गों के संघर्ष में अन्ततोगत्वा विजयश्री श्रमिक वर्ग को ही मिलेगी। ये मानते हैं कि मजदूरों का अधिकाधिक संगठित होना राज्य-उन्मूलन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा।

श्रमिकसंघवाद अराजकता और व्यवस्था दोनों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित करता है। यह अराजक इस अर्थ में है कि यह राज्य को समाप्त कर देना चाहता है, लेकिन व्यवस्था को नहीं। राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा लेकिन व्यवस्था फिर भी बनी रहेगी। इनके अनुसार समाज का सम्पूर्ण आर्थिक और राजनैतिक जीवन श्रमिक संघों के हाथ में रहेगा।

श्रमिकसंघवादी एक और अर्थ में भी मार्क्सवादी हैं। कार्लमार्क्स की भाँति ये भी वर्गसंघर्ष में विश्वास रखते हैं। जैसा कि लिखा जा चुका है कि समाज में पूँजीपति और श्रमिक जो दो वर्ग हैं उनमें सहअस्तित्व असम्भव है। इन दोनों में संघर्ष अनिवार्य है। पूँजीपतियों और राज्य के विरुद्ध यह संघर्ष निरन्तर चलते रहने चाहिए ताकि श्रमिक जागरूक, सावधान और क्रियाशील रहे।

श्रमसंघवादियों का समाज-परिवर्तन के लिए केवल हिंसा में विश्वास है। ये लोग संसदीय प्रणाली को एक धोखा मानते हैं और इसे पूँजीपतियों के दिमाग की उपज मानते हैं। संसदीय पद्धति वर्ग-चेतना को मन्द करती है और श्रमिकों में एक 'पेटीबुर्जुआ' का निर्माण करती है। उनकी मान्यता है कि ससदीय प्रणाली भ्रष्ट राजनीतिज्ञों को जन्म देती है और ईमानदार और श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियो को भी अनैतिक, दुराचारी और व्यभिचारी बना देती है। अतः समाज-परिवर्तन के लिए यह हिंसा पर भी जोर देते हैं।

1. *Gray, Alexander* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 415.

श्रमसंघवादी युद्ध और सेना को अनावश्यक समझते हैं। देश के अन्दर और बाहर युद्धों का कारण पूँजीपतियों के पारस्परिक हितों में टकराहट है। इनकी मान्यता है कि पूँजीपति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए और देश-भक्ति के नाम पर युद्ध को बढ़ावा देते हैं क्योंकि राज्य पूँजीपतियों के अधीन होता है। पूँजीपतियों के हितों को सरक्षण देने हेतु सेना को भेजा जाता है, लेकिन विश्व के सभी मजदूरों के हित समान है और इसलिए न सेना की आवश्यकता है और न युद्ध की। युद्ध में सेना अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीपतियों के साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति करती है तो शांति-काल में वह हड़ताल का दमन करती है। उनका कहना है कि विश्व के इतिहास में अब तक सेना का प्रयोग मजदूरों के हित में कभी नही किया गया।

श्रमसंघवादी राष्ट्रीयता को एक कृत्रिम, स्वार्थपूर्ण एवं संकुचित भावना मानते हैं। राष्ट्रीयता की भावना की आड में पूँजीपतियों एवं उनके बलबूते पर जीवित बडे राज्याधिकारियों की स्वार्थ-सिद्धि ही होती है। वह एक व्यर्थ का मायाजाल है जो केवल साधन-सम्पन्न एक छोटे से वर्ग के वर्चस्व को समाज पर लाद देता है। उनका कथन है कि श्रमिकों की न कोई राष्ट्रीयता होती है और न उनकी कोई मातृभूमि ही होती है।

श्रमसघवाद राजनीतिक दलबंदी को संवैधानिक जनतंत्र से सम्बद्ध एक बुराई मानता है। चूँकि इसका विश्वास जनतंत्र में ही नही है इसलिए राजनीतिक दल जो कि इससे जुडे हुए हैं इसके अनुसार व्यर्थ एवं हानिकारक हैं। असली प्रजातंत्र श्रमिक वर्ग के हित पर कायम रह सकता है, दलों पर नही। इसके अनुसार दल विभिन्न वर्गों के बिखरे हुए एव परस्पर विरोधी तत्वो का संगठन है और इसलिए यह कभी श्रमिको का हित संपादन नही कर सकते। इसके अनुसार राजनीतिक धोखेबाज होते हैं तथा श्रमिकों मे फूट डालते हैं।

इसकी मान्यता है कि राजनीतिक दलों की अपेक्षा श्रमिक सघ अधिक क्रांतिकारी हो सकते हैं।

पूँजीवाद तथा निजी सम्पत्ति का विरोध

श्रमिक सघवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं की भाँति पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण उन्मूलन चाहता है। यह निजी सम्पत्ति, मुनाफाखोरी तथा शोषण का विरोधी है। यह व्यक्तिगत पूँजी को चोरी मानता है और सारी पूँजीवादी व्यवस्था को शोषण पर आधारित मानता है। श्रमिक संघवादियों की मान्यता है कि जब तक पूँजीवाद रहेगा तब तक असली जनतंत्र की कोई भी स्थापना नहीं हो सकती। इसके अनुसार पूँजीपति राज्य के माध्यम से श्रमिको का शोषण करते हैं। अतः ये ऐसा मानते हैं कि पूँजीपतियों से सब उद्योग छीन कर श्रमिक संघों को दे दिये जाने चाहिए।

अन्तरिम सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का विरोध

श्रमिक सघवादी मार्क्स के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि क्रांति के उपरांत

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होनी चाहिए। इन्हें यह भय है कि यह व्यवस्था भी जनतंत्रीय व्यवस्था के समान हो जाती तथा देश में सेना के उच्च अधिकारी,पार्टी के उच्च अधिकारी एवं नौकरशाही के प्रतिनिधियों का सारे समाज पर वर्चस्व आच्छादित हो जाता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि मजदूरों के हित एवं नागरिक स्वतंत्रता की बलि चढ़ा दी जाती है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए श्रमिक संघवादी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि क्रांति के बाद समाज का ढांचा श्रमिकों द्वारा ही निर्धारित किया जाना चाहिए।

प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि श्रमसंघवादी अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपनाए गए साधनों मे केवल हिंसा और प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास करते हैं। यद्यपि कुछ संघवादी अधिक उग्रवादी तरीकों मे विश्वास रखते हैं जबकि उनमें से कुछ अन्य लोग अपेक्षाकृत उदार साधनों में विश्वास करते हैं, लेकिन सब कुछ मिला-कर यही कहा जा सकता है कि ये प्रत्यक्ष कार्यवाही को ही जरूरी मानते हैं। प्रत्यक्ष कार्यवाही को वह कार्यवाही बताया गया है जो श्रमिकों द्वारा बिना किसी मध्यस्थता के की जाती है। वैसे इसका हिंसात्मक होना बहुत आवश्यक नही है, लेकिन प्राय इसकी परिणति हिंसा में ही होती है। प्रत्यक्ष कार्यवाही निम्नलिखित साधनो द्वारा की जाती है—

(1) हड़ताल (Strike)
(2) केकेनी (Cacanny)
(3) तोड़फोड़ (Sabotage)
(4) बहिष्कार (Boycott)
(5) छाप (Lable)

अब इनका संक्षेप मे वर्णन किया जा रहा है।

हड़ताल—*हड़ताल श्रमिकों का एक शक्तिशाली शस्त्र है।* श्रमसंघवादी विचारक सोरल ने इस पर बडा जोर दिया है। इसने काम के घंटों मे कमी, अच्छा वेतन और सुविधाएँ तथा उद्योगो पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु हडताल करने का सुझाव दिया है। इसकी मान्यता है कि हडताल से सम्पूर्ण एकता, अनुशासन और आत्मविश्वास पैदा होता है।

तोड़फोड़—तोड़फोड़ भी एक महत्त्वपूर्ण तरीका है जिससे पूंजीपतियों को काफी नुकसान पहुंचाया जा सकता है। श्रमिकसंघवादियों की सलाह है कि मजदूरों को चाहिए कि वे कम काम करें और मालिक की नजर हटते ही काम छोड दे। उन्हें उत्पादन कम करना चाहिए और जितना हो सके काम को खराब करना चाहिए। श्रमिकों को चाहिए कि वे मशीनों में पत्थर के टुकडे डाल दें ताकि वे खराब हो जायें। श्रमसंघवादियों के अनुसार वर्ग-संघर्ष में तोड़फोड़ का वही स्थान है जो युद्ध

में छापामार लड़ाई का होता है। तोड़फोड़ से मालिक बहुत भयभीत हो जावेंगे जिससे या तो वे अपनी मिल को बंद कर देंगे या मजदूरों की साझेदारी मान लेंगे।

केकेनी—केकेनी का अर्थ है कि मजदूर बहुत धीमी गति से और बहुत थोड़ा काम करें। श्रमसंघवादियों की मान्यता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में मुनाफा पूंजीपति को मिलता है और मजदूर को बहुत कम वेतन मिलता है। इसलिए मजदूर को अपने वेतन के अनुरूप ही कम काम करना चाहिए। उसमें जितना सम्भव हो पूंजीपति को हानि पहुंचानी चाहिए। माल ऐसा तैयार करना चाहिए जिसे बाजार में कोई नहीं खरीदे। उदाहरण के लिए कपड़े के थान में कम या अधिक कपड़ा लपेट दें और बीच में तेजाब डाल दें। मशीनों के पुर्जे छुपादें और उत्पादन कार्य में ज्यादा से ज्यादा रुकावट पैदा कर दें। बहिष्कार का अर्थ यही है कि उद्योगपतियों द्वारा निर्मित माल को काम में न लावें ताकि माल की बिक्री बन्द हो जावे। श्रमसंघवादियों में पूंजीपतियों के सामाजिक बहिष्कार की बात कही गई है।

छाप—छाप का अर्थ यह है कि माल पर एक छाप लगादी जाती है ताकि जनता उसे आसानी से पहचान जावे। यह माल श्रमिक संघों द्वारा बनाया होगा जिसे जनता खरीद ले और पूंजीपतियों की फैक्ट्रियों के माल को न खरीदे। छाप का उद्देश्य पूंजीपतियों के माल को न बिकवाकर उन्हें परेशान करना है।

श्रमसंघवादी विचारकों में सोरेल (Sorel) और पेलोते (Pelloutes) का प्रमुख स्थान है।

सोरेल (Sorel, 1847-1922)

सोरेल एक इन्जीनियर था जो मार्क्सवाद और श्रमिकसंघवाद को एक दूसरे से जोड़ता था। वह प्रौदां और बेकोनिन से भी प्रभावित था। उसने अपनी पुस्तक 'रिफलेक्शन आन वाइलेंस' (Reflection on Violence) में इस बात को प्रतिपादित किया है कि श्रमिक संघों द्वारा क्रांतिकारी आन्दोलन करके सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। वह केवल पूंजीपतियों को ही नहीं बल्कि मध्यम वर्ग से भी घृणा करता था। वह मध्यम वर्ग को पूंजीपतियों का सहयोगी बताता था। वह राज्य और जनतांत्रिक व्यवस्था का कट्टर विरोधी था। उसने एक मार्क्सवादी की भांति क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। उसने हिंसा और सीधी कार्यवाही का प्रबल समर्थन किया एवं उसने हड़ताल को श्रमिकों के हाथ में एक अमोघ शस्त्र बताया।

सोरेल ने तोड़फोड़ को अपना समर्थन नहीं दिया। इसका कारण उसने यह बताया कि समाजवाद पूंजीवाद का उत्तराधिकारी है और इसलिए अपनी पृष्ठभूमि को ही समाप्त करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। दूसरा एक कारण यह भी बताया कि श्रमसंघवाद एक शैक्षणिक एवं नैतिक प्रभाव है जिससे भविष्य में एक श्रेष्ठ मजदूर का निर्माण हो सके। सोरेल का कहना था कि धोखेबाजी, तोड़फोड़, आलस्य एवं

प्रमाद में प्रवृत्त मनुष्यों में से भाव श्रेष्ठ कार्यकर्त्ताओं का निर्माण नहीं कर सकते ।[1] अतः सोरेल का कथन था कि हमें युवा पीढ़ियों को कार्य से प्यार करना सिखाना चाहिए और यदि यह सम्भव हो पाया तो श्रमिक संघों के स्वतंत्र विकास में समाजवाद का सारा भविष्य निखर उठेगा ।[2]

सोरेल श्रमिक संघवादी सिद्धान्त को मार्क्स के दर्शन से जोड़ता था। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है वह पूँजीवाद के अन्त के लिए सर्वहारा वर्ग की क्रांति को आवश्यक मानता था। वह पूँजीवाद को तत्काल ही हिंसात्मक तरीको से समाप्त करने के पक्ष में था, पूँजीवाद की स्वाभाविक मृत्यु की प्रतीक्षा करने के वह पक्ष में नहीं था क्योंकि वह बहुत ही विलम्बकारी रास्ता है। वह भय एव हिंसा के द्वारा पूँजीपतियों एवं उनके साथी प्रजातंत्रवादी नेताओं को आतंकित कर उन्हें सत्ता छोड़ने के लिए बाध्य कर देने के पक्ष मे था। इससे मजदूरों में आत्मविश्वास जाग्रत होगा। इसके लिए जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है हड़ताल सर्वोत्तम रास्ता बताया गया है। उसके अनुसार सामान्य हड़ताल सामाजिक अन्धभक्ति (Social Myth) है जिससे मजदूरों को संघर्ष करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। सोरेल की शिक्षाओं के दो महत्त्वपूर्ण तत्व हैं और ये हैं : (1) हिंसा का रहस्यमय सिद्धान्त (Mystical theory of Violence) तथा (2) सामान्य हड़ताल (General Strike) है। सोरेल की पुस्तक (Rejection on Violence) मे कल्पना (Myth) सम्बन्धी मूल्य पर जोर दिया गया है जिसका, सक्षेप मे अर्थ यही है कि प्रत्येक आन्दोलन को कल्पना के अभाव मे प्रभावशाली नही बनाया जा सकता। यद्यपि सोरेल ने इतिहास से उद्धरण देकर सामाजिक कल्पनाओं के महत्त्व को बताया है, लेकिन ऐसा लगता कि अधिकाश श्रम-संघवादियों को सोरेल के द्वारा प्रतिपादित हड़ताल के विचार में एक सामाजिक कल्पना के रूप में कोई बात मूल्यवान नही प्रतीत हुई। लेकिन यह अवश्य है कि हड़ताल का असर उनके तात्कालिक व्यावहारिक परिणामों से नहीं जाना जा सकता ।[3]

सोरेल का राजनीतिक दर्शन कार्य का सिद्धान्त है जिसका संक्षेप में पहले वर्णन किया गया है। उसका कर्मण्यवाद, उसके ज्ञान के सिद्धान्त मे प्रकट होता है और ऐसा कहा जा सकता है कि इस पर बर्गसन का प्रभाव है। यह बात सही है कि सोरेल श्रमिको के हाथो में ही सारी सत्ता देना चाहता है लेकिन उसने श्रमसंघवादी समाज को स्पष्ट रूपरेखा देना उचित नही समझा। वह यह मानता था कि समाज की भावी रूपरेखा श्रमिकों को ही तैयार करनी चाहिए और यह उन परिस्थितियो के अन्तर्गत होनी चाहिए जिनमे से होकर समाज गुजर रहा है।

1. *Gray, Alexander* : The Socialist Tradition, op. cit., p. 423.
2. *Sorel* : L'avenis Socialistic does syndicates, p. 133. Quoted by Alexander Gray in "The Socialist Tradition", op. cit., p. 417.
3. *Francis W. Coker* : Recent Political Thought, p. 250.

सोरेल तत्कालीन समाज की कटु आलोचना भी करता था। उसने प्रजातन्त्र की भी कटु आलोचना की थी। उसकी मान्यता थी कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत एक छिछली विचारधारा है जिसके द्वारा जनता को झूठा आनन्द का प्रलोभन देकर उनसे वोट मांगे जाते हैं। यह बहुमत के शासन की भी मखौल उड़ाता है कि प्रजातन्त्र में केवल धनवान का वर्चस्व आच्छादित रहता है।

उसने विवाह-प्रथा की भी आलोचना की है। वह शादी को हितों का समझौता कहता है। उसने बताया कि इस प्रकार से शादी-विवाह की संस्था टूट रही है जिसका उदाहरण यह है कि पूँजीवादी देशों में तलाक की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।

यह कहा जा सकता है कि सोरेल का सिद्धान्त एकांगीय है जो केवल सर्वहारा की ओर झुका हुआ है। इस बात को मेयर ने कहा है, "औद्योगिक श्रमिकों में जो सामाजिक भिन्नताएँ हैं उनका उसने कम मूल्य आंका है। उसने उस नवीन स्तर का विश्लेषण नहीं किया जो बुर्जुआ और श्रमिकों के मध्य में उत्पन्न हुआ है और जिसने आधुनिक समाज के ढांचे और सन्तुलन में परिवर्तन ला दिए हैं।"[1]

पेलोते (1867—1901)

पेलोते ने मार्क्स की भांति राज्य विहीन एवं वर्गविहीन समाज का चित्र प्रस्तुत किया है। वह राज्य को पूँजीपतियों की संस्था मानता है और इसका उन्मूलन वह आवश्यक समझता है। वह उद्योगों का स्वामित्व व्यक्तिगत न मानकर श्रमिक संघों के हाथ में देना चाहता है। उसका चिन्तन अराजकतावाद के बहुत नजदीक है। वह उत्पादन और वितरण की व्यवस्था भी संघों के हाथ में ही देना चाहता था।

लागर्ड

लागर्ड (Lagardelle) एक अन्य प्रसिद्ध श्रमसंघवादी था। वह भी सोरेल की भांति कार्ल मार्क्स से प्रभावित था यद्यपि वह मार्क्स को पूर्णतः स्वीकार नहीं करता था। उसने बताया कि मार्क्स श्रमिकों की एकता और सुदृढ़ता के लिए श्रमिक संगठनों को उचित मानता था और बुर्जुआजी और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष से श्रमिकों की मुक्ति का मार्ग स्वतः प्रशस्त होगा।[2] लेकिन वह मार्क्स के अनुयायियों द्वारा अंगीकृत आर्थिक और राजनीतिक नियतिवाद को अस्वीकार करता था। वह मार्क्सवादियों की इस मान्यता का खंडन करता था कि उद्योगों और पूँजी केन्द्रीकरण, मध्यमवर्ग की घटोती एवं श्रमिकों की बढ़ोतरी से स्वतः पूँजीवाद का विनाश होगा एवं श्रमिकों का समाज पर वर्चस्व आच्छादित हो जायगा। इसके लिए मार्क्सवादियों के अनुसार केवल राज्य को अपने हाथ में लेने की आवश्यकता है।[3] लागर्ड इससे सहमत नहीं

1. *Mayer, J. P.* : Political Thought in France, p. 120.
2. *Lagardelle* : Le Socialism Eouvrier, pp. 349-57.
3. Ibid., pp. 329-30

था। उसका कथन था कि समाजवाद को लाने के लिए केवल राजनीतिक सत्ता का अधिग्रहण पर्याप्त नहीं है। उसने इतना अवश्य स्वीकार किया कि ऐसा करना ध्येय-प्राप्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम अवश्य है।[1]

राज्य के संबंध में लागर्डे का स्पष्ट मत यह था कि यह बुर्जुआ संस्था है और इसका कोई उपयोग नहीं है लेकिन इसका उन्मूलन केवल तब ही संभव है जबकि इसका स्थान श्रमिक संगठन लें। इसका अर्थ यह निकला कि लागर्डे के अनुसार श्रमिक जनतंत्र के पूर्व राजनीतिक जनतंत्र की कुछ समय के लिए आवश्यकता है। अराजतावादी एवं कट्टर श्रमसंघवादी राज्य एवं राजनीतिक सगठनों की गतिविधियो से पूर्ण पृथक् रहने की बात कहते हैं जबकि लागर्डे एवं अन्य उदार श्रमसंघवादी राजनीतिक उपकरणों को सामान्यतः उचित उपकरण न मानते हुए और राज-नीतिक तटस्थता की बात कहते हुए भी श्रमिकों को अपनी व्यक्तिगत हैसियत मे राजनीतिक दलो तथा अन्य जनतान्त्रिक संस्थाओ का उपयोग करने की अनुमति देते हैं। इस प्रकार लागर्डे ने श्रमसघवाद को यथार्थता और अवसर अनुकूलता तथा अराजकतावाद की बौद्धिकता एव कट्टरता मे विरोध स्पष्ट किया।

यद्यपि श्रमिक संघवादियों ने क्रांति के उपरान्त स्थापित होने वाले समाज की रूपरेखा प्रस्तुत नही की लेकिन फिर भी पात्तो (Patuad) तथा पूगे (Pougat) द्वारा लिखित पुस्तक "How We Shall Bring About the Revolution" मे भावी सघवादी समाज की एक झाँकी मिलती है। समाज की पूर्ण व्यवस्था श्रमिक संगठनो के हाथो में होगी। उद्योगों के प्रबंध के लिए स्थानीय मजदूर सघ होंगे। समाज की सबसे छोटी इकाई के सभी श्रमिक कर्मचारी सदस्य होगे।

लेडलर के अनुसार श्रमिक सघवादियों द्वारा जिस नूतन समाज की कल्पना की गई है, उसमे कन्द्रीय राजनीतिक पद्धति का कोई स्थान नहीं होगा तथा उद्योगो में केन्द्रीकरण की दूषित प्रवृत्तियां दूर हो जाएँगी।[2]

कोकर ने श्रमिकसंघवादियों द्वारा चित्रित समाज की एक झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इसमें मुनाफाखोरों का बहिष्कार किया जाएगा और आलसी व्यक्तियों तथा समाज की नई व्यवस्था का विरोध करने वालों को निर्वासित कर दिया जाएगा। अपने किसी सदस्य के मानव-विरोधी कार्यों के सम्बन्ध में स्थानीय सघ को अपना निर्णय देने का अधिकार होगा। वह नैतिक दड की आज्ञा दे सकेगा। वह बहिष्कार के रूप मे हो सकेगी। कुछ विशेष मामलों में अपराधी मजदूर सघों की सामान्य सभा मे पेश किए जा सकेंगे इसमे निर्वासन का दंड दिया जा सकता है। किंतु अभियुक्त को राष्ट्रीय मजदूर संघ के समक्ष और अंत में जनरल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की केन्द्रीय समिति के समक्ष अपील करने का अधिकार होगा। कुछ घोर अपराधों का

1. *Francis W. Coker*: Recent Political Thought, op. cit., p. 246.
2. *Laidler*: Social Economic Movements, p. 298.

निर्णय प्रत्यक्ष साक्षियों द्वारा दिए गए तात्कालिक न्याय द्वारा किया जाएगा। बंदीग्रह तथा न्यायालय तोड दिए जाएँगे क्योंकि अपराध इस कारण बहुत कम हो जाएँगे। दरिद्रता, समानता तथा पूँजीवाद के दुष्कर्मों से उत्पन्न समाज विरोधी कार्यों के लिए कोई अवसर नही मिलेगा। सामाजिक वातावरण के श्रेष्ठ बन जाने से ऐसे अपराध भी बहुत कम हो जाएँगे जो प्रायः मनोवैज्ञानिक दोषों तथा मानसिक रोगों के कारण होते हैं।

आलोचना एवं मूल्यांकन

श्रमसंघवाद को आवश्यकता से अधिक सिद्धान्तवादी (Doctrinaire), चरमतावादी (Extremist) एवं अति-तर्कपूर्ण (Too Logical) कहा जाता है। इन दुर्बलताओ और अव्यावहारिकताओं के कारण इस विचारधारा का ह्रास हो गया। इसी को दृष्टिगत रखते हुए प्रो० रॉबसन का कथन है कि इसका पतन इसलिए हुआ कि उसका दार्शनिक आधार अरक्षित था, उसके प्रतिपादकों का बौद्धिक स्तर साधारण था और उसका कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं था। श्रमसंघवाद का लोकतन्त्र एवं संसदीय प्रणाली से विरोध है, लेकिन आजकल अनेक देशों में किसी न किसी रूप में यह प्रचलित है और इसके कारण श्रमसंघवाद को इन देशों मे गम्भीरता से नहीं लिया गया। आजकल केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति चल पड़ी है क्योंकि देश की समस्याओं का समाधान केवल केन्द्रीय शक्ति द्वारा ही हो सकता है चूँकि श्रमसंघवाद विकेन्द्रित व्यवस्था की बात करता है। आज के समय मे इसे अव्यावहारिक समझा जाता है। श्रमसंघवाद के विरुद्ध और भी कई आरोप लगाए जाते हैं जिनमें इसके द्वारा वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देना, आम हड़ताल के सिद्धान्त को प्रोत्साहन देना एवं उपभोक्ताओ के हितों की पूर्ण अवहेलना करना आदि है। लेकिन इन सबसे गम्भीर आरोप यह है कि श्रमसंघवादी भावी समाज का कोई स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं करता और किसी विचारधारा के कार्यकर्त्ताओ और अनुयायियों के समक्ष जब तक कोई स्पष्ट चित्र नहीं होता तब तक वे किसी भी उत्साह के साथ योजनाबद्ध तरीके से कार्य नही कर सकते।

इन सारी त्रुटियों के बावजूद भी श्रमसंघवाद में निहित विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। श्रमसंघवाद ने सर्वहारा वर्ग के लिए बहुत ही उपयोगी कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में नहीं बल्कि उत्पादन के रूप में देखते हैं और इसलिए श्रमसंघवादियों की रुचि भौतिक सुख के स्थान पर कार्य से स्वतन्त्रता प्राप्त करने से अधिक है। इसके अलावा यह भी कहा जा सकता है कि श्रमसंघवादियों ने श्रमिकों के लिए अधिक स्वतन्त्रता और उद्योग मे स्वशासन की माँग प्रस्तुत की है। अन्त मे बर्ट्रेण्ड रसल के शब्दों मे श्रमसंघवाद का मूल्यांकन करते हुए कहा जा सकता है कि संघवाद का व्यावहारिकता के विषय में कुछ भी विचार क्यों न हो, इसमें कोई संशय नहीं कि इसने श्रमिक आन्दोलन को पुनः जीवित करने और उसे उन सिद्धान्तों को याद

दिलाने के लिए बहुत कुछ किया, जिनके भुलाए जाने का खतरा था। संघवाद मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में नहीं, बल्कि उत्पादन के रूप में देखता है। संघवादियों की दिलचस्पी भौतिक सुखों की उपलब्धि करने के बजाय कार्य में स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अधिक है। उसने उस स्वतन्त्रता की खोज को पुनर्जीवित किया है जो संसदीय समाजवाद के शासन मे धूमिल पड़ती जा रही थी। वह मनुष्य को यह स्मरण कराता है कि हमारे समाज को जिस चीज की आवश्यकता है वह जहाँ तहाँ सुधार करना नहीं है और न उस प्रकार का तालमेल स्थापित करना है जिसके लिए वर्तमान शक्ति प्रभु एकदम तैयार हो सकते हैं, बल्कि एक आमूल पुनर्निर्माण है, दमन के समस्त कारणों को हटाना है, मानव की रचना-शक्ति को स्वतन्त्र करना है और उत्पादन को एवं आर्थिक सम्बन्धो को विनियमित करने का एक पूर्णरूपेण नवीन उपाय सोचना है। यह गुण इतना महान् है कि इसके सामने समस्त छोटे-छोटे दोष नगण्य हो जाते हैं। यह गुण संघवाद में हमेशा रहेगा यदि यह मान भी लिया जाय कि एक निश्चित आन्दोलन के रूप में वह युद्ध के साथ-साथ समाप्त हो गया।

श्रेणी समाजवाद

(Guild Socialism)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मार्क्सवाद का अनेक यूरोपीय देशों में समाजवादी विचारधाराओं को विकसित करने मे अपना योगदान रहा। इसी प्रकार की एक विचारधारा जो मार्क्सवाद से प्रभावित हुई उनमें एक श्रेणी समाजवाद भी है। जिस प्रकार फ्रांस में श्रमिकों के हितों का संरक्षण करने के उद्देश्य से श्रमसंघवादी विचारधारा प्रचलित हुई उसी प्रकार इंग्लैंड में उसी के समानान्तर 20वीं शताब्दी मे अंग्रेजी विद्वानों ने श्रेणी समाजवाद का उत्पादन किया। जिसके आधारभूत सिद्धान्तों का सर्वप्रथम विवेचन ए० जी० पेन्टी (A. G Penty), ए० आर० ओरेन्ज (A. R. Orange) तथा एस० जी० हाब्सन (S G Hobson), जी० डी० एच० कोल (G D.H. Cole) ने भी इस सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। यह सिद्धान्त 1906 मे ए० जी० पेन्टी की पुस्तक "The Restoration of Guild Socialism" के प्रकाशन के बाद मे ही प्रकाश मे आया क्योंकि यह विचारधारा फ्रांसीसी श्रमसंघवाद के समानान्तर आंग्ल विचारधारा है। इसलिए इसे ब्रिटिश फेबियनवाद और फ्रांसीसी श्रमसंघवाद का बुद्धिजीवी शिशु कहा जाता है। जी.डी.एच. कोल के ग्रन्थ सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory) के प्रकाशन के बाद उसे बुद्धिजीवियों एव अन्य विचारकों ने गम्भीरतापूर्वक लिया।

श्रेणी समाजवाद का अर्थ प्रो० जी० डी० एच० कोल के अनुसार "श्रेणी समाजवाद का सार" इस बात से है कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व राज्य का हो, परन्तु उत्पादन के कार्यों पर गिल्ड का नियन्त्रण हो। उसी के शब्दों मे "श्रेणी-मूलक समाजवाद उत्पादकों तथा राज्य के द्वारा उद्योगों के नियन्त्रण की साझेदारी पर आधारित है।" एफ० डब्लू० कोकर (F W. Coker) के अनुसार "श्रेणी समाजवाद उत्पादकों के विशेष हितों से सम्बन्धित संघवादी विचार तथा सामान्य अथवा सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित राजनीतिक विचार से समन्वय करने का प्रयास है।" कोकर के ही अनुसार "श्रेणी समाजवाद के लिए प्रमुख आर्थिक समस्या दस्तकारी की आत्मा को प्रतिस्थापित करना है, एक ऐसे ढंग की खोज करना है जो श्रमिकों में अपने काम मे दक्षता ही नही वरन् गौरव की भावना उत्पन्न करता है तथा श्रमिकों से अपनी आमदनी के लिए ही नही वरन् अपनी बनाई हुई वस्तुओं की किस्म और अच्छाई के लिए भी रुचि पैदा करे।" कोल के शब्दों मे श्रेणी समाजवाद उत्पादकों तथा राज्य के द्वारा उद्योगों के नियन्त्रक की साझेदारी पर आधारित है।

वर्तमान समाज की आलोचना

श्रेणी समाजवादियों ने जिन आधारों पर वर्तमान समाज की आलोचना की है वे निम्नलिखित हैं—

(1) वर्तमान व्यवस्था पूँजीवादी है जिसमें उत्पादन समाज के लिए नहीं चन्द पूँजीपतियों के हित में किया जाता है। अतः मनुष्य की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए समाज में परिवर्तन लाना आवश्यक है।

(2) इनका कथन है कि वर्तमान-समाज में मानवीय गुण समाप्त हो गए हैं और मनुष्यो की सारी प्रवृत्ति केवल सम्पत्ति की प्राप्ति की दिशा में संलग्न है।

(3) सच तो यह है कि इस व्यवस्था मे श्रमिकों मे और मशीनो मे कोई अन्तर नही है। श्रमिक पूँजीपति के लिए उत्पादन की मशीन बन गया है इससे श्रमिकों का व्यक्तित्व और उनकी दक्षता तथा गौरव सब समाप्त हो जाते हैं। समाज-सहयोग के सिद्धान्त पर निर्भर न होकर प्राणघाती प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त पर आधारित हैं। ऐसे चालाक समाज को बदलना बहुत आवश्यक है। वर्तमान समाज-रचना में केवल पूँजीपतियों का वर्चस्व बना हुआ है। यह व्यवस्था उनको प्रचण्ड अधिकार एवं समस्त सुख-सुविधाएँ प्रदान करती है। वे इन अधिकारो और शक्तियों का उपयोग केवल मुनाफा कमाने में लगाते हैं।

(4) श्रेणी समाजवादियों का वर्तमान समाज पर एक यह भी आरोप है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक का सबसे ज्यादा शोषण होता है। वस्तुओ के मूल्य का निर्धारण उन पर लगे श्रम से होता है, लेकिन उस श्रम का पूरा मूल्य उन्हें नही मिलता। श्रम मजदूर करते हैं, लेकिन उनके परिश्रम का अधिकांश भाग उन लोगों की जेब में जाता है जिनका श्रम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये शोषक वर्ग हैं जिनमें पूँजीपतियों, उद्योगपतियों और भूमिपतियों को लिया जा सकता है।

(5) श्रेणी समाजवादी वर्तमान राजनैतिक लोकतन्त्र को एक प्रपच मानते हैं। यह व्यवस्था कभी भी श्रमिको के हित में नहीं हो सकती क्योंकि इसके मूल में पूँजीवादी व्यवस्था छिपी हुई है। राजनैतिक लोकतन्त्र में तो उद्योगो पर राजकीय नियन्त्रण की बात भी बेमाने होती है क्योंकि वर्तमान लोकतन्त्रीय व्यवस्था कभी भी श्रमिकों का हित सम्पादन नहीं कर सकती।

(6) श्रेणी समाजवादी वर्तमान लोकतन्त्रीय व्यवस्था पर भी निर्मम प्रहार करते हैं। इसके अन्तर्गत कभी भी विभिन्न हितों का सही प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है। भौगोलिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधि केवल अपने वर्ग के हितों का ही मरक्षण करेगा। वर्तमान जनतन्त्र का स्वरूप कभी समाजवादी नहीं हो सकता क्योंकि चुनाव-पद्धति जो कि इसका अनिवार्य अंग है कभी पूँजीपतियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकती, अतः जो व्यक्ति संसद में जाएगा, वह पूँजीपतियों के समर्थन के बिना चुनाव-लड़ने में सक्षम नहीं हो सकेगा। संसद में जाकर भी वह पूँजीपतियों के व्यापक प्रभाव

से मुक्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि एक मजदूर निर्वाचित होने के उपरान्त अपने ही वर्ग से पृथक् कर दिया जाता है। वह निहित स्वार्थों का प्रतिनिधि बन जाता है, अतः श्रेणी समाजवादी इस भौगोलिक आधार पर निर्वाचन के पक्ष में नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि सच्चा प्रतिनिधित्व तो सदैव विशिष्ट व्यावसायिक ही हो सकता है। श्रेणी समाजवादी केवल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही नहीं चाहते वे इसके साथ ही साथ चुनाव-पद्धति में भी आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं। चुनाव-पद्धति को पूँजीपतियों के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त करने के पक्ष में हैं।

श्रेणी समाजवाद का विकास

लेडलर के अनुसार निम्नलिखित तत्त्वों ने श्रेणी समाजवाद के विकास में योग दिया है—

समाजवादी आन्दोलन—समाजवादी आन्दोलन मजदूरी प्रथा को समाप्त करने और मजदूरों को उत्पादन में हिस्सेदार बनाने पर जोर देता रहा है। यही श्रेणी समाजवाद का मुख्य उद्देश्य है। द्वितीय, श्रमसंघवाद का प्रभाव भी एक सहायक तत्त्व माना जा सकता है। श्रमसंघवाद के प्रभाव ने राज्य के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना को जन्म दिया और इसका श्रेणी समाजवाद की उत्पत्ति पर असर पड़ा। तृतीत कुछ ऐसे विचारकों जैसे जान रस्किन, कार्लाइल विलियम मोरिस, आदि विचारकों ने वर्तमान औद्योगिक युग की बुराइयों की ओर मध्ययुगीन औद्योगिक श्रेणियों की स्वायत्तता की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर श्रेणी समाजवाद के जन्म की दिशा में योगदान दिया। चतुर्थ, राज्य समाजवाद के विरोधी विचारकों का प्रभाव भी एक बड़ा तत्व रहा है : इस दृष्टि से गिलबर्ट चेस्टरटन व व हिलार बेलाक (Gilbert Chesterten and Hilaire Bellac) जैसे व्यक्तियों ने राज्य के केन्द्रीकरण की कटु-आलोचना की। जे एन. फिगिस जैसे विचारकों ने राज्य की सम्प्रभुता को चुनौती दी और उसके जैसे अनेक बहुलवादियों ने राज्य की संस्थाओं पर असीमित अधिकार को अव्यावहारिक,अवैधानिक और व्यर्थ का बताया। ऐसे और भी कई विचारको ने राज्य के केन्द्रीकृत स्वरूप की कटु-आलोचना की। पंचम, पूँजी के व्यवसायात्मक सिद्धान्त का भी श्रेणी-मूलक समाजवाद के विकास पर असर पड़ा। तावनी (Tawney), जे०एम० पेटन्स (J. M. Patens), पेन्टी, ओरेन्ज, हाब्सन, और विशेष तौर पर जी. डी. एच. कोल के विचारों ने श्रेणी समाजवाद को बहुत बल दिया। तावनी ने बताया कि सम्पत्ति व्यवसायात्मक होती है अर्थात् यह उसी की होती है जो इसके लिए श्रम करता है। दूसरे शब्दों मे उसका कहना यह था कि जो इसका कार्य न करे उन्हें सम्पत्ति के वितरण या नियन्त्रण का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पेटन्स का हस्तक्षेपी नियन्त्रण का सिद्धान्त था जिसका अर्थ यह था कि उद्योगपतियों को उद्योगों के नियन्त्रण का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पेटन्स ने तो मध्ययुगीन श्रेणियों को एक प्रकार से पुनर्जीवित कर दिया।

जी० डी० एच० कौल के विचार

श्रेणी-मूलक समाजवाद के शक्तिशाली समर्थकों में प्रोफेसर जी. डी. एच. कौल का प्रमुख स्थान है। हम संक्षेप मे, उसके विचार प्रस्तुत करते हैं—

प्रोफेसर कौल का जन्म 1889 में हुआ था। वह लास्की का समकालीन था एवं उसने अपने जीवन का अधिकाश समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे ही व्यतीत किया। वह फेबियन भी रहा है, लेकिन अन्त में वह श्रेणी समाजवाद के प्रमुख उन्नायकों में बन गया। उसके विचार उसकी तीन पुस्तकों-(1) Self Government in Industry, (2) Guild Socialism Restated, एवं (3) Social Theory मे मिलते हैं। उसका 1959 मे देहान्त हो गया।

उसकी मान्यता थी कि औद्योगिक स्वाधीनता के बिना समाज मे परिवर्तन की कल्पना भी नही की जा सकती। वह सत्ता श्रमिकों के हाथ मे देना चाहता था। उसका कथन था कि व्यवसायो को तीन भागों मे बांट दिया जाना चाहिए एवं उन पर श्रेणियों (Guilds) का नियन्त्रण होना चाहिए। राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों जैसे इस्पात, लोहा, रेल, डाक, जहाज-निर्माण आदि का प्रबन्ध वहाँ के मजदूरों की श्रेणियों के हाथ में होना चाहिए। इनको परामर्श देने के लिए राज्य द्वारा राष्ट्रीय समितियां नियुक्त होंगी। इस प्रकार राज्य का नियन्त्रण अप्रत्यक्ष होगा। दूसरे प्रकार के उद्योग वे होगे जो सार्वजनिक उपयोगिता से सम्बन्धित हैं। इस श्रेणी मे पानी, बिजली, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, आवास, आदि को रखा जा सकता है। इनका प्रबन्ध भी सम्बन्धित श्रेणियों द्वारा ही किया जाएगा तथा इनका मार्गदर्शन उपभोक्ताओं की समितियां करेंगी। तृतीय प्रकार के वे व्यवसाय होंगे जिनमें सामान्य हित के लिए निर्माण की जाने वाली वस्तुएँ जैसे कपड़ा आदि सम्मिलित हैं। इन व्यवसायों का नियन्त्रण भी वहाँ काम करने वाली व्यावसायिक श्रेणियां करेंगी एवं उनका मार्ग-दर्शन करने हेतु उपभोक्ता समितियां होंगी। कहने का अर्थ यह है कि सभी स्तरों पर जो व्यवस्था होगी उसमें उत्पादको एवं उपभोक्ताओं की साझेदारी होगी और पूँजीपतियों का सारी व्यवस्था मे कोई हाथ ही नही रहेगा। पूँजीवाद एक संस्था के रूप में समाप्त हो जाएगा।

कौल राज्य को भी कोई विशेष महत्त्व नहीं देता। उसका राज्य के प्रति दृष्टिकोण एक बहुलवादी जैसा है। वह राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष ही मानता था, उनसे ऊँचा अथवा श्रेष्ठ नहीं। उसके अनुसार राज्य अन्य समुदायों की भांति एक समुदाय है; निःसन्देह राज्य का महत्त्व है, लेकिन यह गौरव अकेले राज्य को ही प्राप्त नही हो सकता।[1] वह राज्य को महत्त्व इसलिए देता था कि जब कि अन्य समुदाय व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, राज्य का भौगोलिक आधार व्यापक होता है।

1. *Cole, G. D. H.* : Self Government in Industry, p. 82.

कौल ने गिल्डो की आन्तरिक रचना पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उसने बताया कि समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए प्रत्येक गिल्ड संगठन अपने बाह्य सम्बन्धों एव आन्तरिक क्रिया-कलापो को, सदस्यता की शर्तों के निर्धारण, पदाधिकारियो के निर्वाचन आदि कार्यों को प्रजातान्त्रिक तरीकों पर निर्मित करेगा। गिल्ड सभा का सगठन इस प्रकार किया जाएगा कि जिसमे राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन का आवश्यक एकीकरण एव समन्वय तथा स्थानीय एवं व्यावसायिक स्तर पर व्यक्तियों के हितो की सुरक्षा सम्भव हो सके। उसका मत था कि प्रत्येक गिल्ड यथासम्भव स्वायत्त हो और उसे अपने पदाधिकारियो के चयन, कार्य-सचालन एवं निर्णय-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे पूर्ण अधिकार होना चाहिए। उसी के शब्दों मे, 'प्रत्येक अवस्था में जहाँ व्यक्तियो के समुदाय को किसी एक नेता या अफसर के अधीन कार्य करना पडता है, उसे उस अफसर को पसन्द करने का अधिकार होना चाहिए, प्रत्येक समिति उन व्यक्तियो द्वारा प्रत्यक्ष नीति से चुनी जानी चाहिए जिनके काम पर उसका निरीक्षण होगा।'[1]

प्रत्येक 'दुकान' के लिए एक दुकान समिति होगी जिसका निर्वाचन दुकान के सभी काम करने वाले करेंगे और जिसका काम नियम बनाने और उन पर होने वाले अमल का निरीक्षण करने मे दुकान की दक्षता और उसके हितो की देख-रेख करनी होगी। प्रत्येक 'कारखाने' (उदाहरणार्थ एक स्थान के समस्त इंजीनियरिंग के कारखाने) के लिए विभिन्न दुकानों के कामों और हितो मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रत्येक दुकान के कार्यकर्त्ताओं द्वारा निर्वाचित एक कारखाना समिति होगी। प्रत्येक जिले के लिए एक समिति होगी जिसमें कुछ तो प्रत्येक कारखाने के प्रतिनिधि होगे जिनका निर्वाचन कारखाना-समितियाँ करेंगी और कुछ प्रत्येक शिल्प (Craft) के प्रतिनिधि होगे जो उस जिले के विविध शिल्पों मे भाग लेने वालों द्वारा चुने जाएँगे। उनका काम उस जिले भर मे उस विशिष्ट उद्योग के उत्पादन में व्यवस्था लाना और उस जिले के दूसरे गिल्डो तथा स्थानीय सार्वजनिक अधिकारियो से आवश्यक समझौते करना होगा। प्रत्येक उद्योग में दो राष्ट्रीय गिल्ड संस्थाएँ होंगी, एक तो अपील मे न्यायालय की तरह काम करने और गिल्ड-नीति की रूप-रेखा निर्धारित करने के लिए उस उद्योग के प्रत्येक शिल्प द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो की एक राष्ट्रीय सभा और दूसरी कुछ तो उस जिले के उस उद्योग के समस्त काम करने वालो द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की और कुछ प्रत्येक शिल्प के विभिन्न शिल्पों के राष्ट्रीय मतदान द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति। प्रत्येक 'दुकान' के कार्यकर्ता दुकान के फोरमैन, लिपिक विभाग के सदस्यों, उस विभाग के प्रमुख, उस कारखाने मे हाथ से काम करने वाले मजदूरों तथा कारखाने के मैनेजर का निर्वाचन करेंगे। जिला कमेटी एक जिला सेक्रेटरी की नियुक्ति करेगी जिसका काम माँग और पूर्ति मे उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक आँकडे उपलब्ध कराने सम्बन्धी होगा।

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन से उद्धृत, पृष्ठ 254.

गिल्ड के जनरल सैक्रेटरी को राष्ट्रीय सभा निर्वाचित करेगी और राष्ट्रीय गिल्ड की कार्य-कारिणी कमेटी नियुक्त करेगी। अन्त मे,कारखाना कमेटी द्वारा नियुक्त कारखाना-विशेषज्ञ होगा, जिला कमेटी द्वारा नियुक्त जिला-विशेषज्ञ और राष्ट्रीय कार्यकारिणी द्वारा नियुक्त 'राष्ट्रीय' और 'घूमने फिरने वाले' विशेषज्ञ होगे।

श्रेणी समाजवाद—मुख्य तत्व

यहां श्रेणी समाजवाद के मुख्य तत्वों को, सक्षेप मे, प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्रेणी समाजवादी लोकतन्त्र मे आस्था रखते हुए भी वर्तमान लोकतन्त्र की कटु-आलोचना भी करते हैं। वे वर्तमान लोकतन्त्र के स्वरूप को पूंजीवादी मानते हैं और स्पष्ट घोषणा करते हैं कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता मिथ्या है। उनका कथन है कि यह जनतन्त्र मखौल है क्योंकि साधनो के अभाव मे श्रमिकों के प्रतिनिधि ससद मे मुश्किल से ही पहुँच पाते हैं और जनतन्त्र के नाम पर लिए जाने वाले निर्णय पूंजीपतियो के ही हित में होते हैं। सत्ता समाज के एक छोटे से वर्ग के हाथ में केन्द्रित हो जाती है और उनके हितों के सरक्षण पर ससद अपनी 'मोहर' लगा देती है।

श्रेणी समाजवादियों की जिस लोकतन्त्र मे आस्था है वह व्यावसायिक या औद्योगिक लोकतन्त्र है। इनका कथन है कि वर्तमान प्रजातन्त्र मे जो प्रतिनिधित्व भौगोलिक या क्षेत्रीय आधार पर होता है वह असगत एव अजनतन्त्रीय है जिसमे ऐसा व्यक्ति भी संसद मे पहुँच जाता है जो प्रमुख व्यवसायो का प्रतिनिधित्व नही करता। उदाहरणार्थ, किसी निर्वाचन-क्षेत्र मे श्रमिको, किसानो का बहुमत है, लेकिन एक डॉक्टर या वकील यदि उस क्षेत्र का संसद मे प्रतिनिधित्व करता है तो यह तो जनतन्त्र की मखौल है। किस प्रकार एक भिन्न व्यवसाय का व्यक्ति अन्य व्यवसायो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। प्रायः होता यही है कि सम्पन्न व्यक्ति अपने भरपूर साधनों के कारण संसद मे पहुँच जाते हैं जो कभी जनसाधारण के हितों की वकालत नही कर सकते। इसलिए श्रेणी-मूलक समाजवादियों की मान्यता है कि प्रतिनिधित्व व्यावसायिक या औद्योगिक होना चाहिए।

श्रेणी-मूलक समाजवादी राज्य को समाप्त नही करना चाहते। जैसा कि प्रोफेसर कौल के विचारों का वर्णन करते हुए लिखा जा चुका है कि इनके अनुसार राज्य एक महत्त्वपूर्ण संस्था है जो अन्य संस्थाओ के समकक्ष ही है। इनका राज्य के प्रति दृष्टिकोण बहुलवादियों से काफी मिलता-जुलता है।

वैसे अनेक श्रेणी-मूलक समाजवादी राज्य को लेकर मतभेद भी रखते हैं। हॉब्सन का कथन था कि राज्य की सत्ता कम अवश्य हो जाएगी क्योंकि वह अनेक समुदायो मे बट जाएगी, लेकिन ये समुदाय राज्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। इसके अनुसार अन्तिम सत्ता तो राज्य के हाथ मे रहेगी जिसका कार्य समन्वयकारी

होगा तथा वह गिल्डों पर कर लगाएगा। यद्यपि इन्होंने सम्प्रभुता के बहुलस्वरूप का निर्माण नही किया, लेकिन नि:सन्देह इन्होने उसे लोकप्रिय बनाया या यों कहिए कि कम से कम इससे अन्य लोगों को परिचित अवश्य करा दिया।[1]

श्रेणी-समाजवादियों ने सत्ता के विकेन्द्रित स्वरूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत कर लोकतन्त्र के वास्तविक रूप को उभारने का प्रयास किया। इन्होंने साम्यवाद एव राजकीय समाजवाद की कटु-आलोचना करते हुए यह बताया कि सत्ता के केन्द्रीयकरण से कितने दुष्परिणाम निकलते हैं। प्रत्येक गिल्ड को स्वतन्त्रता तथा अपने आर्थिक मामलो मे स्वायत्तता प्राप्त होगी। वह यह निर्णय करेगा कि कौनसा माल तैयार किया जाए और उसका विक्रय मूल्य क्या हो। वह वेतन का भी निर्धारण करेगा। उसके निजी बैंक होंगे। वह स्वयं अपनी ऋण-व्यवस्था करेगा तथा आवश्यक मशीनो एवं औजारों पर राज्य के ट्रस्टी के रूप मे अधिकार रखेगा।

राज्य के सम्बन्ध मे हॉब्सन और कोल के विचारों में अन्तर है। हॉब्सन का विचार यह था कि श्रेणी समाजवादी समाज मे राज्य को सारे समाज के प्रतिनिधि के रूप मे रहना चाहिए। इसकी सत्ता कुछ श्रेणियों को बाँट कर कम अवश्य करदी जाए, लेकिन अन्तिम सत्ता इसी के पास रहनी चाहिए। उसका मत था कि चाहे राज्य कम काम करे लेकिन फिर भी उसकी सत्ता मे कोई विशेष परिवर्तन नही आता। इसके विचार मे राज्य "सत्ता का आदि स्रोत, अन्तिम न्यायकर्ता और उत्पादनकर्त्ता या उपभोक्ता की हैसियत से, भिन्न नागरिक की हैसियत में व्यक्ति का प्रतिनिधि होगा।" इस अर्थ में हॉब्सन का कथन था कि "हम समाजवादी बने हुए हैं।"[2] हॉब्सन का यह भी विचार था कि राज्य अनेक कर्त्तव्यों का पालन प्रत्यक्ष रीति से भी करेगा। कोकर के शब्दों में हॉब्सन के विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है "राज्य के इन स्वतन्त्र एवं मौलिक कार्यों में अनुपम महत्त्वपूर्ण कार्य है दीवानी (सिविल) तथा फौजदारी कानूनों का निर्माण और उन्हें कार्यान्वित करना। शासन के वर्तमान कानूनी कार्य का अधिकाश नहीं रहेगा। उस आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत जिसका संगठन मुख्यत: जमीदारों, पूँजीपतियों तथा उद्योगपतियों के हित में नहीं हुआ है, भाड़े, ब्याज और लाभ, मालिक-मजदूर तथा जमीदार-किसान मे सम्बन्धित कानून कम महत्त्व के रह जाएंगे। जो अपराध सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होते हैं उनका अधिकार लोप हो जाएगा। हॉब्सन इतना काल्पनिक नहीं था कि ऐसा सोचने लगता कि समस्त अपराधजनक प्रवृत्तियो का विनाश हो जाएगा अथवा गिल्ड के सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए किसी कानूनी दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता नही होगी। दीवानी तथा फौजदारी कानून कायम रहेगा और उसका निर्माण तथा उसे लागू करना राज्य का तात्कालिक कार्य होगा। राज्य को सैनिक

1. *Gray Alexander*: The Socialist Tradition, p. 453.
2. *A. R. Orage (Ed.)*: National Guilds—An Enquiry into the Wage System and the Way Out (1914), p. 133.

रक्षा की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी। वह देश जो गिल्ड-समाजवाद की व्यवस्था के आधार पर संगठित है, आक्रमणात्मक युद्ध तो नहीं करेगा, परन्तु उसके विरुद्ध युद्ध हो सकेंगे, अतः उसे रक्षा के लिए सेना तथा नौ-सेना की आवश्यकता होगी। अन्त में, राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का भी नियन्त्रण करना पड़ेगा, जिनके गिल्ड समाजवाद से शान्तिमय सिद्धान्तों की वर्तमान प्रधानता के कारण, स्वार्थी आर्थिक राष्ट्रीयता की वर्तमान अवस्था में वे जैसे हैं उनसे अधिक घनिष्ठ और पेचीदा हो जाने की आशा की जा सकती है।"[1]

कौल के विचार हॉब्सन से भिन्न थे। वह हॉब्सन के मुकाबले अधिक बहुलवादी था। उसने राज्य को गिल्ड के स्तर पर रखने का और इस प्रकार सर्वशक्ति सम्पन्न तथा राज्य से पूर्णतः मुक्ति पाने का स्पष्ट प्रयत्न किया। कौल का मत था कि राज्य यद्यपि अनिवार्य है, लेकिन फिर भी अन्य समुदायों में से केवल एक है और उनकी भाँति इसके पास भी उतनी ही सत्ता होनी चाहिए जिससे वह समाज में अपने विशिष्ट कार्यों को सुचारु रूप से कर सके। उसने आर्थिक पक्ष में उपभोक्ता के प्रयोग एवं उपयोग के नियम के अधिकार का उत्पादनकर्त्ता के उत्पादन पर नियन्त्रण के अधिकार के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। कोकर के शब्दों मे कौल ने "उत्पादन-कर्त्ता के दायित्व तथा स्वशासन की समुचित मांग की पूर्ति के लिए समाज के गिल्ड-संगठन को उत्पादन की अवस्थाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए। राष्ट्र के उत्पादन के समुचित वितरण तथा जिन सेवाओं एवं वस्तुओं की उसे आवश्यकता है उनकी पूर्ण व्यवस्था के उपभोक्ता के दावे को सन्तुष्ट करने के लिए राज्य का उत्पादन के साधनो पर स्वाम्य होना चाहिए और उसे मूल्य तथा आमदनी के वितरण का नियमन करना चाहिए। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संगठित संस्था उपभोक्ताओ के रूप में नागरिको का प्रतिनिधित्व करने के योग्य है।"[2]

कौल ने हॉब्सन के इस दावे का पूर्ण खण्डन किया है कि राज्य का सर्वोच्च कार्य समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति करना और समाज के विभिन्न प्रकार के समुदायों के कार्यों का निर्देशन करना तथा उनमे सम्बन्ध स्थापित करना है। कौल ने तो इस धारणा को भी अस्वीकृत कर दिया है कि राज्य उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करता है। उसने आर्थिक एवं नागरिक सेवाओं के नियन्त्रक के रूप में भी राज्य को स्वीकार नहीं किया है। उसने श्रेणी समाजवाद पर जो अपना नवीनतम ग्रन्थ लिखा उसमे राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर एक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य की धारणा को पूर्ण रूप से अस्वीकृत किया है। वह मार्क्सवादी होने का परिचय देता है जबकि वह राज्य को एक वर्ग के हाथ मे कठपुतली मानकर उसे वर्ग दमन का यन्त्र बताता है। यही कारण है कि वह एक श्रेणी समाजवादी समाज

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 260-261.
2. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 261.

मे जिसका मूल मत्र सहयोग है, राज्य को कोई भी विशिष्ट स्थान देने के पक्ष में नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि प्रो० कौल राज्य को अन्य समुदायों की भाँति ही एक *समुदाय मानता था। उसको यह आशा थी कि राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर देने से वह प्रभावहीन हो जाएगा और एक दिन यह भी आ सकता है कि वह लुप्त* भी हो जाए। यहा कौल मार्क्सवादी है और वह मार्क्स की भाँति राज्य के लुप्त होने की बात कहता है लेकिन मार्क्स और कौल मे यहाँ एक भारी अन्तर भी है। मार्क्स सक्रमण काल में राज्य को बलवान बनाने के पक्ष में था और कहता है कि राज्य तब मुर्झाएगा जब कि समाज मे दो वर्ग नही रहें, लेकिन कौल राज्य को एक क्षण भी इतनी शक्तियो को देने के पक्ष में नहीं था। वह राज्य को प्रारम्भ से ही भूखा रखना चाहता है ताकि यह क्षय रोग से पीडित हो कर लुप्त हो जाए, लेकिन मार्क्स पहले राज्य को खूब मोटा करता है, बलवान बनाता है, फिर यह आशा करता है कि यह समाप्त हो जाएगा। सच तो यह है कि यहाँ कौल मार्क्स के मुकाबले अधिक यथार्थवादी है।

कौल के विचारों मे एक प्रश्न निकाला जा सकता है और वह यह कि यदि राज्य समन्वय का कार्य नही करेगा तो यह कार्य कौन करेगा ? राज्य की अधिक आवश्यकता, जो उसे एक विशिष्ट स्थान देती है, इस बात में है कि भिन्न-भिन्न समुदायो के मध्य समन्वय स्थापित करने का कार्य कौन करेगा। इसी समस्या को ध्यान मे रखते हुए बहुत सारे बहुलवादियो ने इस कार्य को राज्य को सौंपा है और उसे एक विशिष्ट समुदाय कहा है लेकिन कौल इस बात को भी स्वीकार करने को तैयार नही था। उसने भिन्न-भिन्न समुदायों के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य कम्यून प्रणाली (Commune System) को दिया है जिसका ढाचा वर्तमान राज्य से भिन्न होगा। राज्य के स्थान पर कम्यून की स्थापना की जावेगी। कम्यून का यह मत था कि *कम्यून समस्त समाज की सामाजिक आत्मा की अभिव्यक्ति करने वाली और* समस्त सस्थाओं का आवश्यक एकीकरण करने वालों की संस्था है और इसलिए यह न तो वर्तमान राज्य की उत्तराधिकारिणी संस्था है और न ही यह अपने सगठन मे वर्तमान राजनैतिक यंत्र के रूप में ही है। वह कम्यून का संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर करना चाहता था। उसका मत था कि प्रत्येक स्तर का सगठन *अपने समानान्तर गिल्ड संगठन से निकट सम्पर्क रखेगा।*

श्रेणी-समाजवाद कम्यून पद्धति को महत्व देता है। कम्यून श्रेणी-समाजवाद के सिद्धान्तों पर आधारित समाज की एकीकरण करने वाली संस्था होगी जिसका सगठन राज्य के संगठन से पृथक् होना चाहिए। विविध गिल्डो के स्थानीय तथा प्रादेशिक सघ होने चाहिए तथा एक राष्ट्रीय सामाजिक संस्था भी होनी चाहिए जो राष्ट्रीय गिल्डों तथा प्रादेशिक कम्यूनों-दोनों की प्रतिनिधि हो। स्थानीय प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सगठनों के सम्बन्ध मे कम्यूनो के निम्नलिखित कार्य बताए गए हैं—

(1) कम्यून को आर्थिक मामलों में व्यापक अधिकार होने चाहिए जिसमें

मूल्यों का अन्तिम नियन्त्रण भी सम्मिलित है। कार्य-निर्धारण भी इसके अधीन होना चाहिए तथा ऋण पर अन्तिम निर्णय करने का भी इसे अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(2) कम्यून को ऐसे मामलों पर भी निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए जिनका निर्णय गिल्ड कौंसिलें या गिल्ड कांग्रेस न कर सके।

(3) कम्यून को विभिन्न व्यावसायिक संघों के बीच समन्वय कार्य भी करना चाहिए।

(4) देश की सुरक्षा, वैदेशिक मामले, व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों के नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार भी इन्हे प्राप्त होने चाहिए। अन्त में कम्यून का व्यक्तियों तथा व्यावसायिक संस्थाओं पर यह नियन्त्रण होना चाहिए कि उनको नियमों का पालन करने के लिए बाध्य कर सके।

(5) गिल्ड समाजवादी जिनमे हॉब्सन तथा कोल प्रमुख हैं उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु उनके प्रबन्ध का काम व्यक्तिगत उद्योगों के समान विविध गिल्डों से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं के हाथों मे ही रखना चाहते हैं।

गिल्ड समाजवादी वस्तुओं के मूल्य गिल्डों द्वारा पृथक्-पृथक् या विभिन्न गिल्डों के पारस्परिक समझौते के द्वारा नियत किए जाने में विश्वास रखते है। यद्यपि कोल और हॉब्सन में यहाँ कुछ मतभेद हैं। कोल का विचार था कि मूल्य-निर्धारण का कार्य कम्यून को सौंपा जाए जब कि हॉब्सन के मत मे मूल्य नियन्त्रण पर राज्य की सत्ता अप्रत्यक्ष रूप से होनी चाहिए।

जहाँ तक पारिश्रमिक देने का प्रश्न है हॉब्सन तथा कोल दोनों ने प्रारम्भिक निर्णय का अधिकार गिल्ड को दिया, लेकिन फिर यह अधिकार राज्य तथा कम्यून को दिया गया। पारिश्रमिक कितना मिलना चाहिए इसके सम्बन्ध में श्रेणी समाजवादियों का आदर्श पूर्ण समानता का है। लेकिन यह एकदम सम्भव नहीं है। कोल के शब्दो में, "मैं समझता हूँ कि आमदनी की समानता गिल्ड-समाजवाद की स्थापना के लिए कोई शर्त नहीं बनाई जा सकती और न बनानी चाहिए क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि वे नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ, जो ऐसी समानता की प्रतिष्ठा को सम्भव कर सकेंगी, स्वतन्त्र समाज के वातावरण में ही और वह भी धीरे-धीरे ही उत्पन्न हो सकती हैं। यह आवश्यक रूप से सत्य है कि यदि समानता ही आमदनी की समस्या का एकमात्र समाधान सिद्ध हो (जैसा मेरा विचार है) तो वह स्वतन्त्र तथा प्रजातान्त्रिक औद्योगिक एवं सामाजिक संस्थाओं के वास्तविक अनुभव से ही क्रमशः विकसित हो सकेगी और मेरा यह भी विश्वास है कि जब अन्त मे समानता स्थापित होगी तो वह "पारिश्रमिक की समानता" के सिद्धान्त रूप में नहीं, वरन् किए गए काम के लिए पारिश्रमिक के विचार मात्र के त्याग के रूप में और इस ज्ञान के रूप मे आएगी कि [illegible] समस्या राष्ट्रीय आय के

किसी विशेष काम या सेवा के विचार से समाज के सदस्यों में बांटने की ही समस्या है।"[1]

अन्त में श्रेणी-समाजवाद का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि "सामाजिक नियन्त्रण का वर्तमान की अपेक्षा अधिक विस्तार करना अर्थात् व्यक्ति को अपने व्यक्तियों तथा दायित्वों का अपने व्यावसायिक संस्थाओं के बीच वितरण कर सकने का अधिकार देना है।"[2]

श्रेणी समाजवाद के साधन

श्रेणी समाजवादी विकासवादी तरीके से परिवर्तन में विश्वास रखते हैं और चाहते हैं कि वैधानिक उपायों से पूरी सत्ता अपने हाथ में लेकर समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया को पूरा करें। प्रो० कौल ने लिखा है कि शीघ्रता से क्रान्ति लाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि विकासवाद के मार्ग द्वारा उन सब शक्तियों को दृढ़ करना जिससे आने वाली क्रान्ति एक वर्ग-युद्ध न होकर समाज मे क्रियाशील वृत्तियों का एक अन्तिम परिणाम व प्राप्त तथ्य सी मालूम हो। जिन विकासवादी तरीकों को श्रेणी समाजवादी काम में लाना चाहते हैं वे संक्षेप मे निम्नलिखित हैं—

(1) सामाजिक ढांचे पर मजदूरों के क्रमिक नियन्त्रण का प्रयास जिसका अर्थ प्रो० कोकर के शब्दों मे यह है कि श्रेणी समाजवादी शनैः-शनैः नियन्त्रण की इस पद्धति का अर्थ-स्वामियों से अधिकारों को छीन कर मजदूरों के हाथों मे समर्पित कर देने से है।

(2) परिवर्तन के लिए अपनाए गए साधनों में औद्योगिक प्रतियोगिता भी है। इसका अर्थ यह है कि मजदूर अपने संगठनों द्वारा सामूहिक सहयोग पर आधारित वस्तुओं का निर्माण करें तथा पूंजीपतियों के प्रतिष्ठानों से प्रतिस्पर्द्धा मे उतरें।

(3) इसी प्रकार की एक पद्धति सामूहिक ठेके की है जिसका अर्थ यह है कि मजदूर मिल मालिकों से ठेके पर काम ले लें और उसे शीघ्रता से समाप्त करदें। अपने शेष समय में और कोई काम कर लें। इसके पीछे लाभ यह है कि कार्य-प्रबन्ध श्रमिकों के हाथ मे आ जाएगा।

आलोचना एवं मूल्यांकन

श्रेणी-समाजवादियों पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि उनको अपने इस विचार की प्रेरणा मध्ययुगीन यूरोप की श्रेणी-व्यवस्था से मिली जो कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में खरी नही उतर सकती। हर युग की अपनी-अपनी समस्याए होती हैं जिनका समाधान राज्य को ढूंढना पडता है। आधुनिक समय में हाथ-करघे का काम तो हो सकता है कि गिल्डों को सौंप दिया जाए, लेकिन आधुनिक अस्त्र-शस्त्र और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए विशाल सेना का संचालन क्या गिल्ड या कम्यून कर सकते है।

1. *G. D. H. Cole* : Guild Socialism Restated, pp. 72
2. *G. D. H. Cole* : Socialism Theory, p. 140.

यह भी कहा जाता है कि मध्ययुगीन श्रेणियाँ भी अनेक दोषों से ग्रस्त थीं। पेन्टी ने मध्ययुगीन श्रेणियों की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है वास्तविक कम हैं काल्पनिक ज्यादा हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि वे वास्तव मे इतनी आदर्श थी तो उनका पतन क्यों हुआ। लेडलर का यही विचार है कि वर्तमान औद्योगिक प्रणाली और मध्ययुगीन समय की श्रेणी-प्रणाली आज दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। उसका विचार है कि मध्य-युग मे पारस्परिक झगडों के कारण जब वे समाप्त हो गईं तो वे आज कैसे एक भिन्न वातावरण मे पुनर्जीवित की जा सकती हैं। इसलिए इन दोनों मे किसी प्रकार का स्वरूप अथवा भावना में साम्य नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि या तो कम्यून व्यवस्था सफल ही नही होगी और यदि सफल भी हुई तो उसका स्वरूप राज्य जैसा हो जाएगा। यदि कम्यून ने राज्य का रूप धारण कर लिया तो फिर वर्तमान राज्य ने क्या बिगाडा उसी को चलने दिया जाए। इसलिए कारपेन्टर ने ठीक कहा है कि विभिन्न श्रेणियों के बीच संघर्ष की आवश्यकता मे यदि कम्यून किसी श्रेणी को दबा सकते हैं तो फिर राज्य में और कम्यून में क्या अन्तर रहा। कारपेन्टर का कथन है कि यह ठीक है कि सर्वसत्तामान राज्य जो कार्य करता है वह अच्छा नही होता,पर वह कार्य तो है। यह कार्य नपुंसक कम्यूनो द्वारा किए जाने वाले सम्भावित कार्यों की अपेक्षा तो अधिक ही होगा।[1]

लेडलर का श्रेणी समाजवाद पर एक आरोप यह भी है कि यह उत्पादन पर अधिक जोर देता है और इसकी तुलना में श्रमिक का हित गौण हो जाता है।

श्रेणी-समाजवाद को मान लेने पर सिडनी वेब तथा अन्य आलोचको का यह मत है कि अनेक भिन्न प्रकार की समस्याएँ सामने आ जाएँगी। जैसा कि श्रेणी समाजवादी कहते हैं कि फोरमैन या कारखानो का निरीक्षक श्रमिकों के द्वारा चुना जाना चाहिए और उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करने पर उसे हटा देना चाहिए, तो व्यवहार मे निरीक्षक श्रमिक के अधीन हो जाएगा और फिर वह उसका निरीक्षण नही कर पाएगा। श्रेणी-समाजवाद के अन्तर्गत एक प्रकार से दो संसदो की व्यवस्था भी निहित है जो व्यावहारिक एवं खतरनाक हो सकती है। इनमें एक राजनैतिक संसद कही जा सकती है और दूसरी आर्थिक। जिनमें एक का संगठन प्रादेशिक आधार पर और दूसरे का व्यावसायिक आधार पर होगा। यह बड़ा आश्चर्यजनक और अटपटा लगता है कि राजनैतिक संसद राज्य का अंग होगी जबकि आर्थिक संसद श्रेणियों और कम्यूनो का अंग होगी। इन दोनों के बीच संघर्ष होने पर कौन निर्णायक फैसला देगा यह अस्पष्ट है।

श्रेणी-समाजवाद की एक आलोचना यह की जा सकती है कि यह एक ओर राज्य पर प्रहार करता है, लेकिन दूसरी ओर इसके बिना यह रह भी नही सकता। यह बडी अजीब स्थिति है। अर्नेस्ट बार्कर ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है

1. *Carpenter*: Guild Socialism (N. Y. Appleton), p. 273.

कि गिल्ड चाहे जितने अधिकारों का दावा करे या उन्हें चाहे प्राप्त भी करले फिर भी राज्य एक आवश्यक सामंजस्य बनाए रखने वाली सत्ता बना रहेगा और इसकी भी सम्भावना है कि यदि समुदायों के पास अधिक सत्ता आती है तो राज्य को लाभ ही होगा, हानि नहीं क्यों कि उसे अधिक गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करना होगा।[1] अन्त में लास्की के शब्दों में भी राज्य की महत्ता को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। उसके शब्दों मे, "और सब संस्थाओ में सरकार सबसे महत्त्वपूर्ण है, इस बात को धार्मिक राज्यों के समर्थकों को छोड़ कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।"

अलेक्जेन्डर ग्रे ने एक अलग दृष्टि से श्रेणी-समाजवाद पर आरोप लगाया है। उसने लिखा है कि *श्रेणी-समाजवाद ने समाजवाद की अवधारणा को और भी* धूमिल, अस्पष्ट कर दिया है। इसने राजकीय समाजवाद के पुराने विचारों को बड़े प्रभावशाली ढग से समाप्त कर दिया, लेकिन इसको समाप्त कर यह कोई ठोस चीज समाजवाद को दिशा में देने में असमर्थ रहे।[2]

श्रेणी-समाजवादियों के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है जिसने राज्य समाजवाद में *केन्द्रीयकृत राज्य के खतरों को बड़े तर्कसगत ढंग से स्पष्ट किया।* इतना ही नहीं उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको की हिस्सेदारी और व्यवसायात्मक लोकतन्त्र के सिद्धातों को भी बहुत अच्छे ढग से प्रस्तुत किया।

वैचारिक स्तर पर कोकर के शब्दो मे श्रेणी-समाजवाद के प्रभाव को रखा जा सकता है। प्रो० कोकर ने लिखा है कि, "गिल्ड समाजवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कुछ सिद्धान्तों को प्रभावित किया है, विशेष रूप से 'बहुलवादियो' के इस सिद्धान्त को *सुझा कर या उसका समर्थन करके कि वर्तमान उद्योग की अवस्थाओ के अधीन* स्वतन्त्रता तथा समानता की प्राप्ति कुलीनतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर समाज के स्वतन्त्र शासन के रूप में समष्टिवादी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था स्थापित करने से नहीं, वरन् केवल मजदूरो के स्वायत्तशासी समुदायो मे, जो समाज-सेवा के लिए विशिष्ट आर्थिक या सास्कृतिक कार्य के लिए सगठित हो सत्ता का विभाजन करने से ही होगा।"[3]

1. *Ernest Barker* : Political Thought in England, p. 178-79.
2. *Alexander Gray* : The Socialist Tradition, op. cit, p. 4 8.
3. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 267-68

10 प्रजातांत्रिक समाजवाद एवं लोक-कल्याणकारी राज्य

(Democratic Socialism and Welfare State)

अध्याय 7 में हमने विकासवादी, समाजवाद के अन्तगत समाष्टवाद, फेबियनवाद एवं पुनर्संशोधनवाद का अध्ययन किया था। हमने यह बताया कि किस प्रकार इनके समर्थन मे लोग राज्य को समाज-परिवर्तन के एक आवश्यक साधन के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा जनतन्त्रीय व्यवस्था की व्यावहारिकता पर जोर देते हैं। ये लोग मार्क्स से अवश्य प्रभावित हैं,[1] पूँजीवादी व्यवस्था के कटु आलोचक अवश्य है, लेकिन फिर भी राज्य की उपादेयता को भी स्वीकार करते हैं। इन्होने समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया मे राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका को देखा है। जनतन्त्र मे पूरी आस्था न होते हुए भी इन्होंने इसकी भर्त्सना नही की। इन लोगो की विशेषता यह है कि इन्होने मार्क्सवादियों की भाँति प्रजातन्त्र को पूर्णतया अस्वीकृत नही किया और न ही उनकी भाँति इन्होने राज्य को केवल एक वर्ग की वस्तु ही माना।

उपर्युक्त वर्णित विचारो को विकासवादी समाजवाद के अन्तर्गत रखा जाता है जबकि इनके इर्द-गिर्द एक अन्य विचारधारा है जिसे प्रजातान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) कहा जाता है। इन दोनों मे बहुत सारी बातें समान हैं, लेकिन दोनो मे एक मूल अन्तर भी है। वह अन्तर यह है कि विकासवादी समाजवाद प्रजातन्त्र एवं राज्य की समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में केवल एक भूमिका मानता है और समाजवाद के विकासवादी स्वरूप को स्वीकार करता है जबकि प्रजातान्त्रिक समाजवाद के लिए प्रजातन्त्र और समाजवाद—ये दोनों अवधारणाएँ एक दूसरे से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध हो गई हैं. समाजवाद केवल प्रजातान्त्रिक तरीके से ही आना है।

प्रजातान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत प्रजातन्त्र और समाजवाद दो अवधारणाएँ आती है। जिस प्रकार आज इन दो अवधारणाओं को लेकर विश्व के राष्ट्र जाने

1. "केवल प्रजातन्त्र से वर्गीय शत्रुता का नाश नही हो सकता और न उससे वर्तमान समाज के अन्तिम विनाश को आवश्यक ही बताया जा सकता है।"

—कार्ल कौट्स्की : रोड टू पावर, पृष्ठ 101.

जाते हैं वह बहुत ही दिलचस्प विषय है । प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र आज जो कहे जाते हैं उनकी समाजवाद में आस्था नहीं है, समाजवाद में आस्था रखने वाले राज्य प्रजातन्त्रवादी नहीं कहलाते । सामान्य तौर पर पश्चिमी देश अपने को प्रजातन्त्रवादी कहते हैं तो साम्यवादी देश जैसे रूस,चीन एवं पूर्वी यूरोप के अनेक राज्य समाजवादी कहलाते हैं ।[1] उपर्युक्त विवेचन से तो ऐसा लगता है कि मानों प्रजातन्त्र और समाजवाद परस्पर विरोधी अवधारणाएँ हों । अत. इन दोनों का विवेचन करना यहाँ आवश्यक है ।

समाजवाद पर प्रथम अध्याय में पर्याप्त रूप से लिखा जा चुका है एवं अन्य अध्यायों में जहाँ समाजवादी चिन्तकों के सम्बन्ध में आवश्यकता हुई लिखा गया है । इसके अनेक प्रकारो के सम्बन्ध में भी चर्चा हो चुकी है । प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है । यद्यपि यह भी एक ऐसी अवधारणा है जो बहुचर्चित है एव राजनीति शास्त्री ही नहीं बल्कि अन्य लोग भी इसके बारे में कुछ न कुछ अवश्य जानते हैं ।

ईसा मसीह से पाँचवीं सदी पूर्व हेरोडोटस ने प्रजातन्त्र का अर्थ "बहुसंख्यक लोगों का राज्य" या एक ऐसा समाज समझा था जिसमे अधिकारों की समानता होती है ' तथा यहाँ राजनीतिक पदाधिकारी अपने कार्यों के लिए उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं जिन पर वे शासन करते हैं । जनतन्त्र की चर्चा करते समय जेम्स ब्राइस का नाम स्वतः जबान पर आ जाता है अतः उसकी दी गई परिभाषा का भी यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा । उसके शब्दों में "प्रजातन्त्र ऐसा शासन है जिसमे योग्य नागरिको के बहुमत की इच्छा से शासन होता है, यह मानते हुए कि ऐसे सुयोग्य नागरिक देशवासियो के अधिकाश मोटी तौर से, तीन चौथाई होते हैं ताकि इस प्रकार नागरिकों की शारीरिक सत्ता मोटी तौर पर उनकी मत देने की सत्ता के बराबर हो जाती है ।"[1]

प्रजातन्त्र को प्राय: समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव से जोड़ दिया गया है। यह सामान्य व्यक्ति में आस्था रखने वाला सिद्धान्त है । यह दार्शनिक दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एव बौद्धिक धरातल पर सबको एक सा मानकर चलता है । प्रजातन्त्र राज्य का प्रकार, शासन की पद्धति ही नहीं बल्कि जीवन का एक तौर-तरीका है । स्वतन्त्रता,समानता एवं भ्रातृभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आने चाहिए एव इन्हे प्राप्त करने के लिए अपनाए जाने वाले साधन विशुद्ध स वैधानिक, अहिंसक एव शांतिपूर्ण होने चाहिए ।

प्रोफेसर कोकर के अनुसार "प्रजातन्त्र के पक्ष में तीन तर्क मुख्य एवं अनेक प्रकार से सम्बद्ध रूपो मे प्रस्तुत किए गए हैं अर्थात् (क) प्राकृतिक अधिकारो का

1. *Bryce* : Modern Democracies (1921), p. 22.

सिद्धान्त, जो प्रथम उत्तर आधुनिक काल में प्रजातन्त्र के समर्थन के रूप में प्रकट हुआ, (ख) यह सिद्धान्त कि उपयोगिता का मानदण्ड या अधिक लोगों के सुख का मानदण्ड प्रजातन्त्र को अन्य शासनों की अपेक्षा ग्राह्य बना देता है और (ग) आदर्शवादी सिद्धान्त, जिसकी स्थापना गत 50 वर्षों से हुई है और जिसके अनुसार मानव-व्यक्तित्व की विशिष्ट शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए सुयोग प्रजातन्त्र में ही प्राप्त हो सकता है।"[1] प्राकृतिक अधिकारों की कसौटी पर यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सामान्य मनुष्यों को उनको जीवन, स्वतन्त्रता तथा न्यायालय में न्याय प्राप्त करने के समान अधिकार हैं उसी प्रकार शासन में उन्हें भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए जो कि शासन-निपुणता तथा न्याय में उनके समान हित हैं। प्रजातन्त्र के पक्ष में उपयोगितावादी तर्क यह दिया जाता है कि "जहाँ तक शासन अपने प्राथमिक राजनीतिक कार्यों—आन्तरिक तथा बाहरी शत्रुओं से रक्षा, विवादों का निर्णय, शिक्षा की व्यवस्था तथा अन्य सामान्य आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था के समुचित एवं न्यायपूर्ण सम्पादन द्वारा मनुष्यों के कल्याण की अभिवृद्धि करते हैं, वहाँ तक प्रजातन्त्रीय शासकों ने वास्तव में ऐसे परिणाम उत्पन्न किए हैं जो कम से कम उतने ही संतोषजनक हैं जितने एकतन्त्रीय तथा कुलीनतन्त्रीय शासनों के परिणाम रहे हैं।"[2] प्रजातन्त्र के पक्ष में सबसे प्रभावशाली तर्क आदर्शवादी कल्पना पर आधारित है। जैसा कि जान स्टुअर्टमिल ने भी कहा है कि "प्रजातन्त्र का सर्वोच्च गुण यह है कि वह साधारण व्यक्तियों के चरित्र एवं बुद्धि को क्रियाशील बनाता है।" इसी को आगे बढ़ाते हुए कोकर ने लिखा है कि "किसी श्रेष्ठ व्यक्ति या वर्ग का शासन, वह चाहे कितना ही बुद्धिमत्तापूर्ण, उत्साही एवं ओजस्वी क्यों न हो, अच्छे शासन का यह जो अभीष्ट परिणाम है, उसे नहीं पा सकता। वह नागरिकों को अपनी बुद्धि और शक्ति का प्रयोग भौतिक एवं स्वार्थमय कार्यों तथा आनन्द की प्राप्ति करने के लिए प्रोत्साहन देता है और एक सीमा तक वास्तविक मानवीय शक्तियों को काम में लाने के सुयोगों एवं अवसरों को सीमित कर देता है। सार्वजनिक मामलों में भाग लेने से व्यक्ति संकुचित अहंकारवृत्ति से दूर हो जाता है और उसके हितों तथा कल्पना के क्षेत्र में विस्तार हो जाता है।"[3]

प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त लेकिन उपयोगी विवेचन के उपरान्त अब समाजवाद के सम्बन्ध में दो शब्द कहे जा सकते हैं। समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत प्रथम आर्थिक पक्ष आता है क्योंकि वैयक्तिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए आर्थिक समानता आवश्यक है। इसके अन्तर्गत दूसरा जोर स्वतन्त्रता पर अधिक न होकर समानता पर है और यह भी राजनीतिक इतनी नहीं जितनी कि आर्थिक समानता है। इसकी मान्यता यह है कि आर्थिक

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 273.
2. वही, पृ. 275.
3. वही, पृ. 276.

समानता के आते ही राजनीतिक समानता स्वतः आ जाती है, केवल राजनीतिक समानता अथवा स्वतन्त्रता का आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता के अभाव में कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

कई लोग प्रजातंत्र और समाजवाद को परस्पर विरोधी अवधारणाएँ भी कह देते हैं। उनका कथन है कि प्रजातंत्र वैयक्तिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का हामी है जबकि समाजवाद इस पर अंकुश लगाता है। प्रजातंत्र में राज्य की बढ़ती हुई शक्तियों को सशंकित दृष्टि से देखा जाता है। प्रायः व्यक्ति बनाम राज्य की बात कही जाती है जबकि समाजवाद मे तो राज्य से समाज के संरक्षक और मित्र के रूप में काम लिया जाता है और ऐसी भूमिका प्रदा करने के कारण उसकी शक्तियों में जबर्दस्त वृद्धि भी हो जाती है और उसके शक्तिशाली होने के कारण वह अनेक अवसरों पर व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन भी कर सकता है। फिर तो वही व्यक्ति की स्वतंत्रता का नियामक एव नियंत्रक बन जाता है। जब राज्य को समाज के प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वह प्रतिनिधि से स्वामी भी बन सकता है जिसका अर्थ यह हुआ कि चन्द लोग राज्य की आड़ में समाज पर अपना व्यक्तित्व स्थापित कर सकते हैं। यहाँ प्रजातंत्र और समाजवाद मे पारस्परिक विरोध प्रतीत होता है।

एक दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत किया जाता है जिसके अन्तर्गत प्रजातत्र और समाजवाद परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। प्रजातंत्र जो स्वतत्रता पर जोर देता है अधूरा है जब तक कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त न हो। उदाहरण के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत चन्द पूँजीपति समाज के भौतिक साधनों को अपने हाथों में केन्द्रित कर राजनीति पर आच्छादित हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप अधिकांश लोगों का जीवन कष्टमय हो जाता है। यदि इस बात के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है तो पूँजीपतियो एव उनके समर्थकों द्वारा यह आवाज उठाई जाती है कि प्रजातत्र खतरे मे है और वैयक्तिक स्वतत्रता का अपहरण हो रहा है। इस संदर्भ में यदि देखा जाए तो समाजवाद प्रजातंत्र का पूरक है और इसके बिना प्रजातंत्र का अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। समाजवाद आर्थिक कार्यक्रम देकर न्याय और सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करता है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व पर अंकुश लगाकर उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनो पर समाज का नियत्रण स्थापित करना चाहता है ताकि चन्द लोग अपने अपरिमित साधनों के बल पर समाज और शासन पर आच्छादित न हो जाएँ। इस प्रकार यह आर्थिक समानता लाकर सबको वास्तविक स्वतंत्रता के उपभोग का अवसर प्रदान करता है। यहाँ प्रजातंत्र और समाजवाद एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक होते हैं। प्रजातंत्र के बिना समाजवाद अधिनायकवादी और अनुत्तरदायी बन जाता है तथा समाजवाद के बिना प्रजातत्र चन्द प्रभावशाली व्यक्तियों का शासन मात्र रह जाता है।

इस प्रकार प्रजातंत्र और समाजवाद दोनों को मिलाकर प्रजातांत्रिक समाजवाद की एक अवधारणा बनी। इसके समर्थक प्रजातांत्रिक तरीकों के द्वारा समाजवाद की स्थापना मे विश्वास रखते हैं। इनकी मान्यता है कि समाज-परिवर्तन के लिए हिंसा की कोई आवश्यकता नही है। गरीबी, शोषण, अज्ञान, विषमता आदि सभी सामाजिक खराबियाँ राज्य द्वारा शान्तिपूर्ण तरीकों से समाप्त की जा सकती हैं। इनका वैयक्तिक सम्पत्ति से भी कोई विरोध नही है, वे तो केवल इसकी शोषक प्रवृत्ति का उन्मूलन कर देना चाहते हैं। ये सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों को सामाजिक स्वामित्व के अन्तर्गत लाना चाहते हैं। इनके लिए व्यक्ति और समाज में कही विरोध नही है। व्यक्ति का विकास केवल समाज मे ही संभव है और राज्य समाज का प्रतिनिधि होने के नाते व्यक्ति के विकास में योगदान ही देता है। इस प्रकार इनके अनुसार प्रजातांत्रिक समाजवाद वास्तविक स्वतंत्रता और समानता का सफल प्रहरी है।

लाइमन टावर सारजेंन्ट (Lyman Tower Sargeant) ने प्रजातांत्रिक समाजवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है—

"जनतांत्रिक विधि से निर्वाचित सरकार द्वारा अधिकांश सम्पत्ति, बड़े उद्योगों, उपयोगिताओं और परिवहन आदि पर सार्वजनिक स्वामित्व, निजी सम्पत्ति के संचय पर सीमाएँ एवं समूची अर्थ-व्यवस्था का सरकारी नियमन।"[1]

सारजेंन्ट की उपर्युक्त परिभाषा से प्रजातांत्रिक समाजवाद के निम्नलिखित अर्थ निकाले जा सकते हैं—

(1) समाज की अधिकाश सम्पत्ति पर सरकार का नियंत्रण,

(2) सरकार का जनतांत्रिक तरीके से निर्वाचित होना,

(3) निजी सम्पत्ति का अत्यन्त सीमित अर्थ मे होना,

(4) सार रूप मे एव समाज की अर्थ-व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में सरकार द्वारा नियमन।

अन्त मे, प्रजातांत्रिक समाजवाद की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह एक वर्ग-विशेष के स्थान पर समूचे समाज के चिन्तन पर बल देता है। वर्ग-विशेष प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों ही के दायरे के अन्तर्गत नही आता। राज्य ही समान परिवर्तन का माध्यम है एवं यह परिवर्तन हेतु अपनाए गए रास्ते वैधानिक एव अहिंसक होने चाहिए।

प्रजातांत्रिक समाजवाद-ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में

प्रजातन्त्र और उदारवाद दोनों ही विचारधाराएँ 19वी शताब्दी में एक साथ आगे बढ़ रही थी। औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही पूँजीवाद का भी शनैः-शनैः विकास होने लगा। प्रजातंत्र और उदारवाद ने पूँजीवाद के विकास की दिशा में

1. *Sargeant, Lyman* : Contemporary Political Ideologies, p. 98

योगदान दिया। प्रजातंत्र का अर्थ केवल स्वतंत्रता से लिया गया और उदारवाद का आधार व्यक्तिवाद बन गया। सामन्तवादी व्यवस्था की तुलना में नवोदित प्रजातंत्रीय तथा उदारवादी विचारधाराएँ बड़ी ही प्रगतिशील प्रतीत हुईं। उस समय स्वतंत्रता का अर्थ छोटे-बड़े सभी लोगों की स्वतंत्रता माना गया। कालान्तर में जब पूँजीवाद बढ़ा तो समाज दो वर्गों में विभाजित होने लगा और पूँजीवाद गरीबी, शोषण, विषमता का पर्यायवाची बन गया। इसके विरोध में समाजवादी विचारधारा हमारे समक्ष आई तथा साथ ही पूँजीवादी समाज में प्रजातंत्र भी मखौल की वस्तु बन गया।

पूँजीवाद के विरोध में वैज्ञानिक समाजवाद के जनक के रूप में कार्ल मार्क्स आया जिसके विचारों से यूरोप में समाजवादी विचारधारा का व्यापक रूप से प्रचार-प्रसार हुआ। मार्क्सवाद ने निःसन्देह सभी प्रकार के समाजवादियों को प्रभावित किया, लेकिन कुछ उनमें से ऐसे भी थे जो मार्क्स को पूर्णतः स्वीकार नहीं करना चाहते थे। ऐसे समाजवादियों में विशेष तौर पर ब्रिटिश विचारक थे। ब्रिटेन को लोकतांत्रिक समाजवाद का गढ़ भी कहा गया है। सन् 1884 में ब्रिटिश राजनीतिक सर विलियम हरकोर्ट ने घोषणा कर दी थी कि "अब हम सब समाजवादी हैं।"[1]

ब्रिटेन ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है, वहाँ की संसदीय संस्थाएँ विश्व की सबसे पुरानी जीवित संस्थाएँ हैं। औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त शहरीकरण हुआ एवं साथ ही श्रमिकों को मताधिकार प्राप्त हुआ। इंग्लैंड में अधिकांश परिवर्तन संसदीय संस्थाओं के माध्यम से हुए हैं और इससे ऐतिहासिक अनुभव के परिप्रेक्ष्य में यहाँ के निवासियों ने राज्य को ही समाज-परिवर्तन का साधन स्वीकार किया है। फिर वहाँ के पूँजीपति वर्ग का दृष्टिकोण भी एकदम परम्परागत नहीं रहा। उसने भी परिवर्तित परिस्थितियों को पहचाना एवं वहाँ के राजनेताओं एवं अन्य विचारकों ने इस दिशा में योगदान दिया। जैसा कि ऐबन्सटीन ने भी कहा है, "सत्रहवीं शताब्दी में संसद की सप्रभुता के सिद्धान्त को स्थापित कर ब्रिटिश लोग प्रगतिशील राजनीति के नेता बन गए·······और 20वीं शताब्दी में राजनैतिक स्वतंत्रता और आर्थिक सुरक्षा के सिद्धान्तों का निर्माण कर वे प्रजातांत्रिक समाजवाद के प्रतीक भी बन गए हैं।"[2]

प्रमुख विचारक

ऐबन्सटीन का कथन है कि "इंग्लैंड में अधिकांश प्रभावशाली समाजवादी विचारक रहे हैं, जिनकी दल या सरकार में, कोई सरकारी स्थिति नहीं थी। उनका प्रभाव तो मुख्यतः उनकी नैतिक शक्ति और उनके लिखने का मुखवादी साहित्य का ढंग था। प्रजातांत्रिक समाजवाद के इस प्रकार के सुविख्यात एवं व्यवस्थित कोई विचारक

1. Quoted in *Ebenstein's* Modern Political Thought, p. 581.
2. *Ebenstein* : Modern Political Thought, p. 581.

नहीं हैं जैसे कि मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन एवं माम्रो साम्यवाद के हैं। जो लोग प्रजातांत्रिक समाजवाद के उन्नायक माने जाते हैं वे विशुद्ध प्रजातांत्रिक समाजवादी ही नहीं हैं, उन्होंने इसके इर्द-गिर्द कुछ और भी लिखा है। ये सब लोग केवल विचारक ही नही हैं, कुछ इनमें उपयोगितावादी हैं, सुधारक हैं। इतने का सार यह है कि प्रजातांत्रिक समाजवाद के चिन्तन को सुस्पष्ट प्रशस्त एवं उन्नत करने वाले कोई भारी भरकम व्यक्तित्व नही हैं जिनके कारण यह अवधारणा लोकप्रिय बनी हो।

यद्यपि जेरेमी बैंथम जैसे उपयोगितावादी एवं टी. एच. ग्रीन जैसे आदर्शवादी-उदारवादी विचारकों को प्रजातान्त्रिक समाजवाद से जोडा जाता है, लेकिन यह बहुत ही अप्रत्यक्ष बात होगी। हाँ फेबियन समाजवादियों को इस दृष्टि से याद किया जा सकता है जिन्होंने इस अवधारणा के विकास मे योगदान दिया। मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त समाजवादी दो मार्गों में विभक्त हो गए—क्रान्तिकारी एवं विकासवादी। *विकासवादी समाजवादियों में, जैसा कि 7वें अध्याय में वर्णन किया गया है, बर्न्स्टीन* प्रमुख था और गैर मार्क्सवादी समाजवादियों मे लैसले का नाम भी है जिसका पाँचवें अध्याय में अध्ययन किया गया है। इन लोगों ने राज्य के जन-हितवादी कार्यों के क्षेत्र को विकसित करने पर बल दिया। मोटे तौर पर इन्होंने सार्वजनिक प्रत्यक्ष तथा समान मताधिकार, जनसंख्या पर आधारित प्रतिनिधित्व, अधिक आय वालों पर अधिक कर, काम करने के निश्चित घण्टे, जीवन बीमा आदि विषयों पर जोर दिया।

प्रजातान्त्रिक समाजवाद के विचारकों मे प्रमुखतः आर एच. टानी (R. H. Tawney), इवान डर्बिन (Evan Durbin), फ्रांसिस विलियम (Francis William), क्लीमेंट ऐटली (Clement Atlee), आर. क्रासमैन (R. Crossman) आदि हैं।

टानी ने अपनी पुस्तक "परिग्रहणशील समाज" (The Acquisitive Society) के प्रकाशन के साथ ही प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने उस सम्पत्ति की निन्दा की जो बिना किसी सेवा के लाभ या सत्ता देती है।[1] उसने क्रियाहीन सम्पत्ति का विरोध किया है, छोटी व्यक्तिगत सम्पत्ति का नही। उसने पूंजीवाद पर आरोप लगाया कि इसके अन्तर्गत क्रियाहीन सम्पत्ति का निर्माण होता है और इसके आधार पर चन्द लोग समाज और शासन पर अपना व्यक्तित्व आच्छादित कर लेते हैं। उसने बताया कि ऐसी पूंजी औद्योगिक कुशलता को भी कुंठित कर देती है। सार यह है कि उसने ऐसी सम्पत्ति को परजीवी बताया और इसके कुप्रभावों से मुक्त होने के लिए सुझाव दिया कि औद्योगिक हित सामाजिक हितों के रूप में संगठित होने चाहिए। उसने उद्योगों की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाने का भी सुझाव दिया और कहा कि उनका उद्देश्य लाभ अर्जित करने के स्थान पर सामाजिक सेवा होनी चाहिए।

1. Quoted by *Ebenstein* in Modern Political Thought, p. 582.

ईवान डर्बिन की पुस्तक "The Politics of Democratic Socialism" जो 1940 में प्रकाशित हुई, को एक प्रामाणिक ग्रंथ माना गया है। उसने इसमें उन मुद्दों को उठाया है जो प्रजातांत्रिक समाजवाद के मूल में हैं। संक्षेप में, उसने सरकार को उत्तरदायी बनाए रखने, विरोधी पक्ष को प्रबल रूप से संगठित करने एवं सभी नागरिकों के अधिकारों को अक्षुण्ण बनाए रखने आदि पर बल दिया है।

फ्रांसिस विलियम की पुस्तक "The Moral Case for Socialism" में जिसका प्रकाशन 1949 में हुआ, समाजवाद के नैतिक पक्ष पर विशद व्याख्या हुई है। समाजवाद को प्राय भौतिक पक्ष से ही जोड़ा जाता रहा है, लेकिन विलियम ने इसके नैतिक पक्ष पर बल दिया है। उसने आदर्शों एवं आशाओं से परिपूर्ण मानव को एक नैतिक प्राणी बताया है।

क्लीमेंट ऐटली ऐबन्सटीन के पूर्व वर्णित उस उद्धरण का अपवाद है जिसमे यह कहा गया है कि प्रजातांत्रिक समाजवाद के विचारकों की कोई सरकारी स्थिति नही थी। ऐटली तो इंग्लैंड का प्रधानमंत्री भी रह चुका था। ऐटली के विचार उसकी पुस्तक "The Labour Party in Perspective" में दिए गए हैं जिसका प्रकाशन 1937 मे हुआ था। उसने एक विशेष बात यह बताई कि धर्म ने समाजवादी आन्दोलन के विकास मे योगदान दिया है। ऐटली ने प्रजातंत्र और समाजवाद मे कहीं विरोध नही माना। इनके क्रियान्वन में कहीं असंगति भी उसे नजर नही आयी। उसको विश्वास था कि संसदीय व्यवस्था के माध्यम से आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन संभव है और उसको आशा थी कि इंग्लैंड मे इसका परीक्षण सफल होगा।

आर० क्रासमैन की सुप्रसिद्ध पुस्तक "Socialism and the New Despotism" है जिसका प्रकाशन सन् 1959 में हुआ। उसने बताया कि "क्योंकि अल्पाधिकार के दुरुपयोग को स्वतंत्र प्रतियोगिता द्वारा रोका नहीं जा सकता इसलिए स्वतंत्रता की वृद्धि और पूर्ण प्रजातंत्र को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था को सार्वजनिक नियंत्रण मे रख दिया जाए।" यद्यपि वह सार्वजनिक स्वामित्व के दोषों से भी अनभिज्ञ नहीं है, लेकिन उसे सिवाय इसके अन्य कोई रास्ता नजर नहीं आया। इसको उत्तरदायी बनाने को वह यह सुझाव देता है कि संसद एवं जन प्रतिनिधियों का सार्वजनिक उद्योगों पर प्रभावशाली नियंत्रण बना रहना चाहिए।

सत्य यह है कि प्रजातांत्रिक समाजवाद की विचारधारा पूंजीवाद के बढ़ते हुए दूषित प्रभाव को क्षीण करने एवं प्रजातंत्र को सुरक्षित बनाए रखने के द्विपक्षीय उद्देश्यों को लेकर विकसित हुई जिसमे प्रजातन्त्र एवं साम्यवाद दोनों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयास है। यद्यपि अन्य देशों मे भी ऐसी ही विचारधारा प्रस्फुटित हुई, लेकिन यह एक सर्वमान्य सत्य है कि इंग्लैंड का धरातल ही इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त था। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश लेबर पार्टी का 1918 का "मजदूर और

नवीन सामाजिक व्यवस्था" के अन्तर्गत स्वीकृत कार्यक्रम प्रजातांत्रिक समाजवाद की विचारधारा की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है । कार्यक्रम के मुख्य सूत्र थे—सभी नागरिकों के लिए न्यूनतम राष्ट्रीय आय, अर्थ-व्यवस्था का आमूल-चूल परिवर्तन, उद्योगों पर सार्वजनिक नियंत्रण एव अतिरिक्त सम्पत्ति का सबके हित में उपयोग । इंग्लैंड की मजदूर पार्टी ने शासन मे रहकर जनतांत्रिक समाजवाद को आगे बढाने की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण कार्य भी किए हैं ।

प्रजातांत्रिक समाजवाद के मुख्य तत्त्वों का निरूपण

अन्त में, हम प्रजातांत्रिक समाजवाद के मुख्य तत्त्वो का निरूपण करते हुए यह कह सकते हैं कि यह वर्ग के स्थान पर समाज के व्यापक हितों पर बल देता है । यह प्रतियोगात्मक समाज का, जिसमें सदा समाज का एक साधन-सम्पन्न वर्ग ही लाभान्वित होता है, उन्मूलन करना चाहता है ।

यह इस प्रकार प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग पर जोर देता है ।

यह समानता और स्वतन्त्रता का पोषक है । इसकी विशेषता यह है कि यह स्वतन्त्रता को लोप किए बिना ही समानता लाना चाहता है ।

यह सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र को अधिकाधिक विकसित करता है । यह औद्योगिक प्रतिष्ठानों को सार्वजनिक नियन्त्रण मे लाना चाहता है ।

यह परिवर्तन का माध्यम राज्य एवं जनतांत्रिक संस्थाओं को मानता है ।

यद्यपि यह वैयक्तिक सम्पत्ति की छूट देता है लेकिन उसको अनियंत्रित नहीं रखता ।

यह भी कहा जा सकता है कि यह मानव को केवल भौतिक प्राणी ही मानकर नही चलता बल्कि यह उसके नैतिक पक्ष को भी प्रकाश में लाता है । यह मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे आस्था रखता है ।

लोक-कल्याणकारी राज्य

हम लोक-कल्याणकारी राज्य की परिभाषा जवाहरलाल नेहरू से ही आरम्भ करते हैं । नेहरू के विचार मे लोक-हितकारी राज्य का मूल आधार सभी नागरिको के लिए समान अवसर की व्यवस्था करना, सम्पन्न और निर्धन के बीच के भेद का उन्मूलन करना एवं सभी लोगों के जीवन-स्तर को उन्नत करना है । डॉ अब्राहम ने बताया कि लोक-कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत राज्य की शक्ति का प्रयोग आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार नियन्त्रित करने मे किया जाता है ताकि अधिकाधिक समानता लाई जा सके । हाबमैन ने लोक-हितकारी राज्य का जन्म साम्यवाद और बेलगाम व्यक्तिवाद के बीच समझौते के परिणामस्वरूप बताया । उसने बताया कि लोक-कल्याणकारी राज्य की चाहे कितनी ही अपूर्णताएँ रही हो फिर भी यह एक मानवीय और प्रगतिशील समाज का ढाँचा प्रस्तुत करता है ।[1] केन्ट के शब्दों मे, लोक-हितकारी

1. *Hobman* : The Welfare State, p. 1.

राज्य से अभिप्राय एक ऐसे राज्य से है जो अपने नागरिकों को अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता है। ये सेवाएँ अनेक रूप धारण कर लेती हैं, इनका सम्बन्ध शिक्षण, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, वृद्धावस्था मे पेन्शन आदि से होता है। इनका मुख्य उद्देश्य नागरिक को सुरक्षा प्रदान करना होता है। नागरिक यदि अपने आपके सामान्य साधनों से वंचित भी हो जाता है तो ऐसी स्थिति में राज्य उसकी सहायता करता है।[1]

लोक-हितकारी राज्य का सिद्धान्त--ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

राज्य का लोक-हितकारी स्वरूप राज्य के जन्म के साथ ही जुड़ा हुआ है। राज्य अस्तित्व में क्यों आया---इसके सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त हैं जिसमें एक यह भी है कि यह व्यक्ति का मित्र है यह उसे वे साधन उपलब्ध कराने के लिए हैं जिन्हें वह अन्यथा प्राप्त नहीं कर सकता था तथा राज्य व्यक्ति को उसके ध्येय की प्राप्ति की दिशा में ले जाने मे योगदान देता है। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने कहा है कि राज्य का जन्म जीवन के लिए होता है, लेकिन उसका अस्तित्व मे रहना अच्छे जीवन के लिए है। प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन में राज्य का लोक-कल्याणकारी स्वरूप उभर कर आया है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि जो राजा जनता को प्रसन्न रखने मे असमर्थ एवं अक्षम है उसका राज्य उस जहाज की तरह डूब जाता है जिसमें छेद होता है। आचार्य कौटिल्य ने तो राजा द्वारा किए जाने वाले लोक-हितकारी कार्यों की एक फहरिस्त दे दी है। जिसे रामराज्य कहा जाता है वह तो एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना है जिसमे राजा-प्रजा के हित के लिए ही जीता है और जिसमे राज्य के एक साधारण नागरिक की चर्चा करने पर राम अपनी पत्नी को अग्नि परीक्षा के लिए भेज देते हैं। तुलसीदास ने रामचरित मानस में स्पष्ट चुनौती दी है कि जिस राजा की प्रजा दुखी है उसे नरक मिलता है। रामराज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने कहा है कि इसके अन्तर्गत दैहिक, दैविक एवं भौतिक दुख नहीं थे। वैसे सिद्धान्त में ही सही व्यवस्था में उतना नहीं, सभी देशों एवं कालों में राज्य के साथ लोक-कल्याणकारी स्वरूप जुड़ा हुआ रहा है। लेकिन प्राचीन काल एवं मध्य युग में यह सुपुप्त रहा क्योंकि न तो नागरिकों में उतनी चेतना ही थी और न ही राज्य के पास अधिक साधन ही उपलब्ध थे। प्राचीन एवं मध्ययुग में जीवन के मूल्य भी भिन्न थे, समस्याएँ भिन्न प्रकार की थीं और उनकी पृष्ठभूमि भी विशुद्ध राजनीतिक एवं आर्थिक न थी और इसीलिए लोककल्याणकारी राज्य का विचार प्राचीन अथवा मध्ययुगीन न होकर आधुनिक ही है।

हाबमैन ने लोककल्याणकारी राज्य के चिन्तन का इतिहास करीब 450 वर्ष पुराना बताया है। वह इसे भी इंगलैण्ड की ही देन मानता है। उसके अनुसार

1. *J. W. Kent* : The Welfare State, p. 2.

यह कोई आकस्मिक रचना नहीं है, किन्तु उस दीर्घ सूत्री विराम का फल है जिसका प्रारम्भ एलिजाबेथ प्रथम के कानून 'Poor Law' के साथ हुआ था। लेकिन यह भी अप्रत्यक्ष रूप से जोड़ना हुआ। लोक-हितकारी राज्य का विचार अधिक सक्रिय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना जाना चाहिए। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हुए वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का लाभ चन्द व्यक्तियों को और राष्ट्रों को मिला। इन व्यक्तियों ने इसकी सहायता से खूब धन कमाया और इन राष्ट्रों ने उपनिवेशवाद की स्थापना की। लेनिन ने पूँजीवाद को साम्राज्यवाद की प्रथम सीढ़ी बताया है। पूँजीवाद की स्थापना का अहितकारी प्रभाव पड़ने लगा और समाज में शोषण, विषमता एवं निर्धनता बढ़ने लगी। पूँजीवाद से निपटने के लिए हिंसा, अधिनायकवाद एवं गैर-सवैधानिक तरीकों का सहारा लेने की बात सोची गई। कुछ विचारकों को यह पूँजीवाद से भी बढ़कर संकट प्रतीत हुआ। जिन्होंने राज्य के लोक-कल्याणकारी स्वरूप को विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। यह चिन्तनधारा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में थी।

ब्रिटेन के इतिहास में 1906 का वर्ष महत्वपूर्ण माना जाता है। इस वर्ष यहाँ उदार दल की सरकार बनी जिसने स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए पौष्टिक आहार, उनकी स्वास्थ्य परीक्षा, वृद्धावस्था में पेन्शन, सामाजिक बीमा, गरीब वर्ग पर विशेष व्यय, मजदूरों की स्थिति में सुधार आदि विषयों पर विचार किया। चार्ल्स ब्रूथ और राउन्टी ने इंगलैण्ड की स्थिति पर जो विचार प्रस्तुत किए उनका सरकार और समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनका प्रमुख विचार यह था कि गरीबी का मूल कारण उन तत्त्वों में निहित है जिन पर मनुष्य का कोई वश नहीं होता। यह राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों की शुरुआत थी, फिर तो इंगलैण्ड में एक के बाद दूसरी योजना बनती ही चली गई, लेकिन विशेष क्रियान्विति द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त वहाँ मजदूर दल के शासन के अन्तर्गत हुई। मजदूर दल की सरकार ने मनुष्य के भौतिक हितों की सुरक्षा का भार अपने पर ले लिया और बहुत ही व्यापक योजनाएँ बनाई गईं जिनमें बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था, वैधव्य आदि से उत्पन्न समस्याओं का समाधान था। सत्तारूढ़ होने के उपरान्त 6 वर्ष के अपने कार्यकाल में मजदूर दल की सरकार के नेतृत्व में लोककल्याण की दृष्टि से राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा अधिनियम, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, राष्ट्रीय सहायता अधिनियम एवं बाल अधिनियम पारित किए गए।

लोककल्याणकारी राज्य के कर्त्तव्य

आधुनिक समय में राज्य के कार्यों में आशातीत वृद्धि हुई है जिसका कारण वर्तमान परिस्थितियां एवं सामाजिक संरचना है। आज की परिस्थितियों में मनुष्य अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। राज्य समस्त सामाजिक गतिविधियों, आर्थिक विकास, औद्योगिक एवं तकनीकी प्रगति, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्रियाकलापों के केन्द्र में अवस्थित है। जिसे आज आधुनिक राज्य कहा जाता है, वस्तुतः यह वह

राज्य है जिसका प्रचण्ड औद्योगिक विकास हो चुका है तथा जिसकी सामरिक शक्ति प्रबल है। ऐसे राज्य को नागरिकों के सर्वांगीण विकास के सारे साधन जुटाने पड़ते हैं और यही कारण है कि लोककल्याणकारी राज्य के कर्त्तव्यों की कोई निश्चित सीमा निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ सामान्य कार्य यहां बताए जा रहे हैं।

लोक-हितकारी राज्य के कार्यों के मूल में यही है कि वह कम से कम यह व्यवस्था कर दे कि उसके प्रत्येक नागरिक को ऐसा जीवन-स्तर प्राप्त होगा जो उस समाज के सन्दर्भ में मानवीय एवं न्यायोचित कहा जा सके। जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना एक लोककल्याणकारी राज्य का कर्त्तव्य है। सामान्य तौर पर प्रत्येक नागरिक के लिए रोजगार की व्यवस्था करना एवं उसे स्वयं के विकास के अवसर प्रदान करना राज्य का कर्त्तव्य है। इसे दृष्टिगत रखते हुए साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि राज्य को शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक बीमा, रोजगार की व्यवस्था आदि करनी चाहिए। उसे बच्चों, निर्धन विधवाओं, अनाथों एवं दुर्बल वर्ग के लोगों के भरण-पोषण की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे एक ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें सामाजिक न्याय सम्भव हो सके। उसे सार्वजनिक विकास के कार्यों को भी अपने हाथ में लेना चाहिए। उसे एक ऐसी नीति का संचालन करना चाहिए जिसका उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को ऐसा लगे कि वह समाज का एक अभिन्न अंग है और उसको इसके विकास के लिए योगदान देने में गौरव अनुभव हो। लोककल्याणकारी राज्य में समता नहीं है, लेकिन स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता इस प्रकार की नहीं है जो कि पूंजीवादी राज्यों में होती है जिसे भूखे मरने की स्वतन्त्रता की संज्ञा भी दी जाती है। यह अवसर की स्वतन्त्रता है, आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता है, अपनी रुचि के अनुसार अपना विकास करने की स्वतन्त्रता है और इस स्वतन्त्रता पर राज्य द्वारा आरोपित बन्धन नगण्य हैं। लोककल्याणकारी राज्य वह राज्य है जिसमें कोई भूखा नंगा न हो, एवं जिसमें बेरोजगारी में सुरक्षा राज्य की ओर से दी जाए। लोककल्याणकारी राज्य की विशेषता यह है कि यह स्वतन्त्रता को छीने बिना ही रोटी की समस्या का हल ढूंढता है।

अन्त में, लोककल्याणकारी राज्य और लोकतान्त्रिक समाजवाद के बीच अन्तर स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है। दोनों के उद्देश्यों में काफी समानता है, फिर भी अन्तर बहुत स्पष्ट है। दोनों ही सामान्य नागरिकों के हितों को सम्पादित करते हैं, दोनों का उद्देश्य नागरिकों की स्वतन्त्रता बनाए रख कर उनकी समस्याओं का समाधान ढूंढना है, दोनों ही जनतान्त्रिक संस्थाओं को अपना माध्यम बनाते हैं, लेकिन दोनों के अन्तर भी स्पष्ट हैं। प्रजातान्त्रिक समाजवाद पूंजीवाद को अनिवार्य बुराई मानता है और उसे समाप्त करना चाहता है। वहां लोककल्याणकारी राज्य पूंजीवाद का उन्मूलन नहीं करना चाहता. वह तो उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपना-कर केवल कुछ सुधार करना चाहता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

जनतांत्रिक समाजवाद के बारे मे यह कहा जाता है कि यह दो परस्पर विरोधी मान्यताओं को जोड़ने का असफल प्रयास है। जनतांत्रिक समाजवाद में न जनतंत्र ही सुरक्षित रह पाता है और न समाजवाद ही आता है। जैसाकि ई. एम. बर्न्स ने कहा है कि जनतांत्रिक समाजवाद स्वयं में विरोधाभास है। उमने बताया कि इसका कारण यह है कि प्रजातंत्र व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता चाहता है और इसे साकार बनाने के लिए स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था करता है जबकि समाजवाद में राज्य निरंकुश भी बन सकता है क्योंकि इसे विशाल शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जनतांत्रिक समाजवाद के आलोचक यह कहते हैं कि यह घोर आश्चर्य और दुःख की बात है कि जनतंत्र विरोधी और जनतंत्र समर्थक तत्वों को मिश्रित करने का प्रयास किया जाता है जबकि यह असंभव है। जनतंत्र एक ओर राज्य की शक्तियों को सीमित कर व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतंत्रता देना चाहता है और इसके अन्तर्गत यह प्रयास रहता है कि राज्य किसी आड़ में अपनी दमनकारी शक्ति को बढ़ा न ले; यह राज्य की सृजनकारी और दमनकारी शक्तियों के बीच अन्तर रहता है। जनतंत्र की भावना यह होती है कि वह राज्य की केवल सृजनकारी शक्ति को ही बर्दास्त करे और इसका विकास भी उसे अधिक सह्य नहीं होता क्योंकि सृजन भी नागरिक ही स्वयं करे, राज्य तो केवल उन कार्यों को सम्पादित करे जिन्हें व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता। राज्य की दमनकारी शक्तियों को तो जनतंत्र में नहीं स्वीकार किया जा सकता। समाजवाद मे यह अन्तर करना मुश्किल हो जाता है कि राज्य की कौन-सी शक्ति सृजनकारी है और कौन-सी शक्ति दमनकारी है। एक प्रकार से दोनों ही एक दूसरे से घुलमिल जाती हैं और राज्य पर इतना विश्वास किया जाता है कि वह ही समाज-परिवर्तन, आर्थिक विकास एवं चरित्र-निर्माण का साधन बन जाता है। इतने अधिकार मिल जाने पर राज्य कुछ भी कर सकता है और अपनी विशाल दमनकारी शक्तियों का प्रयोग भी सृजन के नाम पर करता है। यहाँ समाजवाद व्यावहारिक दृष्टि से स्वतंत्रता का शत्रु बन जाता है। जो लोकतांत्रिक समाजवाद के इसी विरोधाभास को देखते हुए तो डर्बिन ने यहाँ तक कह दिया कि प्रजातंत्र के शत्रुओं को प्रजातांत्रिक अधिकारों को प्राप्त करने का कोई नैतिक आधार नहीं है।'[1]

लोकतांत्रिक समाजवाद के आलोचक इस सदर्भ मे यह भी कहते हैं कि इसमें लोकतंत्र की भावना तो धूमिल हो जाती है और समाजवाद अधिनायकवाद के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। यह राज्य का अधिनायकत्व है और राज्यवाद को बढ़ाने वाला तत्व नौकरशाही है। नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति जन-विकास के लिए घातक है। यह न केवल राज्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों को ही भ्रष्ट

[1] "The enemies of democracy have no moral right to the principles of democracy". —*Durbin*, quoted by E. M. Burns in Ideas Conflict, p. 185.

करती है, यह जन-साधारण का नैतिक पतन भी करती है। इसके कारण नागरिकों की राज निर्माण की शक्ति का ह्रास होता है और इससे जबर्दस्त हानि और क्या हो सकती है। अकर्मण्यता, उदासीनता, अकुशलता आदि सब नौकरशाही के परिणाम हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि जनतान्त्रिक समाजवाद का केन्द्रीकृत स्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता को चोट पहुँचाता है। समाजवाद के नाम पर जबर्दस्त सत्ता का केन्द्रीकरण होता है और ज्यों-ज्यों केन्द्रीकरण होगा त्यों-त्यों राज्य की दमनकारी शक्ति का विकास होगा। राज्य की दमनकारी शक्ति और मनुष्य की स्वतंत्रता इन दोनो में असंगति है। यह भी कहा जाता है कि जनतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन घटता है और उपभोक्ताओं की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। राष्ट्र के आर्थिक विकास में अन्य समस्याओं का प्रादुर्भाव होता है।

अत मे, जनतान्त्रिक समाजवाद के आलोचक यह भी कहते हैं कि यह बात ठोस आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। इसका कोई दार्शनिक पक्ष नही है और सिद्धान्त के बिना यह अपनी शक्ति खो बैठता है।[1]

उपर्युक्त आलोचना निराधार नहीं है, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रजातान्त्रिक उच्छृङ्खलता और साम्यवादी अधिनायकवाद के बीच यदि कहीं समझौता है तो वह लोकतान्त्रिक समाजवाद की अवधारणा मे है। प्रजातंत्र के नाम पर एक ओर पूँजीवाद पनपता है तो दूसरी ओर साम्यवाद जो एक छोटे से वर्ग की तानाशाही स्थापित करता है। प्रजातन्त्र में कई बार स्वतन्त्रता अधिकांश लोगों के लिए भूखे मरने की स्वतंत्रता से अधिक कुछ नहीं होती तो कोरा समाजवाद भी एक छोटे से वर्ग का वर्चस्व स्थापित करना है चाहे रोटी यह समाज के अधिकांश वर्ग को मुहैया करने मे सफल हो जाए। सार यह है कि जनतंत्र और समाजवाद दोनों ही में एक छोटे से वर्ग का वर्चस्व आच्छादित रहता है. जनतंत्र मे स्वतंत्रता के नाम पर एक छोटा सा साधन-सम्पन्न वर्ग गुलछर्रे उड़ाता है तो समाजवाद मे भी समाज-परिवर्तन का जिम्मा केवल एक छोटे मे वर्ग का ही होता है जिसके कारण इसे प्रचण्ड शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ भयंकर हैं जिसमे व्यक्ति का लोप हो जाता है। जनतन्त्र का स्वरूप भयकर हो जाता है यदि इसके साथ समाजवाद नहीं जोड़ा जाता है क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता (जो कि जनतंत्र का आधार है) अर्थहीन है यदि इसके साथ आर्थिक समानता (जो कि समाजवादी चिन्तन के केन्द्र में है) नहीं लाई जाए। समाजवाद का स्वरूप भी कम भयंकर नहीं होता यदि इसका आधार जनतन्त्रीय नही हो। आर्थिक समानता और परिवर्तन के नाम पर कार्य करने वाला यदि समाज का एक छोटा सा भाग जनता के प्रति उत्तरदायी न हो तो वह अनुत्तरदायी एवं निरंकुश बन जाता है। फिर यह वर्ग क्या करेगा,

1. "Socialism without doctrine becomes diluted and loses its vigour" —*Paul Ramadies*, quoted by Joseph S. Konech in his Contemporary Political Ideologies, p. 133.

इसकी कल्पना कोई भी कर सकता है, इसके मूल में यह है कि सत्ता मनुष्य को बिगाड़ देती है और निरंतर सत्ता मनुष्य को पूर्णतः बिगाड देती है। इस संदर्भ मे, हम जनतांत्रिक समाजवाद की उपादेयता को समझने का प्रयास करें। इसकी विशेषता है कि यह मनुष्य को स्वतंत्र देखना चाहता है, लेकिन साथ ही समाज में व्याप्त असमानता, शोषण एवं दमन से उत्पन्न स्थिति को भी यह दूर करना चाहता है। यह स्वतन्त्रता और समानता दोनों को ही साथ लेकर चलता है। जनतंत्र से मुक्त होने पर समाजवाद साम्यवाद का रूप धारण कर लेता है जिसकी आलोचना करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि यह जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से घृणा करता है। इस तरह यह न केवल जीवन के आधारभूत तत्वों की उपेक्षा करता है बलिक मानव व्यवहार को उसके मापदंडों और मूल्यों से भी वंचित करता है।'[1]

फिर जनतांत्रिक समाजवाद हिंसा को सभ्य समाज में कोई स्थान नहीं देता। आज समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्त हिंसा से जुड़ गये हैं और हिंसा के द्वारा आने वाला परिवर्तन केवल उन लोगों तक सीमित हो जाता है जो इसे नियंत्रित करते हैं। उनका अधिनायकत्व शेष समाज की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध है। हिंसा और जनतंत्र दोनो साथ-साथ नहीं चलते। जनतांत्रिक समाजवाद अहिंसक और संवैधानिक तरीके से तथा सारे समाज को साथ लेकर समाज परिवर्तन में विश्वास रखता है।

लोक कल्याणकारी राज्य की आलोचना विशेषतौर पर इस आधार को लेकर की जाती है कि यह विचार समाज परिवर्तन की मूल समस्या से दूर ले जाकर लोगों को दिग्भ्रांत करता है। इन आलोचकों का कहना है कि लोक कल्याणकारी राज्य एक प्रकार से खैरात बांटने वाला राज्य है जो जनसाधारण के दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है। इसके अन्तर्गत समाज के मठाधीशों की शक्ति नहीं टूटती, निर्णय-प्रक्रिया से वे ही सम्बद्ध बने रहते हैं, जनसाधारण को कुछ अधिक सुविधाएँ देने का प्रयास किया जाता है ताकि उनमें अधिक असंतोष न बढ़े। जनसाधारण को संतुष्ट रखना शासकों एवं पूंजीपतियों के हित में भी है क्योंकि अधिक व्यापक असंतोष उनके स्थापित वर्चस्व को चुनौती भी दे सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य की राजनीति उसकी रोटी तक सीमित होती है। हो सकता है कि यह बात सब पर लागू नहीं होती हो, लेकिन एक सामान्य मनुष्य की राजनीतिक रुचि अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित होती है। इस संदर्भ मे लोक कल्याणकारी राज्य की उपादेयता को समझा जा सकता है। जहाँ राज्य का प्रयास जनसाधारण के दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एव उसे अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करने का हो वहाँ असन्तोष तथा आक्रोश का मूल कारण स्वतः हट जाता है।

---

1. *Nehru Jawaharlal* : quoted by Eistein in his book, Modern Political Thought, Issues, p. 558.

11 फासीवाद एवं राष्ट्रीय समाजवाद

(Fascism and National Socialism)

फासीवाद
(Fascism)

फासीवाद बीसवीं शताब्दी की विचारधारा है जिसकी उत्पत्ति प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् इटली में हुई। विचारकों का मत है कि जिस प्रकार से संसदीय जनतंत्र इटली में असफल हुआ उसके मूल में असंतोष छिपा था। इस असंतोष के परिणामस्वरूप फासीवाद का जन्म हुआ। 28 अक्टूबर, 1922 को बेनीटो मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली की राज्य-सत्ता को उखाड़ फेंकने का षड्यंत्र सफल हुआ। मुसोलिनी की सफलता का रहस्य यह था कि तत्कालीन सरकार निकम्मी, भ्रष्ट और प्रभावहीन हो गई थी और इसलिए बिना किसी विशेष प्रयास के मुसोलिनी को अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो गई।

फासीवाद शब्द की उत्पत्ति इटेलिन भाषा के फेसियो शब्द से हुई है। जिसका अर्थ लकड़ियों का बंधा हुआ गट्ठर होता है। प्राचीन काल मे रोमन राज्य का चिन्ह फेसियो तथा कुल्हाड़ी था। रोमन राजनीति एकता पर बल देती थी और इस प्रकार लकड़ी का गट्ठा या फेसियो राज्य की एकता का तथा कुल्हाड़ी शक्ति का प्रतीक मानी जाती थी। मुसोलिनी के नेतृत्व में तत्कालीन संसदीय सरकार को उखाड़ फैंकने के लिए इस दल की स्थापना की गई। उसको फासिस्ट दल कहते हैं। यह दल प्राचीन रोम से प्रेरणा प्राप्त करता था और जैसा कि विदित है कि प्राचीन रोम का विशाल साम्राज्य था जिसे रोम का विश्व साम्राज्य के नाम से इतिहास में प्रसिद्धि प्राप्त है।

प्रथम विश्व युद्ध का उद्देश्य लोकतंत्र की रक्षा तथा उसको वृहत रूप में लागू करना था। यद्यपि इस युद्ध में संसदीय जनतंत्र में आस्था रखने वाले मित्र राष्ट्रों को विजय प्राप्त हुई थी लेकिन इसके कुछ परिणाम विपरीत भी निकले। योरोप में संसदीय जनतंत्र के विरुद्ध अधिनायकवादी विचारधारा का उत्कर्ष हुआ। सर्वप्रथम 1917 में जबकि प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था रूस में एक राज्य क्रान्ति हुई जिसने सर्वहारा वर्ग के वर्चस्व को स्थापित कर दिया। रूस की साम्यवादी क्रान्ति संसदीय जनतंत्र को स्पष्ट चुनौती थी। एबिन्सटिन ने इस बात को स्पष्ट करते हुए

लिखा है कि "साम्यवाद बीसवीं शताब्दी का प्रथम अधिनायकवादी विद्रोह था जिसने पश्चिमी उदारवादी जीवन पद्धति को चुनौती दी। दूसरा फासीवाद था। इसके आधारभूत तत्वों पर आने पर कहा जा सकता है कि यह सरकार और समाज का अधिनायकवादी संगठन है जिसमें एक दल की तानाशाही होती है जो अत्यन्त राष्ट्रवादी जातीय सैनिक और साम्राज्यवादी होती है।"[1] बार्निस ने फासिज्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यह सामान्य तौर पर वह राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन है जिसका उद्देश्य राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को पुनर्स्थापित करना है। यह व्यवस्था यूरोपीय सभ्यता, रोम की परम्पराएँ जिसमें सर्वप्रथम साम्राज्य या और फिर कैथोलिक चर्च, पर आधारित है। फासीवाद संक्षेप में, व्यक्तिगत मनोवृत्ति की भर्त्सना है जिसकी अभिव्यक्ति पुनर्जागरण सुधारवाद एवं फ्रेन्च क्रान्ति में हुई थी।[2]

फासीवाद के दर्शन का अध्ययन करने के पूर्व केवल इतना कह देना आवश्यक है कि प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त उठने वाली परिस्थितियाँ इसके जन्म के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। यद्यपि इटली प्रथम विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों के साथ था जिन्हें विजयश्री प्राप्त हुई थी लेकिन वह जीतकर भी हारे हुए देश के समान था। युद्ध में विजय के फलस्वरूप अन्य राष्ट्रों की तुलना में उसे अपेक्षाकृत बहुत कम मिला था। इस दृष्टि से इटली एक असंतुष्ट राष्ट्र था। इसके अतिरिक्त इटली की आन्तरिक स्थिति भी संकट में थी। इटली में आर्थिक स्थिति कष्टमय थी जिसका उपाय आसानी से ढूंढना संभव न था। इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर मुसोलिनी ने फासीवादी कार्यक्रम के आधार पर इटली की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया और इस प्रकार आर्थिक विषमता और राजनैतिक अस्थिरता से पीड़ित असंतुष्ट जनता को फासीवादी ध्वज के नीचे संगठित कर लिया। 1919 में उसने यह आन्दोलन प्रारम्भ किया जो बहुत बड़े पैमाने पर फैल गया। 1921 में ही दल को संसद के निम्न सदन में 32 सीटें प्राप्त हो गई। अपने दल को लोकप्रिय बनाने के लिए मुसोलिनी ने सभी साधनों का प्रयोग किया। इसके नीति सिद्धान्त अवसरवादी थे। इसी कारण वह विभिन्न वर्गों के लोगों को आकर्षित करने में सफल हो गया। पूंजीपति, मजदूर एवं जमींदार सभी वर्गों ने फासीवाद को अपना लिया। 1922 मे अपनी बढ़ती हुई शक्ति के आधार पर मुसोलिनी ने रोम की ओर प्रस्थान किया और बिना किसी रोक-टोक के उसने रोम पर कब्जा कर लिया। सम्राट ने उसे सरकार बनाने का निमंत्रण दिया। 1925-26 में एक दलीय अधिनायक तन्त्रीय शासन की स्थापना हो गई और मुसोलिनी ही इटली का सर्वेसर्वा बन गया।

1. *Ebensteen, W.* : Today's Isms, 3 rd. ed., p. 95.
2. *Barnes, J. S.* : The Universal Aspects of Fascism, p. 35.

फासीवाद का दर्शन

इटली मे फासीवाद और जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद दोनों ही अधिनायकवादी विचारधाराएं हैं। इनको प्रेरणा मैकियावली व हीगल दोनों से प्राप्त हुई है। राजनैतिक चिंतन का इतिहास यह बताता है कि इन देशों में अनेक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विचारक हुए हैं और फासीवादी नेताओं ने उन क्रान्तिकारी विचारकों से प्रेरणा ली है। इटली में मैकियावली 15वीं शताब्दी का निरंकुशतावादी विचारक रह चुका था। जर्मनी ने हीगल तथा कार्लमार्क्स जैसे विचारकों को जन्म दिया था। हीगल का आदर्शवाद पूर्णरूप से राजसत्तावादी तथा निरकुशतावादी था। मैकियावली तथा हीगल के दर्शन में हम उग्र राष्ट्रवाद के विचारकों को देखते हैं। 20वीं सदी में इटली और जर्मनी को अपनी गिरती हुई परिस्थिति मे उठाने के लिए पुनः सुदृढ़ राष्ट्रवादी नेताओं तथा विचारों की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः मुसोलिनी तथा हिटलर दोनों को मैकियावली तथा हीगल के विचारों से प्रेरणा प्राप्त हुई। इन दो तानाशाहों ने मैकियावली तथा हीगल के दर्शन को न केवल अपनाया ही बल्कि प्रचलित परिस्थितियों के अन्तर्गत उनमे आवश्यक परिवर्तन कर उसे एक व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया। इस दृष्टि से फासीवाद केवल एक विचारधारा मात्र ही नहीं है बल्कि इसके साथ-साथ एक विशिष्ट राजनैतिक कार्यप्रणाली भी है। सेबाइन का कथन है कि फासीवाद मे अनेक तत्वों का सम्मिश्रण है जिसमे मैकियावली, हॉब्स, फिक्टे, हीगल, नीत्से, मार्क्स, सौरल, बर्गसन आदि दृष्टिगोचर होते हैं।

फासीवाद अपने पूर्व की अनेक प्रचलित विचारधाओं का विरोध करता है। यह व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, भौतिकवाद, अराजकतावाद, श्रम संघवाद, श्रेणीवाद, अन्तर्राष्ट्रवाद आदि सभी विचारधाराओं का विरोध करता है और इस प्रकार यह एक नूतन विचारधारा है जिसका सैद्धान्तिक पक्ष इतना सशक्त नहीं जितना कि इसका कार्यक्रम है।

(1) फासीवाद का राज्य के संबंध में सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण है। मुसोलिनी राज्य को सब कुछ मान कर चलता था। जिस प्रकार हीगल राज्य को पृथ्वी पर ईश्वरीय प्रेरणा मान कर चलता था उसी प्रकार मुसोलिनी भी कहता था सब कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य के बाहर या राज्य के विरोध में कुछ भी नहीं है।[1] उनके अनुसार राज्य सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करता है, यह एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी से जोड़ता है, यह अपने मे सम्पूर्ण है और इसका अपना एक वास्तविक अस्तित्व है।[2]

1. "All within the State, none outside the State, none against the State".
—*Mussolini*.

2. "The State is more than the sum of its individuals of one generation, it has an actual entity of its own, a transcendental existence deriving from the past, from the present and the future."—*Frank Foxi* : Italy Today, p. 97.

फासीवादियों के अनुसार राज्य का सावयव स्वरूप स्पष्ट है तथा यह सभी नागरिकों को एक सूत्र में पिरोता है। कहने का अर्थ यह है कि राज्य ने सम्पूर्ण सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन को आत्मसात कर लिया है और एक प्रकार से राज्य और नागरिक एकाकार हो गए हैं लेकिन इसका प्रतिनिधित्व राज्य करता है।

फासीवाद राष्ट्रीय राज्य की परमाणुवादी (Atomistic) कल्पना के स्थान पर उसकी संयुक्त (Corporative) कल्पना की स्थापना करता है। फासीवादियों के अनुसार राज्य केवल व्यक्तियों से नहीं, बल्कि राष्ट्रीय मनोवृत्ति वाले समुदायों से निर्मित है। जिस प्रकार द्रव्य अनेक सरल इकाइयों से नहीं वरन् इलेक्ट्रोन्स (Electrones) और प्रोटोन्स (Protons) के जटिल समुदायों से बना है और शरीर की महत्वपूर्ण इकाइयाँ कोष्ठ नहीं, वरन् अंग होते हैं ठीक इसी प्रकार राष्ट्रीय शरीर के अंग समुदाय हैं जिनमें व्यक्ति स्वतः सम्मिलित हो जाते हैं। व्यक्तियों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, वे समुदायों में होते हैं और समुदाय, चाहे वे किसी भी प्रकार के हों, वर्गीय प्रतियोगिता के स्थान पर राष्ट्रीय सहयोग के लिए हैं। रोकर के शब्दों में, 'प्रत्येक समुदाय का संगठन इस प्रकार होना चाहिए जिससे यह दूसरे समुदाय के साथ राष्ट्रीय हितों के सम्पादन के लिए समझौता कर सके और जिससे उसके विशेष कार्य का राष्ट्र के सामूहिक संयुक्त जीवन में प्रतिनिधित्व हो सके। इस प्रकार राष्ट्रीय पार्लियामेन्ट में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधि नहीं, वरन् औद्योगिक तथा व्यावसायिक सभाओं के प्रतिनिधि होने चाहिए। [illegible] संघ, धार्मिक या सामाजिक समुदाय एक राजनीतिक समुदाय [illegible] और राष्ट्र के संगठित जीवन में उसे कोई उपयोगी कार्य नहीं करना है तो [illegible] ही कर देना चाहिए। समुदायों के आधार पर संगठित राष्ट्रीय [illegible] को एक अधिक संकुचित रूप से संगठित कार्यपालिका [illegible]

उपायों से राज्य की शक्ति तथा गौरव की रक्षा करनी चाहिए और नागरिकों को अधीनस्थ तथा राज्यभक्त बनाए रखना चाहिए। गुण-दोष निरीक्षकों द्वारा नियंत्रण, गुप्तचर विभाग तथा दमन का प्रयोग ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रायः सबसे उत्तम हो सकता है।"[1]

फासीवादी राज्य सर्वशक्तिमान और अधिनायकवादी है। इसका दर्शन यह है कि राज्य अपने में साध्य है और चूंकि इसका उद्देश्य नागरिकों के उद्देश्य से ऊँचा; अधिक विस्तृत और अधिक पवित्र है इसलिए इसके पास अपरिमित साधन उपलब्ध होने चाहिए। प्रोफेसर कोकर के शब्दों में, इस प्रकार फासिज्म की सम्पूर्ण विचारधारा में प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य तथा दुर्निवार शासन के विचारों का प्राधान्य है। राष्ट्र के सर्वशक्तिवान श्रेणीबद्ध संगठन द्वारा व्यक्तियों के समस्त विशिष्ट हितों का दमन होना चाहिए। नागरिकों के राजनीतिक दायित्व उनके अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह फासिस्ट सर्वसत्तावाद (Totalitarianism) है जो व्यक्ति के जीवन के किसी भी क्षेत्र को राज्यसत्ता से विमुक्त नहीं मानता। जेंटाइल का कथन है कि सच्चा फासिस्ट अपने गृह में, अपने स्कूल मे, अपने कारखानों मे तथा अपनी राजनीति में फासिस्ट होता है। *राज्य का सर्वोच्च कार्य किन्हीं भी विरोधी व्यक्तिगत या वर्गीय* हितों और आवश्यकता पड़ने पर समूचे नागरिकों के हितो एवं विचारों का बलिदान करके राष्ट्र के हितों की रक्षा करना है। राज्य अपने नागरिकों के बहुमत की इच्छा और उनके कल्याण को उसी सीमा तक स्वीकार करता है जिस सीमा तक वह राष्ट्र के उच्च हितों के अनुरूप हो। राज्य के प्रति अभक्ति—मनसा, वाचा, कर्मणा विद्रोह है जो समस्त मानवीय दोषों में सबसे महान् है। 'सार्वजनिक व्यवस्था किसी भी उद्देश्य से भंग नही होनी चाहिए और हर प्रकार से उसे कायम रखना चाहिए।' फासिज्म राज्य के अधिकारों, उसकी सत्ता की सर्वोच्चता और उसके उद्देश्यों की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा करता है। मुसोलिनी के शब्दों मे "जीवन का कोई भी पक्ष फासिज्म के विवेकपूर्ण अनुशासन से मुक्त नहीं है।"[2]

फासीवाद के अन्तर्गत जैसाकि पहले भी संकेत दिया जा चुका है व्यक्ति राज्य के अन्दर विलीन हो जाता है। रोको ने स्पष्ट कहा है कि अठारहवीं सदी में व्यक्ति को राज्य से मुक्त कर दिया गया था और बीसवीं सदी मे राज्य को व्यक्ति से मुक्त किया जाएगा।[3] फासिस्टों के अनुसार 'राष्ट्र उन स्थिर जीव वैज्ञानिक समानताओं पर आधारित है जो भाषा, रिवाज तथा धर्म की एकताओं में व्यक्त होती हैं....राज्य राष्ट्र का सावयव ढांचा है। इस प्रकार राज्यवाद तथा राष्ट्रीयतावाद नागरिकों की संवेदना तथा विवेक पर एक-सा प्रभाव डालते हैं।....राष्ट्र की रक्षा, उसके गौरव तथा विचार के लिए युद्ध अत्यन्त उचित हो सकता है चाहे वह प्रत्येक

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 454-55.
2. फ्रांसीस डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 458.
3. *Alfredo Rocco* : The Political Doctrine of Fascism.

छोटे समुदाय के विशेष हितों के विरुद्ध हो अथवा राष्ट्र के श्रेष्ठ नागरिकों के जीवन का नाश ही करदे ।'[1]

फासिस्टों ने लोकतंत्रवादियों द्वारा प्रतिपादित 'स्वांतत्रता', 'समानता' और 'भ्रातृत्व' के स्थान पर 'दायित्व,' 'अनुशासन', और 'श्रेणीबद्ध सगठन' ये तीन नारे दिए। उन्होंने बताया कि इटली को कानून, व्यवस्था और कार्यकुशलता की आवश्यकता है और न कि स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के घिसे-पिटे और अर्थहीन नारों की। 'उन्होंने यह कहा कि वास्तविक स्वतंत्रता ऐसी राजनीतिक प्रणाली के अन्दर ही संभव है जो दृढ़ता के साथ इन तीनों चीजों को लागू कर सके।'[2] जेन्टाइल ने तो यहाँ तक कह दिया कि अधिकतम स्वतंत्रता और अधिकतम राज्य एक दूसरे के अनुरूप हैं और इस प्रकार फासिस्टों ने स्वतंत्रता और सत्ता को एक दूसरे का पर्यायवाची बताते हुए व्यवहार में व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर न्यौछावर कर दिया।

जहाँ तक हिंसा का प्रश्न है, फासिस्टों ने राज्य द्वारा इसके प्रयोग का समर्थन किया है। फासिज्म के जनक मुसोलिनी ने विशेषतौर पर राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए हिंसा का समर्थन किया है। व्यावहारिक स्तर पर इसके समर्थन में जैसा कि गिनी ने बताया है कि जब दो आन्दोलन एक दूसरे के परस्पर विरोधी हो जाते हैं तो उस विरोध का अन्त करने में केवल एक ही मार्ग रह जाता है अर्थात् भौतिक अथवा शारीरिक संघर्ष और कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त, चाहे वह कितना ही विवेकवादी एवं आध्यात्मिक क्यों न हो, सबसे शक्तिशाली समुदाय को समाज पर नियंत्रण प्राप्त करने से रोक नहीं सकता।[3]

दार्शनिक स्तर के फासिस्टों ने 'विघटनकारी' एवं 'पवित्र' हिंसा में भी अन्तर किया है। जेंटाइल ने बताया कि "जैसे जीसस ने किया था, वैसे ही उसका अनुसरण करते हुए व्यक्ति भी सदैव हिंसात्मक कार्य करते रहे हैं जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि ऐसे कार्य कानून अथवा कुछ उच्चतर एवं सार्वलौकिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।'[4] मुसोलिनी ने मर्यादित हिंसा तथा कभी-कभी, जिन प्रयोजनों से वह की जाती है, उनके कारण नैतिक हिंसा की बात कही है। कुछ अन्य फासिस्टो ने विनाश तथा हत्याकांडों के एक रहस्यमय गुण के दर्शन किए हैं। सब कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि फासिस्ट लोग युद्ध को केवल दुनिया के योग्य एव सभ्य राष्ट्रों मे आवश्यक प्रतियोगिता का अनिवार्य साधन मानकर ही उसका समर्थन नहीं करते

1. Ibid.
2. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 504.
3. *Corrado Gini* : 'The Scientific Basis of Fascism', Political Science Quarterly, XLII (1927), pp. 99-115; Mussolini as reverted in His Political Speeches, p. 175.
4. कोकर द्वारा उद्धृत, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 456.

आर्थिक वर्ग, किसी अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत अथवा किसी विश्व सर्वहारा वर्ग के प्रति व्यक्ति की स्वीकार नहीं करता। उसका यह विश्वास है कि भावी युद्ध अनिवार्य है, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के परामर्शों द्वारा शान्ति के प्रयत्नों में उसे विश्वास नही है। इटली को दूसरे महान् राष्ट्रों के समान मानना ही चाहिए। 'वह अपमान सहन नही करेगा।' वह शान्ति को उस समय स्वीकार करेगा जब तक रोमन शान्ति होगी। राष्ट्र उसी समय स्वतन्त्र होते है, जब वे अपने भविष्य के पूर्ण स्वामी होते हैं।[1]

फासीवाद के दर्शन मे धर्म का उतना ही स्थान है जहाँ तक कि यह राष्ट्र को सगठित, सुदृढ़ बनाने में योग देता है। वैसे व्यक्तिगत रूप से मुसोलिनी धर्म मे आस्था नही रखता था लेकिन उसने राज्य को सर्वाधिकारी बनाने मे धर्म की सार्वभौमिकता का उपयोग करना उचित समझा। उसने अपने सर्वाधिकारी राज्य मे सत्ता और स्वतन्त्रता के बीच धर्म द्वारा पुल बाँधने का प्रयास किया। फासीवाद के सिद्धान्तवेत्ता जेन्टाइल ने फासीवाद के आत्मीकरण के लिए आदर्शवाद का प्रयोग किया जिसके अन्तगत राष्ट्र को एक सर्वव्यापी शाश्वत व्यक्तित्व का प्रतिरूप कहा। उसने बताया कि राज्य की चेतना मे ही व्यक्ति की चेतना का स्पष्टीकरण होता है। धर्म के सार्वभौमिक तत्व का उपयोग मुसोलिनी एव अन्य फासीवादी विचारको ने राज्य को सबल बनाने की दृष्टि से किया।

फासीवाद बुद्धि विरोध (Irrationalism) का सिद्धान्त भी है। यह विवेक पर आस्था न रखकर केवल कल्पना एव रहस्योद्घाटन पर विश्वास रखता है। मुसोलिनी ने 'राष्ट्र' शब्द के इर्द-गिर्द एक ऐसा माहौल बना दिया जो काल्पनिक एव रहस्यपूर्ण था और जिसे बिना समझे ही सर्वाधिक उत्कृष्ट एव महान् आदर्श से ओतप्रोत समझें। जहाँ तक मुसोलिनी को अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे बुद्धि का समर्थन मिलता था उतना भाग उसे स्वीकार था लेकिन दोनों के विरोध मे आने पर बुद्धि का कोई स्थान नही था। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि 'बुद्धि और तर्क केवल तभी तक स्वीकृत किए जा सकते थे जहाँ तक इनसे फासीवादी व्यवस्था को बल मिलता है। फासीवाद के विरुद्ध प्रयुक्त बुद्धि एवं तर्क अक्षम्य हैं और उनका प्रयोग करने वाले देशद्रोही हैं जिनका स्वतन्त्र नागरिकों की भाँति विचरण राज्य द्वारा स्वीकृत नही किया जा सकता। करीब दो दशकों तक एक ऐसा ही माहौल बना रहा जबकि चर्च के पादरी, व्यापारी, पत्रकार, नेता, प्राध्यापक, साहित्यसेवी, विधि शास्त्री आदि सभी विवेकशून्य होकर मुसोलिनी के अधिनायकत्व का समर्थन करते रहे मानो कि राष्ट्र की प्रभुता मे सब कुछ उचित और आवश्यक था। बुद्धि या विवेक के विरुद्ध मुसोलिनी का फासिस्टवाद एक रहस्यवाद था जो अपने आप में धर्म, नैतिकता और सर्वोच्च व्यक्तित्व भी था। जनता को डराकर और उसे

1. फ्रांसिस डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 458.

वरन् उसे दृढ़ता एवं साहस के गुणों का पोषक मानकर उसका समर्थन करते हैं, जिनके क्षीण होने से राष्ट्र भी क्षीण हो जाते हैं'''''यदि समस्त फासिस्ट सिद्धान्त तथा प्रयोग पर विचार किया जाए तो स्थिति इस प्रकार होगी-जब हिंसा उच्च राष्ट्रवादी उद्देश्यों द्वारा प्रेरित होती है तो उसे स्वाभाविक, नैतिक और उपयोगी मानना चाहिए, चाहे वह व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा हो या सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा, चाहे उसका प्रयोग नियमित रूप से किया जाय या अनियमित रूप से और उसका रूप चाहे जो भी हो ।'[1]

जहाँ समाजवादी चिन्तन की पुस्तक में फासीवाद एवं राष्ट्रीय समाजवाद को स्थान दिया गया उसका मूल कारण इनकी आर्थिक विचारधारा है। फासीवाद के आर्थिक विचार उसकी सामाजिक विचारधारा के अनुरूप ही हैं। प्रोफेसर कोकर ने इसे व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'फासिस्ट लोग न तो एक ओर सम्पत्ति के स्वामियों के व्यक्तिगत अधिकारों के व्यक्तिवादी आदर्श को स्वीकार करते हैं और न दूसरी ओर श्रम के पूर्ण फल पर श्रमिकों के अधिकार के समाजवादी आदर्श को और न उपभोक्ताओं की आवश्यकतानुसार उत्पादन के वितरण के समष्टिवादी आदर्श को ही मानते हैं। वे समस्त आर्थिक प्रश्नों पर राष्ट्रीय उपयोगिता की दृष्टि से विचार करते हैं, सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण के विषय राष्ट्रीय हैं, व्यक्तिगत हित के नहीं। इसी कारण वे व्यक्तिवाद तथा सार्वजनिक स्वामित्व दोनों को ही मुख्य आर्थिक नीति के रूप मे अस्वीकार करते हैं। राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति को उच्चतम अवस्था में कायम रखना चाहिए, जिससे साहसी नागरिकों का पोषण हो सके और राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि हो। राष्ट्र राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से सुसंगठित होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समुदाय को आर्थिक तथा अन्य बातों में राष्ट्र के समुदाय का साधन बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व अत्यन्त मूल्यवान साधन है क्योंकि आर्थिक आत्महित उत्पादन के लिए बड़ी प्रभावकारी प्रेरक शक्ति है किन्तु इस हित को सदैव राष्ट्रीय हित के अधीन रखना चाहिए। फासिज्म सम्पत्ति के निर्विवाद व्यक्तिगत अधिकारों और श्रमिकों या मालिकों के वर्गीय हितों को नहीं मानता। राष्ट्र अपने राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा आर्थिक जीवन मे सावयव संसृष्ट समाज है। अत: जब व्यक्तिगत उद्योग से राष्ट्रीय हित-साधन नही होता तो फासिस्ट सरकार किसी भी समय और किसी भी प्रकार से सहायता, नियंत्रण अथवा प्रत्यक्ष प्रबन्ध द्वारा हस्तक्षेप करने में अपने को स्वतंत्र समझती है।'[2]

फासीवाद राष्ट्रीय आत्म-निर्णय (National Self-determination) को मानता है और ऐसा करने में राष्ट्र पूर्ण रूप से स्वाधीन है। पुन: प्रोफेसर कोकर के शब्दों में 'फासिज्म किसी भी दूसरे के प्रति, व्यक्तिगत विवेक या अन्तरात्मा, किसी

1. फ्रांसिस डब्ल्यू. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 457.
2. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 557-58.

धार्मिक वर्ग, किसी अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत अथवा किसी विश्व सर्वहारा वर्ग के प्रति व्यक्ति को स्वीकार नही करता। उसका यह विश्वास है कि भावी युद्ध अनिवार्य है, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के परामर्शों द्वारा शान्ति के प्रयत्नो मे उसे विश्वास नही है। इटली को दूसरे महान् राष्ट्रों के समान मानना ही चाहिए। 'वह अपमान सहन नही करेगा।' वह शान्ति को उस समय स्वीकार करेगा जब तक रोमन शान्ति होगी। राष्ट्र उसी समय स्वतन्त्र होते है, जब वे अपने भविष्य के पूर्ण स्वामी होते हैं।[1]

फासीवाद के दर्शन मे धर्म का उतना ही स्थान है जहाँ तक कि यह राष्ट्र को संगठित, सुदृढ़ बनाने मे योग देता है। वैसे व्यक्तिगत रूप से मुसोलिनी धर्म मे आस्था नही रखता था लेकिन उसने राज्य को सर्वाधिकारी बनाने मे धर्म की सार्वभौमिकता का उपयोग करना उचित समझा। उसने अपने सर्वाधिकारी राज्य मे सत्ता और स्वतन्त्रता के बीच धर्म द्वारा पुल बाँधने का प्रयास किया। फासीवाद के सिद्धान्तवेत्ता जेन्टाइल ने फासीवाद के आत्मीकरण के लिए आदर्शवाद का प्रयोग किया जिसके अन्तगत राष्ट्र को एक सर्वव्यापी शाश्वत व्यक्तित्व का प्रतिरूप कहा। उसने बताया कि राज्य की चेतना मे ही व्यक्ति की चेतना का स्पष्टीकरण होता है। धर्म के सार्वभौमिक तत्व का उपयोग मुसोलिनी एव अन्य फासीवादी विचारको न राज्य को सबल बनाने की दृष्टि से किया।

फासीवाद बुद्धि विरोध (Irrationalism) का सिद्धान्त भी है। यह विवेक पर आस्था न रखकर केवल कल्पना एव रहस्योद्घाटन पर विश्वास रखता है। मुसोलिनी ने 'राष्ट्र' शब्द के इर्द-गिर्द एक ऐसा माहौल बना दिया जो काल्पनिक एव रहस्यपूर्ण था और जिसे बिना समझे ही सर्वाधिक उत्कृष्ट एव महान् आदर्श से ओतप्रोत समझें। जहाँ तक मुसोलिनी को अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे बुद्धि का समर्थन मिलता था उतना भाग उसे स्वीकार था लेकिन दोनों के विरोध मे आने पर बुद्धि का कोई स्थान नही था। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि 'बुद्धि और तर्क केवल तभी तक स्वीकृत किए जा सकते थे जहाँ तक इनसे फासीवादी व्यवस्था को बल मिलता है। फासीवाद के विरुद्ध प्रयुक्त बुद्धि एवं तर्क अक्षम्य हैं और उनका प्रयोग करने वाले देशद्रोही हैं जिनका स्वतन्त्र नागरिको की भाँति विचरण राज्य द्वारा स्वीकृत नही किया जा सकता। करीब दो दशकों तक एक ऐसा ही माहौल बना रहा जबकि चर्च के पादरी, व्यापारी, पत्रकार, नेता, प्राध्यापक, साहित्यसेवी, विधि शास्त्री आदि सभी विवेकशून्य होकर मुसोलिनी के अधिनायकत्व का समर्थन करते रहे मानों कि राष्ट्र की प्रभुता में सब कुछ उचित और आवश्यक था। 'बुद्धि या विवेक के विरुद्ध मुसोलिनी का फासिस्टवाद एक रहस्यवाद था जो अपने आप में धर्म, नैतिकता और सर्वोच्च व्यक्तित्व भी था। जनता को डराकर और उसे

1. फ्रांसिस डब्ल्यू कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 458.

प्रोत्साहित कर उसकी श्रद्धा को जीत लेना या वश में कर लेना मुसोलिनी का बुद्धि विरोधवाद था।'[1]

राष्ट्रीय समाजवाद या नाजीवाद
(National Socialism or Nazism)

राष्ट्रीय समाजवाद या नाजीवाद के दर्शन का विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता नही है क्योंकि इसमे और फासीवाद मे कोई मूल अन्तर नहीं है। जर्मनी, जहां नाजीवाद पनपा और फासीवाद के घर इटली की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के अनुरूप ही ये दो विचारधाराएँ ढाली गई हैं, चूँकि दोनों देशों की परिस्थितियो में बहुत ही अनुरूपता थी अतः दोनो विचारधाराओं में समानता है, दोनो मे जो थोड़ा-बहुत अन्तर कहा जा सकता है वह दो देशों की परिस्थितियों के अन्तर का परिणाम हो सकता है। लेकिन यह अन्तर मौलिक नहीं है।[2] फिर भी नाजीवाद के दर्शन का एक संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जाएगा लेकिन उसके पूर्व उन परिस्थितियो का अध्ययन आवश्यक है जिनके अन्तर्गत जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद अथवा नाजीवाद का विकास हुआ।

जर्मन परिस्थितियाँ एवं नाजीवाद

जैसा कि सर्वविदित है जर्मनी प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होकर 1919 की वर्साय की संधि को मानने के लिए मजबूर किया गया था। यह संधि, जैसा कि कार ने कहा है, एक आरोपित संधि थी। जर्मनी को इस संधि के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक, क्षेत्रीय एवं सामरिक हानि के साथ ही उसके राष्ट्रीय स्वाभिमान को जबर्दस्त चोट पहुँचाई गई। जर्मन राष्ट्र तिलमिला उठा था, उसकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो चली थी। वर्साय संधि के उपरान्त सरकारें अस्थिर हो गई थी, कोई भी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने में समर्थ नहीं थी। उसे एक ऐसे नेता की नितान्त आवश्यक्ता थी जो राष्ट्रीयता के उबलते हुए खून को खौला सके और राष्ट्रीय शक्ति को संगठित कर अपने खोए गौरव को पुन. प्राप्त कर सके।

सन् 1920 मे जर्मन मजदूर दल का संगठन किया गया जिसने राष्ट्रीय समाजवाद अथवा नाजीवाद को जन्म दिया। परिस्थितियों के कारण मजदूर दल की प्रकृति समाजवादी न होकर अधिकाधिक राष्ट्रीय होती चली गई और एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व मे तो इसे जातीय रंग भी मिल गया। उसने जर्मन जाति को आर्य जाति घोषित किया और उसके झण्डे के नीचे सभी गैर यहूदी लोगों को एकत्रित किया गया। हिटलर ने सभी वर्गों-किसान, मजदूर, छोटे एव बड़े पूँजीपतियों, उद्योगपतियों वेतनभोगी कर्मचारियों, बुद्धिजीवियो आदि सभी राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से सबद्ध करने का झूठा वायदा किया। यह मजदूर दल आगे चल कर राष्ट्रीय समाजवादी

1. के एल. वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें, भाग 2, पृ० 295
2. *Coker :* Recent Political Thought, p. 486.

दल कहलाया जिसे 1929 के चुनाव में जर्मन संसद में केवल 12 स्थान प्राप्त हुए, लेकिन इसके उपरान्त इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सन् 1930 में इस दल को 130 स्थान मिल गए। सन् 1932 मे तो वह जर्मनी का सबसे बड़ा राजनीतिक दल बन गया और इसे 37 प्रतिशत एव 230 स्थान भी ससद में प्राप्त हुए। हिटलर बड़ा प्रभावशाली और कुशल नेता सिद्ध हुआ। उसने अपने धुंआधार प्रचार कार्य में वर्साय की सधि की भर्त्सना की एव जर्मनी को गौरवशाली बनाने पर जोर दिया। उसने जर्मनी को एक सामरिक शक्ति बनाने पर बल दिया और साथ ही मांग की कि क्षतिपूर्ति की शर्तें समाप्त कर दी जाएँ एव यहूदियो को जर्मनी से निकाल बाहर किया जाए। उसका प्रभाव इस सीमा तक बढ़ गया कि उसे 29 जनवरी, 1933 को जर्मनी का चांसलर बनने के लिए आमन्त्रित किया गया। एक बार सत्ता प्राप्त करने के बाद तो उसने सर्वाधिकारी राज्य की स्थापना की और स्वय वहाँ का तानाशाह बन गया। नाजीवाद की परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई क्योंकि हिटलर का उद्देश्य युद्ध के द्वारा ससार मे जर्मन आधिपत्य को स्थापित करना था। हिटलर की बढती हुई शक्ति वर्साय की सधि को समाप्त करने के लिए काफी थी। द्वितीय विश्व युद्ध जिसे प्रारम्भ उसने किया था, प्रारम्भिक वर्षों मे हिटलर एवं मुसोलिनी के पक्ष मे रहा लेकिन धीरे-धीरे स्थिति बदल गई। 1945 का अप्रैल माह निर्णायक सिद्ध हुआ। मित्र राष्ट्रों ने जर्मन जनरलो को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य कर दिया। हिटलर ने 30 अप्रैल 1945 की दुर्गति से बचने के लिए आत्म-हत्या कर ली।

नाजीवाद के सिद्धान्त

नाजीवाद के सिद्धान्त एव स्रोत करीब-करीब वही है जो कि फासीवाद के हैं। जिन परिस्थितियो मे इन विचारधाराओ का उदय हुआ वे भी बहुत समान थी। यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध मे इटली जिन राज्यो के साथ था लेकिन उसके साथ किए गए वायदे पूरे न किए जाने के कारण वह घोर असतुष्ट था। प्रथम विश्व युद्ध के के उपरान्त वहाँ की स्थिति काबू के बाहर हो चली थी। आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी और इसके साथ ही राजनीतिक अस्थिरता आ गई थी। जर्मनी प्रथम विश्व युद्ध मे पराजित हुआ था जिसके परिणामों का, सक्षेप मे, वर्णन यहाँ किया जा चुका है। सार यह है कि दोनो ही देशो की आर्थिक स्थिति बिगड चुकी थी, सरकारें इसे नियन्त्रण में लाने मे असमर्थ थी, जनसाधारण क्षुब्ध एव उत्तेजित था, राष्ट्रीय सम्मान रसातल को पहुँच चुका था। इस परिप्रेक्ष्य मे नाजीवाद एव फासीवाद के उद्गम को समझा जा सकता है लेकिन जर्मन राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि कुछ पृथक् और अनेक तत्वो से मिश्रित थी जिसका यहाँ, सक्षेप मे, वर्णन किया जा रहा है।

जर्मनी के सदर्भ में जातीय श्रेष्ठता के विचार का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। सेबाइन ने जातीय और राजनीतिक भूगोल के सिद्धान्तो को हिटलरवाद के विकास मे प्रमुख माना है। स्पेन्गलर ने सांस्कृतिक संघर्षों का वर्णन करते हुए यह

सार निकाला है कि जर्मनी ही एक ऐसा देश है जो एशिया व काली जातियों के विरोध को समाप्त करने में सहायक हो सकता है। स्पेनगलर ने जनतन्त्र के स्थान पर अधिनायकतन्त्र के आगमन को विकास की दिशा में एक कदम बताया है। मोयनर वानडेक ब्रक ने यह बताया कि अब विकास की दिशा भौतिकवाद की ओर न होकर राष्ट्रीयता की ओर है। मार्क्सवाद को उसने भौतिकवादी होने के कारण गलत बताया। राष्ट्रीयता में उसने कुलीनता का तत्त्व बताया और मार्क्सवाद राष्ट्रीयता को साथ लेकर चले तो उसकी सफलता फिर भी सम्भव है। उसने बताया कि मार्क्स ने अपनी शक्ति 'सर्वहारा वर्ग' से ग्रहण करनी चाही लेकिन सर्वहारा वर्ग तो निम्न वर्ग है जो विकास की प्रक्रिया में सदैव पीछे रहा है। ब्रक ने मार्क्सवाद की दिशा विकास के विपरीत बताई। हाउस्टन एवं रिचार्ड वैगनर ने जातीयता के आधार पर जर्मनवाद को राष्ट्रीय उच्चतर का आधार बताया। इन्होंने बताया कि कुछ जातियाँ श्रेष्ठ होने के कारण केवल शासन करने के लिए ही पैदा होती हैं और अन्य जातियाँ केवल शासित होने के लिए ही होती है। रोजन बर्ग का मत था कि आर्यों ने संसार के विभिन्न भागों में प्राचीन सभ्यताओं को जन्म दिया और वे मिस्र, भारत, फारस, यूनान, रोम एवं जर्मनी में बसी लेकिन जर्मनी को छोड़कर वे सब अपने जातीय गुणों को खो चुकी हैं और जर्मन जाति को अनार्य प्रभाव से बचाया जाना आवश्यक है। यह संकेत यहूदियों की ओर था जो कि आर्य नहीं हैं। हिटलर पर पर इन विचारों का प्रभाव पड़ा मालूम देता है। हिटलर ने जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त को अपनी कथनी और करनी में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त हिटलर राजनीतिक भूगोल के इस सिद्धान्त से भी प्रभावित हुआ प्रतीत होता है कि जो कोई पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लेगा वह पूरे एशिया, यूरोप एवं अफ्रीका में राज्य करेगा। मैकाइवर के शब्द हैं जिन्हें सेबाइन ने उद्धृत किया 'जो कोई पूर्वी यूरोप पर शासन करता है, वह अन्तर्देश (मध्यएशिया) पर नियन्त्रण करता है, जो अन्तर्देश पर शासन करता है, वह विश्वद्वीप पर नियन्त्रण करता है, जो कोई विश्वद्वीप पर शासन करता है वह संसार पर नियन्त्रण करता है।'[1] इसमें जर्मन विस्तारवाद का मन्त्र था। सार यह है कि हिटलरवाद जर्मन आर्य जाति की श्रेष्ठता तथा जर्मन विस्तारवाद के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित था।

जातीय श्रेष्ठता और विस्तारवाद के मध्य में नाजी राज्य है जो कि नाजी-वाद का मूल तत्त्व है। नाजी राज्य एक सर्वाधिकारी राज्य था जिसका लक्ष्य जैसाकि सेबाइन ने बताया साम्राज्य विस्तार था। नाजी और फासिज्म राज्य के अनेक तत्त्व समान हैं, दोनों ही सर्वाधिकारी राज्य हैं लेकिन हिटलर ने राज्य के साथ आध्यात्मिक भावना लोकराज्य के सिद्धान्त को जोड़ कर इस दृष्टि से मुसोलिनी को पीछे छोड़ दिया। जातीय स्वाभिमान और गर्वोक्ति की भावना जनसाधारण के अधिक समीप थी। 'प्रत्येक शक्ति और साधन का उपयोग राष्ट्रीय शक्ति के परिमार्जन में हो, यही

1. Democratic Ideals & Realities (1942), p. 150, quoted by Sabine, op. cit., p.741.

नाजी राज्य की अवधारणा थी। अता त्व आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक सामाजिक शैक्षणिक, श्रमिक, साहित्यिक और ध ार्मिक सभी साधनों एवं संस्थाओं का उपयोग इस राष्ट्रीय राज्य के उस लक्ष्य को प्राप्त करने मे किया गया जिसका एकमात्र विधाता हिटलर का स्वनिर्मित व्यक्ति व था। सरकार व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों ही क्षेत्रो मे बारीक से बारीक चीजो का नियन्त्रण करती थी। स्वतन्त्रता और समानता नाम की कोई चीज र नही गई थी। अवकाश, मनोरंजन, धर्म, विद्यालय, क्लब, संगठन, प्रेस, विद्वता, कला, संस्कृति, थियेटर और विज्ञान नाजीवाद के प्रचार विभाग बन गए। सन् 193 3 मे गोएबेल्स का प्रचार विभाग खोला गया जिस पर इस बात का दायित्व था कि वह राष्ट्र के मानसिक जीवन पर सम्मोहक प्रभाव डाले और उसे राष्ट्रीय समाजवा द का पुजारी बना दे।'[1]

हिटलर ने अपनी आत्मकथा ' ेन केम्फ' मे शिक्षण संस्थाओ, समाचार-पत्रो, चलचित्रों आदि पर राज्य के पूर्ण निय त्रण की बात कही है। उसने रक्त की शुद्धता पर भी बहुत जोर दिया है। उसका क थन है कि 'प्रत्येक लडके-लडकी को इस बात का अहसास होना चाहिए और जब तक उसे यह ज्ञान न हो जाए, उसे स्कूल अथवा कॉलेज छोडने की अनुमति नही मिलनी चाहिए। इतना ही नही हिटलर ने कला पर भी राज्य का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर दिया। उसने कहा कि 'सर्वाधिकारी राज्य कला से पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नह ी करता—उसकी माँग है कि कलाकारो को राज्य के प्रति सकारात्मक नीति अपनानी चाहिए।' रोजन वर्ग ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'जर्मन विश्वविद्यालयो से बिन किसी मर्यादा के अध्ययन की ापात्त स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जानी चाहिए और उसके स्थान पर सच्ची स्वतन्त्रता अर्थात् राष्ट्र की सजीव शक्ति बनाने की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठापित कर दी जानी चाहिए ऐसा हिटलर के अधीन जर्मनी मे कर भी दिया गया।

विज्ञान और अर्थव्यवस्था भी ना जी राज्य में मर्यादित थी। अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से राज्य के अधीन थी। राज्य ने समस्त अर्थ-व्यवस्था को जैसा चाहा काम मे लिया। एक प्रकार से अर्थव्यव स्था युद्ध-अर्थ-व्यवस्था थी और इसी दृष्टि से उत्पादन होता था।

सारे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ार्मिक जीवन की स्वायत्तता नष्ट कर दी गई थी। इनका उपयोग नाजीवाद के सम र्थन के लिए किया जाता था।

मैक्सी ने लिखा है कि नाजीवादी राज्य जातीय एकता, शुद्धता एवं विकास का एक साधन था। नाजियो का मत था कि जी के सम्पूर्णत्व को उच्चतर भूमि मे विकसित करने के लिए जाति प्रकृति की इच्छा का मार्ग-दर्शन करती है। हिटलर जर्मन राष्ट्र का सर्वस्व था, उनकी आत्म ा और इच्छा का सर्वोच्च प्रतीक था।[2]

1. के. एन. वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचा रधाराएँ, भाग 2, पृष्ठ 317.
2. *Maxey*, op. cit., p. 651.

'मेनकेम्फ' नाजीवाद की बाइबिल बन गया था और इसीलिए मॉर्गेन्थ्यू ने नाजीवाद को राजनीतिक दर्शन कम और राजनीतिक धर्म अधिक बताया है।

नाजीवाद जैविक सिद्धान्त की दृष्टि से राष्ट्र को एक जीव मानता है और जीव को जीवित रखने के लिए उसका पोषण आर्थिक समृद्धि एवं विकास उसका विस्तार मानता है। इस प्रकार विस्तार एक राष्ट्र को जीवित रखने के लिए आवश्यक है। नाजीवाद सीमोल्लंघन में विश्वास करता है। वह राज्य की कोई निश्चित सीमा नहीं मानता। प्रोफेसर सेबाइन ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राणवान राज्य इस बात के लिए बाध्य होते हैं कि वे अपने स्थान का विस्तार करें। राज्य की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। उसकी केवल एक अस्थायी सीमा-रेखा होती है। वह सतत् विकास में शांति का एक बिन्दु मात्र होती है। श्रेष्ठ सीमान्त वह है जो विकास के अनुकूल हो, जो दूसरे राज्यों में प्रवेश करने तथा सीमा-घटनाओं को बढ़ावा देने के लिए अनुकूल होता है। प्रगति संघर्ष के माध्यम से ही होती है। श्रेष्ठ जाति हीन जातियों का शोषण करके अपने जीवन-स्तर को ऊंचा रखे और हीन व अधीनस्थ जातियों को इस बात के लिए विवश कर दिया जाए कि वे बहुत हल्के स्तर का जीवन बिताएँ। एक शक्ति सारे संसार पर शासन स्थापित करे। सारा संसार नियंत्रण के कुछ क्षेत्रों में बाँट दिया जाए और प्रत्येक क्षेत्र पर एक नियन्त्रणकारी शक्ति से शासन करे।[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

फासीवाद एवं राष्ट्रीय समाजवाद अथवा नाजीवाद की आलोचना के तत्व करीब-करीब समान ही हैं।

फासीवाद एवं राष्ट्रीय समाजवाद के आलोचक इसे साधारण जनता के हित में किए जाने वाले समाजवादी तथा उदारवादी सुधारों के विरुद्ध पूंजीवादी प्रतिरोध का षड्यन्त्र मानते हैं। उनका यह विचार उनकी इस धारणा पर आधारित है कि बड़े उद्योगपतियों एवं व्यापारियों ने फासीवाद और नाजीवाद को भारी आर्थिक सहायता दी है। कोकर के शब्दों में, "फासिज्म ने व्यक्तिगत स्वत्व का समर्थन किया है, समाजवाद के विघटनकारी तथा क्षयकारी प्रभावों की निन्दा की है, हड़तालों के दमन तथा व्यवस्था को कायम रखने में बड़े जोश के साथ काम किया है और सामाजिक व्यवस्था के औचित्य की कसौटी के रूप में कार्य-कुशलता तथा व्यवस्था पर जोर दिया है, इन सब बातों के कारण ही उसे पूंजीपतियों का शक्तिशाली समर्थन मिला।"[2]

फासीवाद एवं नाजीवाद कोरे राजनीतिक दर्शन कम और राजनीतिक तिकड़म अधिक हैं। सेबाइन के अनुसार, कुछ लोगों के मत में फासिस्टवाद और

1. सेबाइन, वही पुस्तक, पृष्ठ 849.
2. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 459.

राष्ट्रीय समाजवाद (हिटलरवाद) का कोई दर्शन नही है। उनकी पद्धतियो म भीड के मनोविज्ञान और आतंक का चित्रण था। उनके नेताओ का केवल एक ही उद्देश्य था-शक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाए रखना। सेबाइन ने इस पर टीका करते हुए लिखा है कि फासिस्ट दर्शन एक अशिष्ट दर्शन और व्यंग चित्रण था तथापि समस्त व्यंग चित्रो की भांति उसमे कुछ सच्चाई भी थी।[1]

फासीवाद और नाजीवाद घोर असहिष्णु हैं। इनके अनुसार सारा सत्य केवल इनके चिन्तन मे ही है, शेष सब मिथ्या है और इनके विचार में जो इनके साथ नही हैं वे घोर शत्रु हैं और इसलिए उनका खातमा करना आवश्यक है। विश्व सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने पर चल सकता है, फासीवाद और नाजीवाद का अर्थ हुआ कि या तो विश्व,इन विचारधाराओ के अनुसार ही संचालित होगा अन्यथा विप्लव होगा। इसका परिणाम यह निकला कि कुछ विप्लव कराके हिटलर और मुसोलिनी स्वयं खत्म हो गए और विश्व तो अपने ढंग से चल रहा है।

दोनों फासीवाद और नाजीवाद जातीयता के पोषक और लोकतन्त्र के विरोधी हैं। यद्यपि फासीवाद के लिए इतना नहीं कहा जा सकता जितना कि नाजीवाद के लिए कि यह जातीयता का पोषक है। नाजीवाद की जातीय श्रेष्ठता का सिद्धान्त पूर्व पृष्ठों में वर्णित है। मुसोलिनी भी श्रेष्ठ व्यक्तियों (Elites) की बात कहता था और केवल उन्हें ही शासन-प्रक्रिया से सम्बद्ध करना चाहता था, उसने सर्व-साधारण को तो तिरस्कृत भाव से ही देखा। दोनों ही विचारधाराएँ लोकतंत्र की घोर विरोधी हैं।

दोनों ही विचारधाराएँ युद्ध और हिंसा पर जीवित हैं, इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इनका भोजन युद्ध और हिंसा है। द्वितीय विश्व महायुद्ध इन दोनों विचारधाराओं के उत्कर्ष का ही परिणाम है। ये नीत्शे के पशु महामानव के विकास के लिए 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' का डार्विनवादी कार्यक्रम प्रस्तुत करती हैं।

रोको ने फासीवाद के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि यह आन्तरिक दृष्टि से सुव्यवस्थित और बाह्य में आक्रमणशीलता और विस्तारवादी राज्य को कायम करना है। यह बात नाजीवाद पर भी पूर्णतः लागू होती है। विस्तारवादी राज्य को प्राप्त करने हेतु जो मुसोलिनी और हिटलर ने किया शायद वे मैकियावली द्वारा निर्देशित रास्ते से भी आगे बढ गए। इन्होने धोखाधड़ी, तिकड़म, हिंसा, हत्या, मिथ्याचरण आदि सभी का सहारा लिया। ये सब निन्दनीय कृत्य हैं। हिटलर ने लाखों यहूदियो की हत्या करदी है। इसमें से एक दर्दनाक घटना इस प्रकार की है। उसके आदेश से 60 हजार यहूदी एक सुरंग में भर दिए गए और फिर जहरीली गैस छोड़कर उनकी अमानुषिक हत्या कर दी गई। विस्तारवाद अनन्त है और इस

1. *Sabine*; op. cit., pp. 710-11.

प्रकार युद्ध और हिंसा भी अनन्त हैं। फासीवाद और नाजीवाद की विचारधाराएँ शांति की प्रबल शत्रु है।

नाजीवाद को राष्ट्रीय समाजवाद कहा गया है लेकिन इसका स्वरूप न राष्ट्रीय है और न समाजवादी ही है। वास्तव में यह तो हिटलरवाद है जो एक व्यक्ति की तानाशाही का दूसरा नाम है। इनकी शब्दावली मे राष्ट्रीय का अर्थ आर्य-जाति की प्रभुता से है और समाजवाद का अर्थ जर्मन सर्वहारा राष्ट्र के विश्व पर आच्छादित वर्चस्व से है। सच तो यह है कि यहाँ राष्ट्रीय और समाजवाद दोनों ही शब्दों का अर्थ बदल गया है।

फासीवाद और राष्ट्रीय समाजवाद की प्रशंसा सैद्धान्तिक स्तर पर करना कठिन प्रतीत होता है। हाँ, इनके प्रभाव के बारे मे अवश्य कहा जा सकता है। इनके प्रभाव का कारण यह था कि प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त इटली और जर्मनी में उत्पन्न स्थिति का सामना केवल मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाह ही कर सकते थे। सच तो यह है कि जब प्रतिनिधि संस्थाएँ तथा उदार राजकीय नीतियाँ इच्छा-शक्ति और कार्य-शक्ति के अभाव मे विफल रहतीहैं अथवा सामुदायिक हितों के सामने राष्ट्रीय हितों की हत्या होने देती हैं, तब जनता किसी भी ऐसे व्यक्ति के निरकुश शासन मे रहने के लिए तैयार हो जाती है,जो चाहे जिस प्रकार सत्ता हस्तगत करे और चाहे जिस प्रकार शासन करे परन्तु सुव्यवस्था कायम रख सके, सुशासन स्थापित कर सके और देश के अन्दर और बाहर उसके लिए आदर प्राप्त कर सके।""इटली मे स्थित एक भूतपूर्व अमेरिकन राजदूत ने कहा था कि हम राजनीतिक मशीन के सचालक (मुसोलिनी) मे अति-राजनीतिज्ञता (Super Statesmanship) के गुण है। सन् 1928 मे उसने कहा था कि 'हमारे समय मे यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि कोई भी व्यक्ति स्थायी महानता के उन विशाल गुणों का वैसा परिचय नही दे सकेगा जैसा कि मुसोलिनी ने दिया है।""अधिकतम मनुष्यों पर स्थायी तथा मौलिक प्रभाव डालने की दृष्टि से 'नेता' (Duce) इस समय तथा इस क्षेत्र मे सबसे महान् व्यक्ति है।[1]

जो यह बात मुसोलिनी के लिए कही गई है उससे कही बढ़कर हिटलर के लिए कही जा सकती है। जर्मनी मे अब भी अनेक हिटलर और नाजीवाद के अतीत पर गर्व करते हैं और उन्हें यदि कोई 'हिटलर' मिल जाए तो तृतीय विश्वयुद्ध की तैयारी मे कमी नही रखेंगे। हिटलर और मुसोलिनी ने अल्प समय मे जो कुछ क्रमशः जर्मनी और इटली को दिया वह शायद किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत सभव नही है। जर्मनी और इटली का इतना जबर्दस्त आर्थिक और सामरिक निर्माण हुआ कि यूरोप और विश्व इनसे थर्रा उठे। इन देशो के निवासियो मे एक नवीन आध्यात्मिक एकता का निर्माण किया गया और जनता में एक अभूतपर्व जोश का

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 463-64.

संचार हुआ। इस ऐतिहासिक सफलता का श्रेय फासिस्ट और नाजी दलों के उत्तम संगठनों एवं मुसोलिनी और हिटलर के प्रभावशाली नेतृत्व को है। तानाशाही राष्ट्र का तीव्रगति से आर्थिक और सामरिक निर्माण भी कर सकती है और फिर उसे गर्त में भी ले जा सकती है–इन दोनों ही बातों का सबूत हमें फासीवाद और नाजीवाद में मिला।

अन्त में, फासीवाद और नाजीवाद के विषयों के विरुद्ध यही कहा जा सकता है कि इनमें अधिक समय तक जीवित रहने की क्षमता न थी। जैसा कि बेनदेटो क्रास ने कहा है कि 'बल प्रयोग पर आधारित शासन केवल पतनोन्मुख जातियों में ही अधिक काल तक बने रह सकते हैं, वे ऐसे राष्ट्रों में अस्थायी काल के लिए ही कायम रह सकते हैं जो आगे बढ़ रहे हैं तथा ऊँचे उठ रहे हैं और दमन से नियन्त्रित शक्तियों के अधिक हिंसात्मक विस्फोट होते हैं।'[1] प्राचीन रोम पर लिखते हुए फ़ेरो ने भी उपर्युक्त मत का समर्थन किया है, 'बल ने जिसकी रचना की थी, उसका नाश भी बल ने कर दिया। रोम साम्राज्य का सेना द्वारा निर्माण हुआ था और उसका अन्त सेना ने ही कर दिया। प्राचीन सभ्यता रोमन साम्राज्य के साथ ही मिट गई जबकि साम्राज्य में शासन केवल बल पर ही आधारित रह गया था और उसे कानूनी अधिकार का कोई समर्थन प्राप्त नहीं था।'[2] अन्त में, सेबाइन के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'हिटलर और मुसोलिनी दोनों ही अपने को अतिमानव समझते थे। दोनों के मन में जनता के प्रति घृणा का भाव था। दोनों ही नैतिक सनकीपन के स्थान पर मूल्यों के अतिमूल सूत्र का अधिक बुद्धिमत्ता के साथ प्रयोग कर सकते थे। फासिस्ट और राष्ट्रीय समाजवादी दोनों ही नये किस्म के बर्बर थे। नैतिक त्याग अथवा अतिसभ्यताओं ने उन्हें मृदु नहीं किया था। दोनों ही अपने को एक पतनशील सभ्यता का सुधारक कहते थे। नीत्शे के समान उनके रूप में भी लोकतंत्र और ईसाई धर्म के प्रति घृणा का भाव था।'[3]

---

1. *Croce* : 'Has Liberalism a Future?' New Republic XLII (1925). p. 257.
2. *Ferrew* : Dictatorship in Ancient Rome in Dictatorship on Trial, p. 33.
3. सेबाइन, वही पुस्तक, पृष्ठ 818.

12 गाँधीवाद, समाजवाद एवं मार्क्सवाद

(Gandhism, Socialism and Marxism)

महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन
(The Gandhian Way)

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'मैन्चेस्टर गार्जियन' ने महात्मा गांधी की हत्या के समय लिखा था कि वह राजनीतिज्ञों में महात्मा और महात्माओं मे राजनीतिज्ञ थे। ठीक भी है, गांधीजी एक पद्धतिपूर्ण राजनीतिक विचारक नही थे, केवल राजनीतिज्ञ तो उन्हें कहना और भी अनुचित है। राजनीतिक अर्थ मे, 'गाँधीवाद' जैसी कोई वस्तु नही है।[1] गांधीजी अपने पीछे कोई 'वाद' नाम की वस्तु नही जोड़ना चाहते थे[2] क्योंकि इसमें जटिलता आ जाती है। गांधीजी के लिए कोई वस्तु अन्तिम न थी, अनुभव एवं सत्य के आधार पर यदि वर्षों तक मानी हुई कोई वस्तु खरी नहीं उतरती तो उसे छोड़ देने में उन्हें कोई आपत्ति न थी। उन्हें किसी वस्तु के प्रति ममता अथवा लगाव न था। किसी विचारधारा को 'वाद' की संज्ञा देने के कई दुष्परिणाम निकलते हैं और गांधीजी उससे सुपरिचित थे। मार्च, सन् 1939 मे एक भाषण मे सेवासंघ के सदस्यों से गांधीजी ने कहा था कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नही है। मैंने तो अपने तरीकों से शाश्वत् सत्य को दैनिक जीवन में उतारने का प्रयत्न भर किया है। मेरे जो मत हैं और जिन परिणामों पर मैं पहुँचा हूँ वे अंतिम नहीं हैं······ सत्य और अहिंसा उतनी ही पुरानी है जितनी कि ये पहाड़ियां······मेरा दर्शन जिसे आपने गांधीवाद का नाम दिया है, सत्य और अहिंसा में निहित है। आप इसे गांधीवाद से न पुकारें क्योंकि इसमें वाद तो है ही नहीं[3]। वे अपने पीछे कोई अनुयायी भी छोड़ कर जाना नहीं चाहते थे। फिर

1. "There is,therefore, as yet no such thing as Gandhism but only a Gandhian way and outlook which is neither rigid, nor formal, nor final. It merely indicates the direction without trying to fill in the details finally or for all time to come." —*J. B Kriplani*
2. "I have no desire to found a sect I am really too ambitious to be satisfied with a sect for a following, for I represent no new truth". —*M K Gandhi*
3. Gandhi on World Affairs, p. 29.

गांधीवाद जैसी कोई वस्तु इसलिए भी नहीं है कि गांधीजी पूर्णतः कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक न थे। यथार्थ मे, वे एक धार्मिक पुरुष थे, राजनीति मे तो उन्हे परिस्थितियाँ घसीट लाई थी। आधुनिक प्रवृत्ति धर्म के सकीर्ण अर्थ में समझने की है लेकिन गांधीजी का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। वह धर्म को बिना मानव जीवन को शून्य एवं नीरस समझते हैं। जब वह धर्म का उल्लेख करते थ तो उनका आशय हिन्दू-धर्म, इस्लाम अथवा अन्य किसी धर्म से नहीं था, उनका धर्म कर्तव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नही है जो मनुष्य को उसके दैनिक जीवन मे सतत् प्रेरणा देता रहता है। इन सारे तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गांधीवाद शब्द का प्रयोग करना गांधीजी के सिद्धान्तों के विपरीत आचरण करना है, उनके सिद्धान्तों को एक स्थान पर रख कर यदि एक शीर्षक की आवश्यकता ही पड़े तो हम इसे गांधीजी का 'जीवन दर्शन' कह कर पुकार सकते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महात्मागांधी किसी 'वाद' के संस्थापक न थे। उन्होंने समस्याओं पर, जैसी कि वे उनके सामने आई, अपने विचार रखे। यह सोचने का एक स्वाभाविक तरीका भी है। वर्षों तक मान्य अथवा स्वीकृत सिद्धान्त या नियम, नूतन अनुसंधान और अनुभव के आधार पर यदि झूठे सिद्ध हो जाएँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हे छोड देना चाहिए। दुनियाँ मे कोई वस्तु अंतिम नही होती, केवल परम्परा को ध्यान में रखकर किसी बेकार चीज मे चिपटे रहना विवेक नही है। यह एक वैज्ञानिक ढंग है और इसका अनुकरण केवल एक साहसी व्यक्ति ही कर सकता है। हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक गण-मान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति अनेक भूलें कर जाते हैं, समय उनकी भूलों को सिद्ध भी कर देता है लेकिन मिथ्या आत्म-सम्मान की भावना उन्हे ऐसा स्वीकार करने से रोक देती है। लेकिन उनकी इस हठधर्मी से समाज को कभी-कभी भयंकर क्षति उठानी पडती है। सौभाग्य से, गांधी इस बीमारी मे दूर थे। वह अपनी किसी भी वस्तु को कभी भी छोड सकते थे क्योंकि उनका उद्देश्य पूर्व वंचित या लिखित किसी वस्तु की सत्यता को सिद्ध करना न होकर वर्तमान में किसी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसना था। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'My Experiments with Truth' में रखा। सच तो यह है कि आज किसी वस्तु पर विचार व्यक्त करते या लिखते समय वे यह याद नहीं रखते थे कि उन्होंने इस सम्बन्ध में कल क्या कहा था। यद्यपि उन्होंने कहा है कि उनके पहले और बाद के विचारों मे कोई मौलिक अन्तर नही आया लेकिन फिर कहीं विरोध नजर आने पर उनकी राय थी कि उनके बाद वाले विचारों को ही स्वीकार करना चाहिए।[1] भोजन और स्वास्थ्य रक्षा से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय

1. "At the time of writing I never think of what I have said before. My aim is not to be consistent with my previous statements on a given question, but to be consistent with truth as it may present itself to me on a given moment". —Harijan, Sept, 30, 1939.

12 गाँधीवाद, समाजवाद एवं मार्क्सवाद

(Gandhism, Socialism and Marxism)

महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन
(The Gandhian Way)

इग्लैंड के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'मैंन्चेस्टर गार्जियन' ने महात्मा गांधी की हत्या के समय लिखा था कि वह राजनीतिज्ञों में महात्मा और महात्माओं मे राजनीतिज्ञ थे। ठीक भी है, गांधीजी एक पद्धतिपूर्ण राजनीतिक विचारक नहीं थे, केवल राजनीतिज्ञ तो उन्हें कहना और भी अनुचित है। राजनीतिक अर्थ में, 'गाँधीवाद' जैसी कोई वस्तु नहीं है।[1] गांधीजी अपने पीछे कोई 'वाद' नाम की वस्तु नहीं जोड़ना चाहते थे[2] क्योंकि इसमें जटिलता आ जाती है। गांधीजी के लिए कोई वस्तु अन्तिम न थी, अनुभव एवं सत्य के आधार पर यदि वर्षों तक मानी हुई कोई वस्तु खरी नहीं उतरती तो उसे छोड़ देने मे उन्हें कोई आपत्ति न थी। उन्हें किसी वस्तु के प्रति ममता अथवा लगाव न था। किसी विचारधारा को 'वाद' की संज्ञा देने के कई दुष्परिणाम निकलते हैं और गाँधीजी उससे सुपरिचित थे। मार्च, सन् 1939 मे एक भाषण में सेवासंघ के सदस्यों से गांधीजी ने कहा था कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है; मैंने तो अपने तरीकों से शाश्वत् सत्य को दैनिक जीवन मे उतारने का प्रयत्न भर किया है। मेरे जो मत हैं और जिन परिणामों पर मैं पहुँचा हूँ वे अंतिम नहीं हैं…… सत्य और अहिंसा उतनी ही पुरानी है जितनी कि ये पहाड़ियाँ……मेरा दर्शन जिसे आपने गांधीवाद का नाम दिया है, सत्य और अहिंसा में निहित है। आप इसे गांधीवाद से न पुकारें क्योंकि इसमें वाद तो है ही नहीं[3]। वे अपने पीछे कोई अनुयायी भी छोड़ कर जाना नहीं चाहते थे। फिर

1. "There is, therefore, as yet no such thing as Gandhism but only a Gandhian way and outlook which is neither rigid, nor formal, nor final. It merely indicates the direction without trying to fill in the details finally or for all time to come." —*J. B. Kriplani*
2. "I have no desire to found a sect I am really too ambitious to be satisfied with a sect for a following, for I represent no new truth". —*M K Gandhi*
3. Gandhi on World Affairs, p. 29.

गांधीवाद जैसी कोई वस्तु इसलिए भी नही है कि गांधीजी पूर्णत: कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक न थे। यथार्थ मे, वे एक धार्मिक पुरुष थे, राजनीति में तो उन्हे परिस्थितियां घसीट लाई थी। आधुनिक प्रवृत्ति धर्म के संकीर्ण अर्थ में समझने की है लेकिन गांधीजी का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। वह धर्म को बिना मानव जीवन को शून्य एवं नीरस समझते हैं। जब वह धर्म का उल्लेख करते थ तो उनका आशय हिन्दू-धर्म, इस्लाम अथवा अन्य किसी धर्म से नही था, उनका धर्म कर्त्तव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जो मनुष्य को उसके दैनिक जीवन मे सतत् प्रेरणा देता रहता है। इन सारे तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गांधीवाद शब्द का प्रयोग करना गांधीजी के सिद्धान्तों के विपरीत आचरण करना है, उनके सिद्धान्तों को एक स्थान पर रख कर यदि एक शीर्षक की आवश्यकता ही पड़े तो हम इसे गांधीजी का 'जीवन दर्शन' कह कर पुकार सकते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महात्मागांधी किसी 'वाद' के संस्थापक न थे। उन्होंने समस्याओं पर, जैसी कि वे उनके सामने आईं, अपने विचार रखे। यह सोचने का एक स्वाभाविक तरीका भी है। वर्षों तक मान्य अथवा स्वीकृत सिद्धान्त या नियम, नूतन अनुसंधान और अनुभव के आधार पर यदि झूठे सिद्ध हो जाएँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हे छोड देना चाहिए। दुनियां मे कोई वस्तु अतिम नही होती, केवल परम्परा को ध्यान मे रखकर किसी बेकार चीज से चिपटे रहना विवेक नही है। यह एक वैज्ञानिक ढंग है और इसका अनुकरण केवल एक साहसी व्यक्ति ही कर सकता है। हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक गण-मान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति अनेक भूलें कर जाते हैं, समय उनकी भूलों को सिद्ध भी कर देता है लेकिन मिथ्या आत्म-सम्मान की भावना उन्हे ऐसा स्वीकार करने से रोक देती है। लेकिन उनकी इस हठधर्मी से समाज को कभी-कभी भयंकर क्षति उठानी पडती है। सौभाग्य से, गांधी इस बीमारी से दूर थे। वह अपनी किसी भी वस्तु को कभी भी छोड सकते थे क्योंकि उनका उद्देश्य पूर्व वंचित या लिखित किसी वस्तु की सत्यता को सिद्ध करना न होकर वर्तमान में किसी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसना था। उन्होने अपनी आत्मकथा का नाम 'My Experiments with Truth' मे रखा। सच तो यह है कि आज किसी वस्तु पर विचार व्यक्त करते या लिखते समय वे यह याद नही रखते थे कि उन्होने इस सम्बन्ध में कल क्या कहा था। यद्यपि उन्होने कहा है कि उनके पहले और बाद के विचारों मे कोई मौलिक अन्तर नही आया लेकिन फिर कही विरोध नजर आने पर उनकी राय थी कि उनके बाद वाले विचारों को ही स्वीकार करना चाहिए।[1] भोजन और स्वास्थ्य रक्षा से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय

1. "At the time of writing I never think of what I have said before. My aim is not to be consistent with my previous statements on a given question, but to be consistent with truth as it may present itself to me on a given moment". —Harijan, Sept, 30, 1939.

12 गाँधीवाद, समाजवाद एवं मार्क्सवाद

(Gandhism, Socialism and Marxism)

महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन

(The Gandhian Way)

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'मैन्चेस्टर गार्जियन' ने महात्मा गांधी की हत्या के समय लिखा था कि वह राजनीतिज्ञों में महात्मा और महात्माओं में राजनीतिज्ञ थे। ठीक भी है, गांधीजी एक पद्धतिपूर्ण राजनीतिक विचारक नहीं थे, केवल राजनीतिज्ञ तो उन्हें कहना और भी अनुचित है। राजनीतिक अर्थ में, 'गांधीवाद' जैसी कोई वस्तु नहीं है।[1] गांधीजी अपने पीछे कोई 'वाद' नाम की वस्तु नहीं छोड़ना चाहते थे[2] क्योंकि इसमें जटिलता आ जाती है। गांधीजी के लिए कोई वस्तु अन्तिम न थी, अनुभव एवं सत्य के आधार पर यदि वर्षों तक मानी हुई कोई वस्तु खरी नहीं उतरती तो उसे छोड़ देने में उन्हें कोई आपत्ति न थी। उन्हें किसी वस्तु के प्रति ममता अथवा लगाव न था। किसी विचारधारा को 'वाद' की संज्ञा देने के कई दुष्परिणाम निकलते हैं और गांधीजी उससे सुपरिचित थे। मार्च, सन् 1939 में एक भाषण में सेवासंघ के सदस्यों से गांधीजी ने कहा था कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है। मैंने तो अपने तरीकों से शाश्वत् सत्य को दैनिक जीवन में उतारने का प्रयत्न भर किया है। मेरे जो मत हैं और जिन परिणामों पर मैं पहुँचा हूँ वे अंतिम नहीं हैं······ सत्य और अहिंसा उतनी ही पुरानी है जितनी कि ये पहाड़ियाँ·······मेरा दर्शन जिसे आपने गांधीवाद का नाम दिया है, सत्य और अहिंसा में निहित है। आप इसे गांधीवाद से न पुकारें क्योंकि इसमें वाद तो है ही नहीं[3]। वे अपने पीछे कोई अनुयायी भी छोड़ कर जाना नहीं चाहते थे। फिर

1. "There is,therefore, as yet no such thing as Gandhism but only a Gandhian way and outlook which is neither rigid, nor formal, nor final. It merely indicates the direction without trying to fill in the details finally or for all time to come." —*J. B. Kriplani*
2. "I have no desire to found a sect I am really too ambitious to be satisfied with a sect for a following, for I represent no new truth". —*M K Gandhi*
3. Gandhi on World Affairs, p. 29.

गांधीवाद जैसी कोई वस्तु इसलिए भी नहीं है कि गांधीजी पूर्णतः कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक न थे। यथार्थ मे, वे एक धार्मिक पुरुष थे, राजनीति में तो उन्हें परिस्थितियाँ घसीट लाई थीं। आधुनिक प्रवृत्ति धर्म के संकीर्ण अर्थ में समझने की है लेकिन गांधीजी का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। वह धर्म को बिना मानव जीवन को शून्य एव नीरस समझते हैं। जब वह धर्म का उल्लेख करते थ तो उनका आशय हिन्दू-धर्म, इस्लाम अथवा अन्य किसी धर्म से नहीं था, उनका धर्म कर्तव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जो मनुष्य को उसके दैनिक जीवन में सतत् प्रेरणा देता रहता है। इन सारे तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गांधीवाद शब्द का प्रयोग करना गांधीजी के सिद्धान्तों के विपरीत आचरण करना है, उनके सिद्धान्तों को एक स्थान पर रख कर यदि एक शीर्षक की आवश्यकता ही पड़े तो हम इसे गांधीजी का 'जीवन दर्शन' कह कर पुकार सकते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महात्मागांधी किसी 'वाद' के संस्थापक न थे। उन्होंने समस्याओं पर, जैसी कि वे उनके सामने आईं, अपने विचार रखे। यह सोचने का एक स्वाभाविक तरीका भी है। वर्षों तक मान्य अथवा स्वीकृत सिद्धान्त या नियम, नूतन अनुसंधान और अनुभव के आधार पर यदि झूठे सिद्ध हो जाएँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हें छोड देना चाहिए। दुनियां मे कोई वस्तु अंतिम नहीं होती, केवल परम्परा को ध्यान में रखकर किसी बेकार चीज से चिपटे रहना विवेक नहीं है। यह एक वैज्ञानिक ढंग है और इसका अनुकरण केवल एक साहसी व्यक्ति ही कर सकता है। हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक गण-मान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति अनेक भूलें कर जाते हैं, समय उनकी भूलो को सिद्ध भी कर देता है लेकिन मिथ्या आत्म-सम्मान की भावना उन्हें ऐसा स्वीकार करने से रोक देती है। लेकिन उनकी इस हठधर्मी से समाज को कभी-कभी भयंकर क्षति उठानी पडती है। सौभाग्य से, गांधी इस बीमारी से दूर थे। वह अपनी किसी भी वस्तु को कभी भी छोड सकते थे क्योंकि उनका उद्देश्य पूर्व वंचित या लिखित किसी वस्तु की सत्यता को सिद्ध करना न होकर वर्तमान में किसी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसना था। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'My Experiments with Truth' में रखा। सच तो यह है कि आज किसी वस्तु पर विचार व्यक्त करते या लिखते समय वे यह याद नहीं रखते थे कि उन्होंने इस सम्बन्ध में कल क्या कहा था। यद्यपि उन्होंने कहा है कि उनके पहले और बाद के विचारो मे कोई मौलिक अन्तर नहीं आया लेकिन फिर कहीं विरोध नजर आने पर उनकी राय थी कि उनके बाद वाले विचारों को ही स्वीकार करना चाहिए।[1] भोजन और स्वास्थ्य रक्षा से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय

1. "At the time of writing I never think of what I have said before. My aim is not to be consistent with my previous statements on a given question, but to be consistent with truth as it may present itself to me on a given moment". —Harijan, Sept, 30, 1939.

राजनीति एवं कूटनीति तक करीब-करीब सभी विचारों पर गांधीजी ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। एक बात और भी है और वह यह कि गांधीजी विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत कर चुप नहीं बैठ जाते थे, उनका जीवन के क्षेत्र में परीक्षण करते रहते थे। अतः गांधीजी को एकमात्र विचारक या दार्शनिक कहना हमे उपयुक्त नहीं लगता, वह एक कर्मयोगी थे।[1]

गांधीजी के विचारों के स्रोत
(Sorrces of Gandhian Thought)

विश्व राजनीति को सबसे बडी भारतीय देन अहिंसा है। उपनिषदों से लेकर आज तक के करीब-करीब सभी हिन्दू-ग्रन्थों ने अहिंसा को बड़ा महत्त्व दिया है। यद्यपि इसमे सन्देह नहीं कि क्षत्रिय को युद्ध के निमित्त हिंसा करने की अनुमति शास्त्र-सम्मत थी लेकिन इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण से नीचा था तथा वह उनके अधीन था। उसे यह आदेश था कि वह आक्रान्ता के दुःस्साहस को रोकने के हेतु युद्ध का आश्रय ले, फिर भी भ्रातृत्व एवं कर्तव्य की भावना से वह ऐसा करे, घृणा एवं प्रतिशोध की भावना के वशीभूत होकर वह कोई कार्य न करे। रामायण मे सत्य की असत्य एवं न्याय की अन्याय पर विजय बताई गई है। महाभारत में भी युद्ध एवं हिंसा की निष्फलता की चर्चा मिलती है, अनेक स्थानों पर व्यास सत्य, अहिंसा आदि गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह कहते हैं, 'अहिंसा सबसे बडा धर्म है। यह सबसे बडी तपस्या भी है। यह सर्वोच्च सत्य भी है जिससे समस्त कर्तव्यों का आविर्भाव होता है।'

गांधीजी के विचारों के प्रमुख केन्द्र प्राचीन भारतीय ग्रन्थ ही हैं, जिनमें उपनिषद्, रामायण, महाभारत, और भगवद्गीता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भगवद्गीता का गांधीजी के जीवन पर बडा प्रभाव पड़ा है। इसे उन्होंने आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रन्थ (Spiritual Reference Book) कहा है। भारी निराशा और असफलता के बीच जब सर्वत्र अन्धकार नजर आता है, केवल भगवद्गीता ही गांधीजी के लिए प्रकाश-पुञ्ज रही है। गांधीजी का विचार है कि गीता मुक्ति और सासारिक जीवन मे कहीं विरोध नही बताती। इसका यही संदेश है कि हमारे सांसारिक कार्यों पर धर्म का अमिट प्रभाव रहना चाहिए तथा जो दैनिक जीवन मे उतारा न जा सके वह धर्म नही है। जैन और बौद्ध धर्म ने भी गांधीजी को बडा प्रभावित किया। जैन धर्म का तो आधार ही अहिंसा है। गांधीजी को बौद्ध धर्म का मुख्य सदेश सहिष्णुता के सिद्धान्त मे मिला। महात्मा बुद्ध की यह अमर शिक्षा कि,

1. "Morever, Gandhi is no philosopher. He has from the beginning been a practical reformer. As such he deals with and writes upon problems as they arise. He is preminently a man of adjorn and is rightly called a Karmyogi. It may not, therefore, be possible to find in his speeches, writing and actions any logical or philosophical system." —*J. B Kriplani*

'मनुष्य क्रोध को प्रेम एवं बुराई को अच्छाई से जीते' गांधीजी को बड़ी प्रिय थी। वह इसका कई बार उल्लेख भी करते थे। इस्लाम और ईसाई धर्म भी गांधीजी को प्रिय थे। इस्लाम के बारे में उनकी यह धारणा थी कि यह मनुष्य में भ्रातृभाव जाग्रत करता है। ईसाई धर्म प्रेम को महत्त्व देता है एवं मानता है कि ईश्वर ही प्रेम है।

आधुनिक व्यक्तियों में गांधीजी को प्रभावित करने वाले थे हेनरी डेविड थोरो (Henry David Thoreau), जॉन रस्किन (John Ruskin) एवं टॉलस्टाय (Tolstoy)। सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) शब्दों का प्रयोग, सर्वप्रथम, हेनरी डेविड थोरो ने 1849 में अपने एक भाषण में किया था। हेनरी डेविड थोरो अमेरिकन अराजकतावादी थे। उनका विश्वास था कि हमें, उन सारे व्यक्तियों एवं संस्थाओं को जो अच्छाई की ओर ले जाते हैं, सहयोग देना चाहिए; बुराई की ओर ले जाने पर उनके साथ असहयोग करना चाहिए, आवश्यकता पड़ने पर सरकार का डटकर मुकाबला करना चाहिए। थोरो के विचार में एक आदर्श समाज राज्य विहीन ही हो सकता है। शरीर, श्रम एव समान वेतन का विचार गांधीजी को रस्किन से मिला। रस्किन का कहना था कि एक वकील और एक नाई के वेतन में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। रेवरेन्ट जे० जे० डोक ने गांधीजी को टॉलस्टाय का शिष्य माना है। टॉलस्टाय और गांधीजी के विचारों में बड़ी समानता थी। टॉलस्टाय भी गांधी की तरह धार्मिक अराजकतावादी थे। उन्होंने राज्य एवं इससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं जैसे न्यायालयों, पुलिस, सेना, व्यक्तिगत सम्पत्ति, पूंजीवाद आदि सभी की भर्त्सना की है। टॉलस्टाय की कृति 'The Kingdom of God is Within You' ने गांधीजी की अहिंसा मे आस्था को दृढ किया। टॉलस्टाय और गांधी अनेक बातों पर समान विचार रखते हुए भी क्रमशः प्रेम और अहिंसा पर अधिक बल देते थे। बम्बई के जौहरी भाई राजचन्द्र का गांधी के प्रारम्भिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। स्वयं गांधीजी ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि टॉलस्टाय और रस्किन से भी अधिक उनके जीवन पर आध्यात्मिक प्रभाव भाई रामचन्द्र का रहा।

गांधीजी के विचारो के स्रोतों का हमने यहाँ, संक्षेप में, अध्ययन किया। इस स्थान पर यह बात भी कही जा सकती है कि गांधीजी को पश्चिमी राजनीतिक विचारो की परम्परा में रखकर समझना अनुचित है। भारत में राजनीति कभी चिन्तन का एक स्वतन्त्र विषय नहीं बना, यहाँ राजनीति और आध्यात्म दो अलग-अलग रास्तों पर कभी नहीं चले। यहाँ राजा का आदर्श धर्म के रक्षक के रूप में ही कर्त्तव्य-पालन का रहा और धर्म का अर्थ कर्त्तव्य-पालन एव सत्यानुसधान रहा है। सच तो यह है कि गांधीजी ने प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति का जो प्रचलित अर्थ रहा है उसे वर्तमान सदर्भ में लाने का प्रयास किया है और चाहे उन्होंने पश्चिम और अन्य स्थानो से थोड़ा बहुत लिया हो लेकिन उनके विचारों का स्रोत मूलतः प्राचीन भारत ही है। उनका यह वाक्य कि मैं राजनीति में धर्म को डालना चाहता हूँ एक ऐसे प्राचीन ऋषि की याद दिलाता है जो वर्तमान से क्षुब्ध होकर इसे अतीत के

ढाँचे पर ढालना चाहता हो तथा जो जीवन की वर्तमान भौतिकवादी प्रवृत्ति को बदलकर नूतन मूल्यों का सृजन करना चाहता हो।

गांधीजी के विचार

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महात्मा गांधी किसी 'वाद' के संस्थापक न थे। उन्होंने समस्याओं पर जैसे कि वे उनके सामने आईं, अपने विचार रखे। यह सोचने का एक स्वाभाविक तरीका भी है। वर्षों तक मान्य अथवा स्वीकृत सिद्धान्त नियम या नूतन अनुसन्धान और अनुभव के आधार पर यदि झूठे सिद्ध हो जाएँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हें छोड़ देना चाहिए। दुनियाँ में कोई वस्तु अन्तिम नहीं होती, केवल परम्परा को ध्यान मे रखकर किसी बेकार चीज से चिपटे रहना विवेक नहीं है। यह एक वैज्ञानिक ढंग है और इसका अनुकरण केवल एक साहसी व्यक्ति ही कर सकता है। हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक गण-मान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति अनेक भूलें कर जाते है, समय उनकी भूलों को सिद्ध भी कर देता है लेकिन मिथ्या आत्म-सम्मान की भावना उन्हे ऐसा स्वीकार करने से रोक देती है। लेकिन उनकी इस हठधर्मी से समाज को कभी-कभी भयकर क्षति उठानी पड़ती है। सौभाग्य से, गांधी इस बीमारी से दूर थे। वह अपनी किसी भी वस्तु को कभी भी छोड़ सकते थे क्योंकि उनका उद्देश्य पूर्व कथित या लिखित किसी वस्तु की सत्यता को सिद्ध करना न होकर वर्तमान मे किसी वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसना था। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम भी 'My Experiments with Truth' रखा। सच तो यह है कि आज किसी वस्तु पर विचार व्यक्त करते या लिखते समय वह यह याद नही रखते थे कि उन्होंने इस सम्बन्ध मे कल क्या कहा था। यद्यपि उन्होंने कहा कि उनके पहले और बाद के विचारों मे कोई मौलिक अन्तर नहीं आया लेकिन फिर भी कहीं विरोध नजर आए तो उनके बाद वाले विचारों को ही स्वीकार करना चाहिए।[1] भोजन और स्वास्थ्य-रक्षा से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं कूटनीति तक करीब-करीब सभी विषयों पर गांधीजी ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। एक बात और भी है और वह यह कि गांधीजी विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत करके चुप नहीं बैठ जाते थे, उनका जीवन के क्षेत्र मे परीक्षण करते रहते थे। अतः गांधीजी को एकमात्र विचारक या दार्शनिक कहना हमे उपयुक्त नहीं लगता, वह एक कर्मयोगी थे।

जीवन का उद्देश्य

गांधीजी के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार करना (Self-realisation) है। यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य धार्मिक एवं नैतिक हो। धार्मिक होने का मतलब साम्प्रदायिक या कट्टर होना नहीं है। एक धार्मिक व्यक्ति के लिए नैतिक होना आवश्यक है तथा अनैतिक जीवन से बढ़कर निकृष्ट कोई दूसरी वस्तु नहीं है। धर्म का आधार ही नैतिक जीवन है।

1. Harijan, Sept. 30, 1939.

नैतिकता से च्युत होने पर मनुष्य धार्मिक नही रह सकता।[1] गांधीजी के लिए धर्म शब्द बड़ा व्यापक है। यह कोई दूसरे संसार की वस्तु नही बल्कि दैनिक जीवन का आधार-तत्त्व है। जो सत्य की खोज में लगाए, वही सच्चा धर्म है। क्योंकि सत्य ही ईश्वर है, इस प्रकार धर्म ईश्वर के पास पहुँचने का साधन है। दूसरे शब्दो में, ईश्वर की प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार तभी सम्भव है जबकि मनुष्य धार्मिक हो। ईश्वर की प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार ससार से अलग रहकर सम्भव नही है। वह भला कैसा धार्मिक प्राणी है जो अपने पडोसियों एवं साथियों के दुःख दर्द मे पसीज न उठे? दूसरे का दुःख दर्द मेरा दुःख है, यही सच्चा धर्म है। अर्थात् मेरा धर्म दूसरों के प्रति सहानुभूति एव कष्ट के समय उनकी सक्रिय सहायता करना सिखाता है। वर्तमान परिस्थितियों में मानव जीवन संकटों से घिरा हुआ है, एक धार्मिक व्यक्ति के लिए तटस्थता अशोभनीय है। उसे समाज सेवा मे सलग्न होना ही पडेगा। इस प्रकार उनके धर्म मे राजनीति भी आ जाती है, धर्म और राजनीति को पृथक् करना उन्हें उचित नही लगता।[2] गांधी ने अपनी आत्मकथा मे ही लिखा है कि मेरे लिए धर्म रहित राजनीति बिलकुल गदी चीज है जिससे हमेशा दूर रहना चाहिए।"...... राजनीति मे हमे स्वर्ग का राज्य स्थापित करना होगा। धर्म और राजनीति के सम्बन्ध में पुनः गांधीजी को उद्धृत किया जा सकता है। उन्ही के शब्दो में, 'मैं राजनीति और धर्म को एक दूसरे से अलग नहीं समझता। सच्चा धर्म जीवन की हर एक प्रवृत्ति मे व्याप्त होना चाहिए।[3] उनके अनुसार आजकल की राजनीति अविश्वास से चल ही नही सकती।[4] इन्ही सब बातों को ध्यान मे रखकर पाल एफा पावर ने ठीक ही कहा है कि गांधीजी के विचारों मे राजनीति और आध्यात्म के विचार जुड़वाँ हो गए है। केवल राजनीति ही नही, गांधीजी के सभी विचारों का स्रोत ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। सक्षेप में, गांधीजी के अनुसार धर्म समाज-सेवा की प्रेरणा देता है और समाज-सेवा ही आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर की प्राप्ति सभव है। यही मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य है।

इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रत्येक मनुष्य को कुछ आदर्शों को लेकर चलना पड़ता है, इनमे मुख्य हैं, सत्य (Truth), अहिंसा (Non-violence), अपरिग्रह (Non-Possession), अस्तेय (Non-Stealing), तथा ब्रह्मचर्य (Celibacy)। इनमें अभय (Fearlessness), शरीर श्रम (Breadlabour), स्वदेशी (Swadeshi), अस्पृश्यता निवारण (Removal of Untouchability), सर्व-धर्म समानत्व, (Equality of all religions) एवं विनम्रता (Humility) और जोड़े जा सकते हैं। अब हम प्रथम पांच सिद्धान्तो का, सक्षेप में, वर्णन करते हैं—

1. Young India, Nov. 24, 1921.
2. "Those who say that religion has nothing to do with politics do not know what religion means" —Autobiography, P. 581.
3. महादेव भाई की डायरी, भाग 2, पृष्ठ 116
4. गांधीजी-प्रार्थना प्रवचन, भाग 2, पृष्ठ 334.

सत्य

गाँधीजी के लिए सत्य से ऊँचा कोई धर्म नहीं है। उनके लिए सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य है। केवल सत्य का ही अस्तित्व है, असत्य नाशवान है। असत्य माया है जो क्षण में ही समाप्त हो जाती है और ज्यों-ज्यों हम अज्ञान को हटाते हैं सत्य की ज्योति प्रखर हो उठती है।[1]

भारतीय चिन्तन में आस्तिकता की प्रधानता रही है। ईश्वर में अटूट श्रद्धा और भक्ति अनादि काल से चलती आई है लेकिन फिर भी कुछ भारतीय विचारकों ने आत्मा और ईश्वर की सत्ता में सन्देह प्रकट किया है। इस प्रकार कतिपय भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण भौतिकवादी रहा है। लेकिन सत्य की अवहेलना करने का साहस किसी ने भी नहीं किया। यही कारण था कि गांधीजी सत्य को ही भारतीय विचारधारा का मूल तत्व मानते थे। जैसा कि कहा भी गया है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। सत्य का पुजारी स्वतः ईश्वरीय मार्ग का अनुसरण करने लगता है क्योंकि सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य है।

अहिंसा

सत्य यदि साध्य है तो अहिंसा उस तक पहुँचने का सबसे बड़ा साधन। अहिंसा मानव समाज का सबसे बड़ा नियम है जिस प्रकार हिंसा हिंसकों का नियम। अहिंसा का नियम समूचे विश्व के लिए लागू हो सकता है तथा इसकी प्राप्ति सत्य के अन्वेषण के मार्ग में हुई। सत्य की भाँति अहिंसा की शक्ति भी प्रचण्ड है एवं यह भी ईश्वर का पर्यायवाची है।

संक्षेप में मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय बर्नार्ड शा का भी विश्वास है कि गाँधीजी का अहिंसा का विचार अत्यन्त ठोस है। अहिंसा प्रेम की पराकाष्ठा है। एक अहिंसक ही सच्चा प्रेमी हो सकता है। यह कभी किसी का अहित नहीं सोच सकता है। यह दूसरे को यातना देने के स्थान पर आत्मोत्सर्ग में विश्वास रखता है। गाँधीजी के अनुसार स्वयं को अधिकतम कष्ट या पीड़ा पहुँचाने पर दूसरों को (चाहे वे विपक्षी अथवा शत्रु ही क्यों न हों) अधिकाधिक सुविधा देना ही सच्ची अहिंसा है। जिस प्रकार एक सच्चा प्रेमी अपने प्रियजन के स्थान पर स्वयं को कष्ट में डालना अधिक श्रेयस्कर समझता है, ठीक इसी प्रकार सच्चा अहिंसक पर पीड़ा को निन्दनीय समझता है। यही कारण था कि गाँधीजी ने सत्याग्रहियों को सदा अपने विपक्षियों को प्रेम करने की प्रेरणा दी। ब्रिटिश नौकरशाही के अमानवीय अत्याचार के बावजूद भी सत्याग्रहियों को मन, वचन और कर्म तीनों से ही अहिंसक रहने का आदेश था। शरीर पर चाहे कोड़े पड़ते रहें, लेकिन सत्याग्रही के मन में प्रतिकार की भावना प्रवेश

1. "As soon as you remove the cobwebs of ignorance that surround, it shines clear." —*M. K. Gandhi*

न करे, वह कोई मारने वाले के अहित का चिन्तन न करे बल्कि सतत अपने ध्येय को स्मरण करता हुआ, आवश्यकता पड़ने पर स्वयं अपने जीवन की आहुति देने के लिए तत्पर रहे।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि गाँधीजी की अहिंसा कायरता का दूसरा नाम है। लेकिन ऐसा विचार अज्ञानता एवं पूर्वाग्रह(Prejudice)पर आधारित है कि केवल अहिंसक ही वीर हैं, हिंसक कायर हैं। जैसे पानी और अग्नि साथ-साथ नहीं चल सकते ठीक उसी प्रकार अहिंसा और कायरता का कोई सम्बन्ध नहीं है। गाँधीजी के अनुसार कायरता तो हिंसा से बढ़कर नपुंसकता है। कायर को इन्सान कहना भी नहीं जँचता तथा वह नर-नारियों के समाज में रहने के सर्वथा अयोग्य है।

गाँधीजी ने अहिंसा को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम प्रकार की अहिंसा सर्वश्रेष्ठ है। संक्षेप में यह शक्ति सम्पन्न अथवा बहादुर लोगों की अहिंसा है जिसे जीवन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह मानव के नैतिक विकास की उच्चतम स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करने पर अहिंसा का प्रयोग दैनिक जीवन में सहज गति से होने लगता है एवं साधन तथा शक्ति-सम्पन्न होने पर भी मनुष्य कभी हिंसा का मन वचन अथवा कर्म मे प्रयोग नहीं करता। दूसरी अवस्था वह है जिसमें मनुष्य को किन्हीं परिस्थितियों विशेष के अन्तर्गत केवल एक नीति के रूप मे स्वीकार करता है। ऐसा व्यक्ति केवल परिस्थितियों अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित या विवश होकर अहिंसा को ग्रहण करता है, उदाहरणार्थ, गाँधीजी के अनेक अनुयायी इस दूसरी श्रेणी की अहिंसा में ही विश्वास रखते थे। इन लोगों की मान्यता थी कि भारतीय जनता ने अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने में असमर्थ होने के कारण अहिंसा को एक नीति के रूप में ग्रहण कर बुद्धिमानी का परिचय दिया। तीसरी श्रेणी की अहिंसा कायरों एवं नपुंसकों की अहिंसा है जिसे गाँधीजी 'अहिंसा' कहना पसन्द नहीं करते। अहिंसा की आड़ में कायरता या नपुंसकता को छिपाने की अपेक्षा हिंसक होना अच्छा है।

हमारे देश मे प्रायः एक कहावत सी चल पड़ी कि 'मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी है।' खेद का विषय है कि हमारे पढ़े-लिखे शिक्षित भाई भी ऐसा कहते हैं। ऐसा कहना गाँधीजी के विचारों के प्रति पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट करना है। उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि गाँधी की अहिंसा दुर्बलों एवं नपुंसकों की अहिंसा नहीं है, यह सबल एवं सक्रिय व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त शक्ति का प्रतीक है। ऐसे व्यक्ति द्वारा अहिंसा का पालन इस बात का प्रमाण है कि उसकी आध्यात्मिक एवं दैविक शक्तियों ने भौतिक तथा आसुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। केवल सबल व्यक्ति ही सही अर्थ मे अहिंसक हो सकता है, निर्बल तो कभी इस उन्नत अवस्था को प्राप्त कर ही नहीं सकता।

गाँधी साहित्य के अध्ययन करने पर दो विचित्र घटनाओं का उल्लेख मिलता है। गाँधीजी ने इन दोनों ही घटनाओं को अहिंसात्मक बताया जिनको लेकर काफी

विवाद भी हुआ। वर्धा की बात है कि गांधीजी ने एक बछड़े को *किसी भयंकर पीड़ा* से पीड़ित देखकर डाक्टर से उसके जहर का इन्जेक्शन लगाने को कहा। गांधीजी ने इस कार्य को पूर्ण अहिंसात्मक बताया। दूसरी बात इस प्रकार है—गुण्डों ने एक युवती को घेर लिया है, उसकी शील-रक्षा संकट मे है, एवं उसका संरक्षक अथवा पिता उनकी इच्छा का पता लगा लेने में असमर्थ है, ऐसी स्थिति मे उसका पिता यदि अपनी लड़की की जान भी ले लेता है तो गांधीजी की राय में, यह एक पूर्ण अहिंसक कार्य है।

अपरिग्रह

आज के इस आर्थिक विषमता के युग मे गांधीजी का अपरिग्रह का सिद्धान्त बड़े ही महत्त्व का है। इसी से उनका ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त (Theory of Trusteeship) निकलता है।

सक्षेप में, साधारण दैनिक आवश्यकताओं से अधिक भौतिक पदार्थ का संग्रह न करना ही अपरिग्रह अथवा 'असंग्रह' है। फिर उस साधारण संग्रह पर भी अपना स्वामित्व न मान कर समाज अथवा ईश्वर का स्वामित्व मानना भी इसके अन्तर्गत शामिल है।

गांधीजी का यह सिद्धान्त बड़ा क्रान्तिकारी है। आदर्श रूप मे वह समस्त प्रकार के सग्रह के विरुद्ध है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मे उनकी कोई आस्था नहीं है। *जल, वायु, अग्नि की भाँति संपत्ति भी किसी की नहीं अथवा समान रूप से सबकी* है। द्रव्य सचय एक आसुरी विचार है एवं इसके संग्रह में हिंसा का निवास है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता उसके आध्यात्मिक दिवालियेपन की ओर ले जाने वाली वस्तु है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे धन का न्यूनतम महत्त्व है। शैतान (धन) और देवता दोनो की एक साथ पूजा नही की जा सकती।

व्यक्तिगत सम्पत्ति को लेकर दो मुख्य सिद्धान्त प्रचलित हैं—एक है पूंजीवादी तथा दूसरा है समाजवादी अथवा साम्यवादी। पूंजीवादी सिद्धान्त मनुष्य को अधिकाधिक धन सचय की प्रेरणा देता है, उस धन पर व्यक्ति का पूर्ण स्वामित्व मानता है तथा इसकी वृद्धि के लिए यदि उसे अपने साथियो का शोषण भी करना पड़े तो उसे भी अनुचित नही ठहराता। इसी मे वह मनुष्य का विकास मानता है। दूसरी ओर समाजवादी अथवा साम्यवादी दृष्टिकोण है जो व्यक्ति को नही बल्कि सामूहिक हित को प्रधानता देकर चलता है। यह सिद्धान्त मनुष्यो द्वारा किए जाने वाले भौतिक उपार्जन पर सामाजिक हित में नियंत्रण लगा देता है तथा उन्हें समाज के दुर्बल वर्गों की असहायता का लाभ उठाने की आज्ञा नही देता। इससे व्यक्ति से पहल (Initiative) तथा उत्साह (Enthusiasm) जैसी शक्तियों का लोप हो जाता है एवं राष्ट्रीय उत्पादन घटने लगता है। गांधीजी को ये दोनों विचार नही जंचते क्योंकि इनमें क्रमशः शोषण तथा अति नियंत्रण का आभास होता है तथा प्रगति के मार्ग में दोनों ही बाधक हैं। अतः गांधीजी एक ऐसे विचार में आस्था रखते हैं जो

अधिक मानवीय एव अहिंसक हो। यह विचार ट्रस्टीशिप का है जो व्यक्ति को अधिकाधिक उपार्जन की स्वतन्त्रता अवश्य देता है लेकिन शोषण की नही, सग्रह की नही, इस उपार्जित अथवा उत्पादित वस्तु पर मनुष्य का अपनी वैयक्तिक हैसियत से कोई स्वामित्व नही; स्वामित्व तो समाज का है। समाज-हित में जब कभी उस द्रव्य की आवश्यकता पड़े तो वह उसे दे देगा क्योंकि वह तो इसका केवल संरक्षक (Trustee) है, स्वामी नही। सक्षेप मे गांधीजी की दृष्टि मे ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त पूँजीवादी तथा समाजवादी अथवा साम्यवादी सिद्धान्तों के दोषों को दूर करता हुआ उनके गुणों को ग्रहण कर लेता है। गांधीजी के अनुसार यही एक मात्र ऐसा सिद्धांत है जो अहिंसा के सबसे अधिक नजदीक है तथा यदि धनवान व्यक्ति इसके अनुसार आचरण नही कर पाए हैं तो इसमे सिद्धान्त की कोई कमी नही, यह तो उन व्यक्तियों की दुर्बलता है।

अस्तेय

महात्मा गांधी को यह विचार जैन-दर्शन से मिला मालूम होता है। अस्तेय से उनका आशय केवल किसी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना ही नही बल्कि किसी ऐसी वस्तु का सग्रह (जिसकी आवश्यकता न हो) तथा भविष्य मे काम मे आने वाली वस्तु की व्यर्थ चिन्ता, आवश्यकता से अधिक सग्रह भी चोरी है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म की ओर ले जाने वाली वस्तु ही ब्रह्मचर्य है। मन, वचन और कर्म के पूर्ण नियन्त्रण से ही ब्रह्मचर्य सम्भव है। अपवित्र विचार अथवा क्रोध भाव से इसका खण्डन हो जाता है। गांधीजी के अनुसार ब्रह्मचर्य एक मानसिक अवस्था है तथा यह गुण बाह्य नियन्त्रणों से पैदा नही किया जा सकता मस्तिष्क पर किए बिना शरीर का व्यर्थ का दमन हानिकारक है।

ब्रह्मचर्य की आदर्श अवस्था विवाह का न करना है। जन्म की भाँति विवाह भी एक पतन है। लेकिन फिर भी दूसरी श्रेणी विवाहित ब्रह्मचारी की है। विवाह का आदर्श शारीरिक सम्बन्धों के माध्यम से आध्यात्मिक मिलन का है। विवाह ईश्वरीय अथवा विश्व प्रेम की दिशा मे एक सीढ़ी है। विवाह स्त्री-पुरुष में अनियमित एव स्वच्छन्द शारीरिक सम्बन्धो का 'लाइसेन्स' नही है। शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि मे स्थापित किया जा सकता है, आमोद-प्रमोद की दृष्टि से यह त्याज्य, हीन एवं निकृष्ट है। मनुस्मृति ने भी प्रथम पुत्र को "धर्मज" (धर्म से उत्पन्न हुआ) तथा शेष को "कामज" (काम से उत्पन्न) माना है। अतः 'बर्थ कन्ट्रोल' के कृत्रिम साधनो को गांधीजी अच्छा नहीं समझते क्योंकि यह "पाप" करके उसके दुष्परिणामो से बचने की विधि तथा संयम की शत्रु है।

अहिंसा की भाँति ब्रह्मचर्य का पालन भी मन, वचन और कर्म से किया जाना चाहिए। मन पर काबू कर पाए बिना केवल शरीर का दमन करना हानिकारक है।

इसको स्पष्ट करने के लिए जातकों में से एक प्रसिद्ध घटना को यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा। "गौतम बुद्ध के दो नवयुवक ब्रह्मचारी शिष्य प्रचार कार्य हेतु कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ी जिसके किनारे उन्हें एक नवयौवना षोड़शी के दर्शन हुए। लड़की नदी को पार करना चाहती थी लेकिन अधिक पानी के भय से यह ऐसा करने में स्वयं को असमर्थ पा रही थी। उसे असहाय देखकर एवं कुछ चचलतावश भी उनमे से एक शिष्य ने उस लड़की की सम्मति से नदी को पार करने के लिए उसे कन्धो पर बिठा कर दूसरे किनारे उतार दिया। लड़की ने अपनी राह ली। कुछ दूर चलने पर दूसरे शिष्य ने पहले वाले को पापी बताया और कहा कि एक नौजवान लड़की के स्पर्श से वह भ्रष्ट हो गया है। पहले वाले शिष्य ने अपने अपराध को तत्काल स्वीकार कर लिया। कुछ दूर चलने पर उसने फिर आरोप लगाया। उसने फिर 'हाँ' भर ली लेकिन उस पर बार-बार आरोप लगाए जाने पर अत मे उसने मित्र से कहा, हो सकता है कि मैं पापी हूँ, लेकिन तुम मेरे से भी बडे पापी हो। नि.सन्देह, मैंने पाँच मिनट तक उस लड़की को अपने कन्धों पर बिठाया, फिर उसे पूर्ण रूप से उतार दिया, लेकिन तुम तो उसे पिछले एक घण्टे से अपने दिमाग में बैठाए हुए हो और उतारने का नाम भी नहीं ले रहे हो। इससे वह दूसरा शिष्य बडा नाराज हुआ। खैर, अन्त मे मामला गौतम बुद्ध के सम्मुख लाया गया जिन्होंने पहले वाले शिष्य के पक्ष में निर्णय दिया।"

अन्य सिद्धान्त

गाँधीजी के 5 प्रमुख सिद्धान्तो का ऊपर उल्लेख किया गया है। उनके कुछ सिद्धान्त और भी हैं जिनका संक्षेप मे नीचे अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा। ये सब सिद्धान्त उनकी प्रार्थना मे सम्मिलित हैं जिनका सूत्र निम्नलिखित था—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह,
शरीर, श्रम, अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन।
सर्व धर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना,
विनम्र व्रत सेवा से, ये एकादश सेव्य हैं।

गाँधीजी चाहते थे कि हम मे से प्रत्येक व्यक्ति एक सच्चा सत्याग्रही बने। सत्याग्रह का मतलब सत्य से लगे रहना एवं असत्य अथवा बुराई से असहयोग करना है। सत्याग्रह एक नैतिक शस्त्र है जिसका प्रयोग केवल सत्य के प्रसार हेतु ही किया जाना चाहिए। सत्याग्रही अपने विपक्षी के मुकाबले स्वय को कष्ट में डालना अधिक श्रेष्ठ समझता है। कुछ व्यक्ति सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistence) मे विशेष अन्तर नही करते, लेकिन ऐसा नही है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक राजनीतिक हथियार है जबकि सत्याग्रह आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक नैतिक शस्त्र है। निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बलों का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह वीरों का। निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु अथवा विपक्षी के लिए प्रेम का कोई स्थान नहीं जबकि सत्याग्रह का

आधार ही प्रेम है, इसके अन्तर्गत घृणा, प्रतिहिंसा आदि को कोई स्थान नहीं होता। अन्त में, निष्क्रिय प्रतिरोध मे हिंसा भी शामिल हो सकती है जबकि सत्याग्रह तो किसी भी हालत में हिंसा के प्रयोग की अनुमति नही देता।

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह जिसे दूसरे शब्दों मे सत्य की रक्षा के लिए अहिंसक संघर्ष भी कहा जा सकता है। आग्रह का जो साधन है उसमें प्रेम व अहिंसा के साथ सुदृढ़ संकल्प और आत्म पीडन की तैयारी भी शामिल है। सत्याग्रही के लिए जहाँ एक ओर सत्य और अहिंसा में अटूट श्रद्धा रखना आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर उसमे उच्च कोटि का साहस, धैर्य और अनुशासन की भी नितांत आवश्यकता होती है। सत्याग्रही का आग्रह ऐसा न हो जिससे विरोधी को किसी प्रकार की शारीरिक वेदना हो बल्कि उसका आग्रह ऐसा हो जो विरोधी का हृदय-परिवर्तन कर सके और उसे करुणा से भर सके।

सत्याग्रह के दर्शन के मूल मे यही धारणा निवास करती है कि इस विश्व मे केवल सत्य का अस्तित्व है और यही सत्य चिरंतन है और विकास की ओर ले जाता है। हमारे प्राचीन शास्त्रो मे सत्य के विपरीत शक्तियो का गमन करने के लिए धर्म युद्ध की बात कही गई है जिसे केवल अवतार ही धरातल पर आकर लडते है। गाँधीजी ने धर्म युद्ध की बात को तो स्वीकार किया लेकिन युद्ध को अहिंसक बना दिया। स्वयं गाँधीजी के ही शब्दों मे सत्याग्रह का अर्थ है सत्य से लगे रहना या आत्मिक शक्ति को अन्दर से धरातल पर ले आना और इसके द्वारा विरोधी को गलत रास्ते से ठीक रास्ते पर लाया जा सकता है। सत्याग्रह मे हिंसा का प्रवेश होते ही यह समाप्त हो जाता है। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है, "अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह सर्वोपरि है। सत्याग्रह आत्म शुद्धि की लडाई है वह धार्मिक युद्ध है। धर्म कार्य का आरम्भ शुद्धि से करना ठीक मालूम होता है।"[1] सत्याग्रह का मूल मंत्र यही है कि सत्याग्रही स्वय कष्ट उठाए, विरोधी को यातना न दे और अपनी आत्मिक शक्ति से विरोधी पर विजय प्राप्त करे। सत्याग्रही का उद्देश्य अन्यायी को दबाना नहीं होता है बल्कि उसका हृदय परिवर्तन करना होता है। पुनः उन्ही के शब्दो मे, "वह व्यक्तिगत कष्ट सहन के द्वारा अधिकार प्राप्ति का एक तरीका है। यह शस्त्रों के द्वारा मुकाबला करने का उल्टा है। सत्याग्रह सब धारो वाली तलवार है। इसका किसी तरह भी प्रयोग किया जा सकता है। जो इसका प्रयोग करता है वह दोनों का कल्याण करता है। खून की एक बूँद बहाए बिना यह दूरगामी परिणाम पैदा करता है।"[2] गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह केवल सरकार के विरुद्ध ही नही किया जाता वह किसी अन्याय के विरुद्ध भी किया जा सकता है।[3]

1. गांधी—आत्मकथा, पृष्ठ 378.
2. महात्मा गाँधी—हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ 79.
3. गांधी संस्मरण और विचार, पृष्ठ 458.

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) में अन्तर

गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को दुर्बलों का अस्त्र कहा है जो अपनी नैतिक शक्ति के बूते पर निर्भर करते हैं। गांधीजी के राजनीतिक दर्शन के सुप्रसिद्ध व्याख्याता डॉ. गोपीनाथ धावन ने सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में जो अन्तर बताया है वह निम्नलिखित है—

(1) निष्क्रिय प्रतिरोध जिस रूप में पश्चिमी देशों में प्रचलित था—एक कामचलाऊ राजनीतिक शस्त्र है जबकि सत्याग्रह एक नैतिक शस्त्र है और उसका आधार है शारीरिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति की श्रेष्ठता।

(2) निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग केवल वही कर सकता है जिसमें बिना मारे मरने का साहस है।

(3) निष्क्रिय प्रतिरोध मे उद्देश्य होता है प्रतिपक्षी को इतना परेशान करना कि हार मान ले। सत्याग्रही का उद्देश्य है प्रेम और धैर्यपूर्वक कष्ट सहन द्वारा विरोधी का हृदय परिवर्तन करना।

(4) निष्क्रिय प्रतिरोध विरोधी के लिए प्रेम की गुन्जाइश नहीं होती पर सत्याग्रह में घृणा, दुर्भावना इत्यादि के लिए कोई स्थान नही।

(5) निष्क्रिय प्रतिरोध सत्तात्मक (Static) है जबकि सत्याग्रह गत्यात्मक (Dynamic) है।

(6) निष्क्रिय प्रतिरोध निषेधात्मक रूप से कार्य करता है। उसका कष्ट सहन अनिच्छापूर्वक और निष्फल होता है। सत्याग्रह विधेयात्मक रूप से कार्य करता है, प्रेम के कारण प्रसन्नता से कष्ट सहन को फलप्रद बनाता है।

(7) निष्क्रिय प्रतिरोध मे आन्तरिक शुद्धता का अभाव होता है और वह नैतिक साधनो को आवश्यक रूप मे नही अपनाता और प्रयोग करने वालों के नैतिक सुधार की उपेक्षा करता है। सत्याग्रह में उद्देश्य सिद्धि और आन्तरिक सुधार में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(8) निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सार्वभौमिक नही होता। उसका प्रयोग घनिष्ठ संबंधियों के विरुद्ध नही किया जाता जबकि सत्याग्रह का प्रयोग सार्वभौमिक है।

(9) निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलता और निराशा की भावना से प्रयुक्त होने के कारण मानसिक और भौतिक दुर्बलता को बढ़ाता है। सत्याग्रह सदा आन्तरिक शक्ति पर जोर देता है और उसका विकास करता है।

(10) निष्क्रिय प्रतिरोध वास्तव में निष्क्रिय नही होता, उसका प्रतिरोध सदा सक्रिय होता है। सत्याग्रह उसकी अपेक्षा अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध अधिक फलप्रद और निश्चित विरोध है।[1]

1. के. एन वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग 2, पृष्ठ 468-469.

एक सत्याग्रही के लिए उपर्युक्त पांच बातों के अतिरिक्त भी कुछ और प्रतिज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। उसे निर्भीक होना आवश्यक है। ईश्वर के अतिरिक्त उसे किसी का भय नहीं होना चाहिए। नाना प्रकार की शारीरिक व्याधियों, मृत्यु, सम्मान आदि से सम्बन्धित सब भय निर्मूल हैं। दूसरे शब्दों में, सब प्रकार के बाह्य भय से मुक्ति ही अभय है। शरीर श्रम का विचार बड़ा अनूठा है। वैसे वे कृषि को सबसे उत्तम मानते हैं लेकिन शहरों में जहाँ यह संभव न हो पाए, कातना शरीर श्रम के अन्तर्गत माना जा सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गांधी जी को यह विचार रस्किन से मिला है जिसने कहा था कि एक वकील और नाई के वेतन में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। गांधीजी की यह निश्चित धारणा है कि शरीर श्रम आर्थिक विषमता, अति-संग्रह आदि सामाजिक बुराइयों को दूर करता हुआ शरीर और आत्मा दोनों को स्वस्थ रखता है। शरीर की आवश्यकताओं को केवल शरीर के द्वारा पूरा किया जाना चाहिए, मानसिक अथवा बौद्धिक कार्य के लिए व्यक्ति को भौतिक पदार्थ के रूप में कुछ भी नहीं मिलना चाहिए।

स्वदेशी का व्रत भी आवश्यक है। यह हमें कट्टर राष्ट्रवादी नहीं बनाता बल्कि अपने आस-पास की वस्तुओं के प्रति प्रेम करना सिखाता है। आजादी के पूर्व इस सिद्धान्त का आर्थिक महत्व भी था।

अस्पृश्यता निवारण समानता के लिए आवश्यक है। ऊँच-नीच का भाव मनुष्य के मस्तिष्क में ही नहीं आना चाहिए क्योंकि हम सभी उस एक परम पिता परमेश्वर की सन्तान है। करीब चालीस वर्ष पूर्व गांधीजी ने इसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति से भी बढ़ कर समस्या बताया था। **सर्व धर्म समानत्व** भी अत्यन्त आवश्यक है। महात्मा गांधी के अनुसार विश्व के सारे धर्म समान हैं। भारत जैसे देश में बीसवीं शताब्दी में भी धर्म को लेकर भीषण संघर्ष हुए हैं, सर्व धर्म समानत्व की भावना विशेष महत्व रखती है। एक सत्याग्रही के लिए **विनम्रता** बड़ी आवश्यक है। जिसमें अहं भाव है, वह सत्य के नजदीक नहीं पहुँच सकता। विनम्रता अन्दर से आती है, बाह्य आडम्बर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन दुर्भाग्य से आज देश में बिलकुल इसका उल्टा है तथा यह आडम्बर की वस्तु बन गई है। सच्ची विनम्रता मानवता की सेवा में संलग्न रहने में ही निहित है।

गांधीजी की विचारधारा के प्रमुख तत्वों का विश्लेषण करने के उपरान्त अब कुछ प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विषयों के सम्बन्ध में उनके विचारों को व्यक्त किया जाता है।

सत्याग्रह की प्रविधियाँ
(Techniques)

गांधीजी ने सत्याग्रह को एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में काम में लिया जिन रूपों में उन्होंने सत्याग्रह का प्रयोग किया उनमें प्रमुख अग्रलिखित हैं:—

(1) असहयोग, (2) सविनय अवज्ञा, (3) उपवास, (4) हड़ताल, (5) बहिष्कार एवं (6) हिजरत इत्यादि हैं। इनका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

असहयोग

असहयोग असत्य का प्रतिरोध है। यह बुराई का मुकाबला करना है ताकि अच्छाई का प्रादुर्भाव हो सके। इसका उद्देश्य विरोधी को ऐसी स्थिति में ले आने का *प्रयास है जिसमें उसके साथ सही और प्रेमपूर्ण सहयोग स्थापित* किया जा सके। इसमे विरोधी के प्रति घृणा का भाव नहीं रहता बल्कि उसे स्वयं की बुराई देखने और दूर करने के लिए तैयार किया जाता है। गांधीजी के शब्दों मे बुराई से असहयोग करना भलाई से सहयोग करने के बराबर है। हिंसावृत्ति से किया गया असहयोग अन्त में दुनियाँ में बुराई को घटाने के बजाय बढ़ाने का ही हथियार बन जाता है।[1]

"असहयोग का तात्पर्य आत्मसमर्पण नही है, घृणा भी नहीं है, बुरी नियत भी नही है, विरोधी का नुकसान भी नहीं है—केवल न्याय के लिए अन्याय के विरुद्ध अपने सारे समर्थन को खीच लेना है जिससे अन्यायी का हृदय परिवर्तित हो जाए। *विरोधी की असुविधा के कारण उसे जो कष्ट हो उससे सत्याग्रही को भी कष्ट होना* चाहिए क्योंकि असहयोग व्यक्ति से नहीं किया जाता, जीवन से नही किया जाता, मानवता से नही किया जाता, वह तो अन्याय से किया जाता है। उसे चाहिए कि वह प्रतिपक्षी को यह अनुभव करादे कि सत्याग्रही उसका मित्र और शुभ चिंतक है।"[2]

सविनय अवज्ञा

सन् 1933 मे गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन को चलाने के लिए सत्याग्रही को बहुत ही उच्च स्तर का होना चाहिए। *सविनय अवज्ञा का अर्थ अहिंसा और नम्रता के साथ कानून को भंग करना* है और सत्याग्रही को चाहे कितनी भी बड़ी सजा दी जाए वह कभी धैर्य, सहिष्णुता और सद्भाव को न छोडे। सविनय अवज्ञा का उद्देश्य अवांछ्न अनैतिक कानूनो को अहिंसात्मक ढंग से तोड़ना है। गांधीजी का कथन है कि यह तभी संभव है जबकि *सत्याग्रही मे सच्चाई हो, वह सयमी हो, अनुशासित हो और घृणा व दुर्भावना से दूर हो। असहयोग की भांति इसमे भी विरोधी को प्रेम से जीतना होता है* और इसीलिए अवज्ञा के साथ सविनय शब्द जुड़ा हुआ है अन्यथा केवल अवज्ञा मे हिंसा भी हो सकती है और दुर्भावना भी। इसमे सत्याग्रही का स्वेच्छा से वेदना सहने का सकल्प निहित है। ऐसे सत्याग्रहियों के बारे में अफ्रीका में एक बार जनरल स्मट्स ने कहा था "मैं तुम्हारे लोगो को बिलकुल पसंद नही करता, और न रत्ती भर उनकी

1. यरवदा के अनुभव, पृष्ठ 19.
2. के. एन. वर्मा: पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग 2, पृष्ठ 470.

परवाह करता हूँ परन्तु मैं क्या करूँ। तुम लोग जरूरत के समय मेरी मदद करते हो। हम तुम पर कैसे हाथ उठा सकते हैं, मैं अवसर चाहता हूँ कि तुम हिंसा करो और तब हम बताएँ कि तुमसे कैसे निबटा जाता है परन्तु तुम तो अपने शत्रु को भी नुकसान नहीं पहुँचाते। तुम केवल आत्म-पीडन द्वारा ही विजय चाहते हो और स्वयं अपने पर लगाई गई शिष्टाचार और बहादुरी की मर्यादाओं का भी उल्लंघन नहीं करते और यही चीजें हमें असहाय बना देती हैं।"[1]

उपवास

गांधीजी ने उपवास को बहुत महत्व दिया है। उनके अनुसार, "सच्चा उपवास शरीर मन और आत्मा की शुद्धि करता है। वह इन्द्रियों का दमन करता है और उस हद तक आत्मा को मुक्त करता है।"[2] प्रारम्भ में गांधीजी ने उपवास का प्रयोग आत्म-शुद्धि और व्यक्तिगत प्रायश्चित के रूप में किया लेकिन बाद में उन्हें इतना उपयोगी लगा कि इसका उपयोग सत्याग्रह के रूप में भी किया।

हड़ताल

गांधीजी ने हड़ताल का उद्देश्य जनता और सरकार के मन को प्रभावित करना बताया है। उन्ही के शब्दों में "न्याय प्राप्ति के लिए हड़ताल करना मजदूरों का जन्मसिद्ध अधिकार है परन्तु ज्योंही पूँजीपति पंच का सिद्धान्त मान ले, हड़ताल को अपराध समझना चाहिए। शान्तिपूर्ण हड़ताल उन्हीं लोगों तक सीमित रहनी चाहिए जिन्हे वह कष्ट हो उसे दूर करवाना है।"[3]

बहिष्कार

गांधीजी के बहिष्कार के विचार को व्यक्त करते हुए डॉ० गोपीनाथ धावन ने लिखा है "*गांधीजी ने बहिष्कार को अपने सत्याग्रह में बहुत कम स्थान दिया है* और तभी उसके लिए समर्थन दिया है जब कोई एक या बहुत कम व्यक्ति बहुमत से न्यायोचित बात या मत को मानने से इनकार करे। लेकिन उनमें प्रतिबन्ध भी यह लगा दिया है कि बहिष्कृत व्यक्ति द्वारा उठाए गए कष्ट से बहिष्कार करने वालों की सहानुभूति होनी चाहिए और कष्ट के लिए दुख का अनुभव होना चाहिए। बहिष्कार का तात्पर्य यह नही है कि बहिष्कृत व्यक्ति को आवश्यक सामाजिक सेवाओं से वंचित किया जाए अर्थात् उसके नौकर को नौकरी छोड़ने को कहा जाए। उसको खाना या कपड़ा पाने से रोका जाए या चिकित्सा से वंचित किया जाए ऐसा करना हिंसा है।"[4] गांधीजी ने बहिष्कार का प्रयोग विदेशी चीजों, न्यायालयों, सरकारी नौकरियों, विद्यालयों, उपाधियों आदि को त्याग कर स्वयं गांधीजी ने

1. के. एन. वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ, भाग-2, पृष्ठ 471 पर उद्धृत।
2. गांधीजी, सत्य ही ईश्वर है, पृष्ठ 489.
3. गांधी विचार रत्न, पृष्ठ 225.
4. डॉ गोपीनाथ धावन, वही पुस्तक, पृष्ठ 242.

रोलट एक्ट के विरोध में उन्हें प्राप्त कैसरे हिन्द पदक, जुलु विद्रोह पदक, बोमर युद्ध पदक का बहिष्कार किया।

हिजरत

हिजरत का अर्थ अन्यायी शासक और उसके द्वारा बनाए गए अनैतिक कानून के विरोध में स्वेच्छा से उस देश या स्थान को छोड़ कर चले जाना है। हिजरत का प्रयोग बारडोली एवं जम्बूसर की जनता ने सन् 1930 में किया। ये लोग बड़ौदा राज्य में जाकर बस गए। सन् 1939 में जूनागढ़ लिम्बदी के सत्याग्रहियों ने भी हिजरत की थी। गांधीजी ने ऐसे अनेक लोगों को हिजरत करने की सलाह दी थी जिनमें न सच्ची अहिंसा की शक्ति थी और न हिंसा द्वारा अपनी रक्षा करने की क्षमता हो।[1]

गांधीजी एवं प्रजातन्त्र

अनिवार्यत: गांधीजी के चिन्तन में प्रजातन्त्र के प्रति निष्ठा प्रकट होती है क्योंकि उनकी विचारधारा में व्यक्ति को जो सम्मान प्राप्त है, वही प्रजातन्त्र का भी आधार है। सार यह है कि व्यक्ति का सर्वोच्च एवं सर्वांगीण विकास गांधीजी के चिन्तन में प्रमुख स्थान रखता है। यदि प्रजातन्त्र शासन अथवा जीवन की वह पद्धति है जो समाज के सभी व्यक्तियों को समानता के धरातल पर संगठित कर उन्हें उनकी सर्वोच्च मंजिल तक पहुँचाती है तो गांधीजी को यह अत्यन्त प्रिय है लेकिन पश्चिमी प्रजातन्त्र अथवा संसदीय प्रणाली ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ है। एक बार उन्होंने ब्रिटिश संसद की एक बांझ स्त्री से तुलना की थी एवं ब्रिटिश प्रधानमन्त्री का पद भी उनके आदर्शों के अनुरूप नहीं ठहरता।

गांधीजी आधुनिक प्रजातन्त्र को अपर्याप्त एवं गलत दिशा में ले जाने वाला समझते हैं। यद्यपि ये चुनावों के विरुद्ध तो नहीं है लेकिन प्रचलित प्रणाली को वे अवश्य दूषित समझते हैं। अप्रत्यक्ष चुनावों में उनका विश्वास है। आधुनिक प्रजातन्त्र बहुमत की तानाशाही (Tyranny of the majority) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। गांधीजी इसके विरुद्ध हैं। उनका विश्वास है कि सच्चा प्रजातन्त्र वही है जिसमें अल्पमत तो क्या एक व्यक्ति की आवाज की भी कीमत होती है। जहाँ एक व्यक्ति के विचारों का भी दमन होता है तो वह प्रजातन्त्र नहीं है। आज के इस प्रजातान्त्रिक जीवन में व्यक्ति का स्थान नहीं रहा है, वह राजनीतिक दल रूपी मशीन का एक जड़वत् पुर्जा बन गया है। दल के नेता एवं सचेतक (Whip) की आज्ञा मानना उसके लिए अनिवार्य हो गया है। उसके विचारों की स्वतन्त्रता का कोई महत्व नही है। गांधीजी के शब्दों मे आत्मा की आवाज जैसी कोई वस्तु नहीं है। अत: गांधीजी इसे प्रजातन्त्र मानने में सर्वथा असमर्थ हैं। उनका प्रजातन्त्र तो, जैसा कि कहा जा चुका है, वही है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का अबाधित विकास

1. हरिजन—3 फरवरी, 1940, पृष्ठ 435.

हो सके तथा उसे अपनी इच्छानुसार एक श्रेष्ठ जीवन निर्वाह करने एवं विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो यदि सही वस्तु के लिए एक सत्याग्रही आग्रह करता है और सारा संसार उसके खिलाफ है, तो भी उस व्यक्ति की आवाज सुनी और मानी जानी चाहिए। गांधीजी के सही प्रजातन्त्र का यही अर्थ है। बहुमत मूर्खों का भी हो सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह सही बात ही कहे। 'सत्य' का ठेका किसी एक वर्ग या समूह ने नहीं ले लिया, इस तक चिन्तन और अनुभव के आधार पर सब पहुँच सकते हैं।

आज यद्यपि प्रजातन्त्र की बातें सभी करते हैं लेकिन सत्तारूढ़ होते ही 'सुरक्षा', 'व्यवस्था' एवं 'राष्ट्रहित' की आड़ में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के साथ खिलवाड़ करने लगते हैं। दुख तो इस बात का है कि प्रजातन्त्रवादी शासक भी अल्पकाल तक सत्तारूढ़ होने पर अधिनायकवादियों की तरह आचरण करने लगते हैं।

यह बात स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र का सही अर्थ कोई अन्य विचारधारा प्रस्तुत करने में असमर्थ रही है। साम्यवादियों, फासीवादियों, पूंजीवादियों एवं साम्राज्यवादियों से तो व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता की आशा करना ही व्यर्थ है क्योंकि इनमें से कुछ तो सत्ता के पुजारी हैं, कुछ निरंकुश राष्ट्रवादी, जबकि अन्य दल को ही ईश्वर का स्थान देने वाले; बेचारा व्यक्ति तो कुचल दिया जाता है, उसकी स्थिति तो मशीन के जड़वत् पुर्जे से अधिक श्रेष्ठ नहीं। यहाँ तक कि समाजवादी भी राज्यों को प्रचण्ड शक्तियों से ओतप्रोत कर देते हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रहार होने लगता है। यद्यपि सरकार जनता के हाथ में ही रहती है लेकिन एक विशाल समाज में व्यक्ति खो जाता है, उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह पाता। बहुलवादी व्यक्ति के स्थान पर समूह की स्वतन्त्रता की बातें करते हैं लेकिन समूहों में भी व्यक्ति को खोज लेना एक कठिन कार्य है। प्रजातन्त्र का प्रचलित सिद्धान्त, जिसमें 49 के मुकाबले 51 की बात मानी जाय, यह तो बिलकुल ही जर्जरित वस्तु है। यह तो भेड़-चाल है जिसमें विवेक का कोई स्थान नहीं।

गांधी के चिन्तन में व्यक्ति ही सर्वोपरि है लेकिन वे निरे व्यक्तिवादी नहीं हैं। *उनके चिन्तन की विशेषता यह है कि वह अरस्तू की तरह मनुष्य को एक सामाजिक* प्राणी मानते हैं, उसका विकास समाज में ही सम्भव मानते हैं, समाज से पृथक् उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते लेकिन फिर भी उसे समाज रूपी मशीन का एक पुर्जा नहीं बना देते। मनुष्य का अपना अस्तित्व भी है, 'आत्मा' और 'विश्वास' जैसी चीजों में वह स्वतन्त्र है, उस पर कोई नियंत्रण नहीं, वह चेतन है जड़ नहीं, उसके विकास की कोई परिधि नहीं है।

गांधीजी और समाजवाद

यदि समाजवाद का अर्थ सभी नागरिकों की स्वतन्त्रता, समानता, एवं *भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर आधारित विकास है तो गांधीजी को ऐसे समाजवाद से*

कोई आपत्ति न थी। असमान वितरण, पूँजीवादी शोषण, व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि इन सब बातों के गांधीजी भी विरोध में थे। यहाँ उनका चिन्तन समाजवादी है लेकिन उन्हें उस समाजवाद से घृणा है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को छीन कर एक समूह या वर्ग को दे दे तथा समाजवादी समाज की रचना के नाम पर राज्य प्रचण्ड शक्तियों से अलंकृत हो बैठे। गांधीजी का समाजवाद 'ग्राम समाजवाद' था। इसी को वह 'ग्राम राज्य' अथवा 'राम राज्य' भी कहते थे।

आधुनिक समाज सत्ता से मुक्ति की कामना नहीं करता, प्रत्युत, वह उसे केन्द्रित कर देता है। यह भयंकर वस्तु है। वैसे 'सत्ता' चाहे वह आर्थिक हो अथवा राजनैतिक, अपने में एक निश्चित बुराई है। गांधीजी राज्य को हिंसा पर आधारित मानते हैं। अतः 'सत्ता' का प्रतिनिधित्व करने वाला यह राज्य भी त्याज्य है। इसलिए उनका आदर्श एक विकेन्द्रित समाज का है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं शासक है तथा अहिंसा के आधार पर निर्मित यह समाज गाँवों में बसे हुए छोटे-छोटे समुदायों का एक समूह है, क्योंकि केन्द्रीयकरण एवं अहिंसा में कोई समन्वय नहीं है।

हम गांधीजी के ही शब्दों में उनके समाजवाद का अर्थ प्रस्तुत करते हैं। एक बार सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर के गांधीजी से यह पूछने पर कि क्या वह समाजवादी हैं, गांधीजी ने कहा था, मेरे समाजवाद का मतलब है सबके लिए समाजवाद ! मैं अन्धें, गूंगे और बहरों की राख पर प्रगति नहीं करना चाहता, इसमें अपने व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं रहती, आपका कुछ नहीं होता।

गांधीजी को धार्मिक अराजकतावादी कहा जाता है। गांधी और मार्क्स अन्ततोगत्वा, राज्य को समाप्त करने के पक्ष में ही हैं। दूसरे अनेक प्रसिद्ध विचारक भी राज्य को कोई अच्छी संस्था नहीं मानते। यहाँ हमारा उद्देश्य राज्य को अच्छा तथा बुरा सिद्ध करना नहीं है। राज्य अच्छा हो अथवा बुरा यह अनिवार्य है। प्राचीन यूनानियों ने तो इसे स्वाभाविक और अनिवार्य कहा था। राज्यविहीन अवस्था अराजक अवस्था ही है जिसमें व्यवस्था, अनुशासन, विकास, स्वाधीनता सभी का लोप हो जाता है। मनुष्य इतना श्रेष्ठ, विवेकशील, परोपकारी एवं अहिंसक नहीं है कि वह बिना किसी व्यवस्था के अधीन हुए भी समाज में भली प्रकार रह सके। मनुष्य में ईर्ष्या, महत्वाकांक्षा भी तो है, क्या इनसे प्रेरित होकर वह सामाजिक, समाज विरोधी अथवा हिंसक कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकता ? उसकी समाज अहितकारी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण लगाने के लिए एक संस्था अथवा व्यवस्था की आवश्यकता सदैव ही रहेगी। इसी का नाम तो राज्य है। हाँ राज्य का सवाल होना तो हमें भी अनुचित प्रतीत होता है, निरंकुश सत्ता सदा ही अच्छी होती है लेकिन सीमित सत्ताधारी राज्य की अनिवार्यता को संभवतः कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकेगा। राज्य हमारी दुर्बलताओं पर स्थित है, सामान्य मनुष्य कभी भी नैतिक रूप से इतना सबल नहीं बन पाएगा कि वह राज्य के अभाव से सामाजिक बने रहने की आवश्यक मर्यादाओं का सहर्ष पालन कर सके।

सार यह है कि राज्य को तो स्वीकार कर लिया जाए लेकिन इसे मदान्ध होने से रोकने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए। इस प्रसंग में गांधी की "ग्रामराज" की कल्पना बड़ी ही अनूठी एवं महत्त्वपूर्ण है।

गांधीजी और मार्क्सवाद

प्रो० मश्रूवाला का मत है कि साम्यवाद मे से यदि हिंसा को निकाल दिया जाए तो इसमे और गांधीवाद मे काफी समानताए हैं। कुछ सीमा तक यह बात सही कही जा सकती है। गांधी और मार्क्स दोनों मे पर्याप्त समानताएँ थीं। दोनों एक शोषणमुक्त नूतन समाज की रचना करना चाहते थे। दोनों ही राज्य को एक बुराई मानते थे। दोनों ही सामाजिक एव आर्थिक विषमता, ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी को मिटाना चाहते थे। दोनो ही त्यागी, तपस्वी, प्रतिभाशाली एवं महान् थे।

इतनी समानताओं के होते हुए भी, विशेष अध्ययन से दोनों विचारधाराओं मे प्रचलित मतभेदों का परिचय मिल जाता है। कभी-कभी तो ऐसा महसूस होने लगता है कि यह दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ हैं। संक्षेप में गांधीजी को साम्यवाद द्वारा समर्थित निम्नलिखित बातें प्रिय न थीं। साम्यवाद का आधार भौतिकवाद है जबकि गांधीजी के विचारों का आधार आध्यात्मिकता है। एक नूतन समाज के निर्माण के लिए वर्ग संघर्ष (Class Struggle) को साम्यवादी आवश्यक मानते हैं जबकि गांधी का विश्वास है कि मनुष्य वस्तुतः एक श्रेष्ठ प्राणी है, अतः सह-अस्तित्व सम्भव है। साम्यवाद अपने ध्येय तक पहुँचने में हिंसा का भी खुलकर प्रयोग कर सकता है जबकि गांधी के लिए किसी अवस्था में भी हिंसा का प्रयोग वर्जित है। हिंसा अहिंसा को जन्म नही दे सकती जैसे घृणा प्रेम को पैदा नहीं कर सकती। गांधीजी के लिए अच्छे साध्य को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधनों का अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।[1] जिस प्रकार वृक्ष बीज से निकलता है, ठीक उसी प्रकार साधनों में से ही साध्य निकलता है। साम्यवाद, हिंसा, अत्याचार, धोखेबाजी, घृणा इन सबको साधन के बतौर ग्रहण कर सकता है लेकिन गांधी को यह स्वीकार नहीं। मार्क्स ने समाज अथवा समूह के कल्याण की बात सोची, गांधी समूह की तानाशाही से व्यक्ति की रक्षा के प्रति जागरूक थे। साम्यवाद कुछ समय के लिए राज्य को प्रचण्ड शक्तियां देने के पक्ष में हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति खो जाता है, दल और उसके द्वारा नियन्त्रित राज्य की तानाशाही सर्वत्र छा जाती है लेकिन गांधी प्रारम्भ से ही विकेन्द्रित आर्थिक एवं राजनैतिक सत्ता की बातें करते हैं। गांधी के चिन्तन का आधार व्यक्ति है, समूह नही। साम्यवादी ढंग से राज्य का मुर्झा जाना (Withering away of the state) असंभव है, यह तो एक शैतान को साथ लेकर दूसरे शैतान को मारने की योजना हुई लेकिन शैतान कहाँ मरा, वह तो जीवित है। गांधीवादी पद्धति से राज्य का लोप हो जाना फिर भी संभव है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में यह

1. "As the means, so the end."

कहा जा सकता है कि गांधी मार्क्स से भी बढ़ कर क्रान्तिकारी हैं, उनका समान वितरण में पूर्ण विश्वास है।[1] यद्यपि गांधी और मार्क्स दोनों ही आदर्शवादी विचारक हैं, लेकिन उनका धरातल अलग-अलग है, यद्यपि दोनों ही स्थान-स्थान पर स्वप्न-लोकीय (Utopean thinkers) विचारक हैं। प्रो. लास्की के अनुसार साम्यवाद तथ्यों के प्रति पूर्ण यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता।[2] लेकिन गांधी का चिन्तन भी इस आरोप से पूर्णतः मुक्त नहीं है।

गांधी के विचारों एवं मार्क्सवाद में अन्तर और भी स्पष्ट करने के लिए विनोबा और गांधी के विचारों को उद्धृत किया जा सकता है। आचार्य विनोबा भावे के शब्दों में दोनों के बीच का अन्तर इस प्रकार है, 'दो आदमी एक दूसरे से मिलते-जुलते थे कि लोगों को बड़ी आसानी से एक दूसरे के बारे में भ्रम हो जाता था परन्तु उनमें अन्तर केवल इतना था कि एक साँस ले सकता था और दूसरे की साँस गायब थी।'[3] स्वयं गांधीजी के शब्दों में, 'साम्यवाद हिंसा को अपना शस्त्र मानता है और ईश्वर को मानने से इनकार करता है इसलिए वह मुझे कभी मन्जूर नहीं हो सकता।'

गांधीजी के आर्थिक एवं सामाजिक विचार

यह तो प्रारम्भ ही में कहा जा चुका है कि गांधीजी एक पद्धतिपूर्ण राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारक न थे। आने वाली समस्याओं का उन्होंने अपने ढंग से समाधान ढूंढा। उनके चिन्तन में धर्म नींव का काम करता है। राजनैतिक क्षेत्र की भांति आर्थिक क्षेत्र में भी इसका पूर्ण प्रभाव होना चाहिए। गांधीजी अर्थशास्त्र और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं करते। उनके अनुसार वह अर्थशास्त्र जो किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र का अहित करता है, अनैतिक एवं पापयुक्त है। केवल मांग और पूर्ति (Demand and Supply) को लेकर किसी शास्त्र की रचना नहीं होती।

गांधीजी आवश्यकताओं को बढ़ाने में विश्वास नहीं रखते। मनुष्य को अपनी दैनिक आवश्यकताओं को कम करना चाहिए। सच्चा सन्तोष, त्याग एवं सेवा-मय जीवन में निहित है, भोग में नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं वेतन के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि *गांधीजी पूर्ण समानता के पक्षपाती हैं। सच तो यह है कि* गांधी का चिन्तन एक आधुनिक अर्थशास्त्री जैसा नहीं है, अर्थशास्त्र जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। जीवन से उनका अभिप्राय नैतिक जीवन से है।

1. "All bhangis, doctors, lawyers, teachers, merchants and others would get the same wages for an honest day's work." —*Gandhi*
2. *"In general sense, the error of communism lies in its refusal to face that this is a complex world, its panacea is unreal simply because the world is too intricate for panaceas to have universal significance."* —*H. J. Laski* : Communism
3. गांधीवादी संयोजन के सिद्धान्त, पृ॰ 196.

महात्मा गांधी के आर्थिक विचारों को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि उनका विश्वास श्रम की प्रतिष्ठा (Dignity of Labour) में है। दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे एक ऐसी अर्थव्यवस्था नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति का लोप हो जाए। आत्म-निर्भरता को लेकर चलते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा होनी चाहिए। वे एक अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो बाह्य और आन्तरिक आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति कर सके तथा ऐसा करने में व्यक्ति की स्वाधीनता भी बच सके। तीसरे, गांधीजी के अनुसार बड़ी-बड़ी मशीनों ने पूँजीवाद को जन्म दिया है तथा देश का धन कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो गया है। मशीनें आज शोषण का साधन बन गयी हैं। इनके स्थान पर वे छोटे-छोटे गृह-उद्योगों की स्थापना पर बल देते हैं क्योंकि इसमें शोषण होने की कोई संभावना नहीं है और सभी को ईमानदारी के साथ जीविकोपार्जन करने के साधन भी उपलब्ध हो सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से महात्मा गांधी जाति, लिंग, वर्ण आदि के आधार पर किसी को बड़ा या छोटा मानने को तैयार नहीं हैं। भारत में अस्पृश्यता-निवारण के लिए जितना उन्होंने किया उतना किसी भी एक व्यक्ति ने नहीं किया। उनका आदर्श था 'सर्वोदय' अर्थात् समाज के सभी व्यक्तियों एवं वर्गों का सर्वाङ्गीण विकास। एक धार्मिक व्यक्ति होते हुए भी महात्मा गांधी पर पुराने दकियानूसी विचारों का जिनमें स्त्री को पुरुष से नीचा माना गया, कोई प्रभाव न पड़ा। बुद्ध, कबीर और तुलसी जैसे महान् ज्ञानियों ने स्त्री को पुरुष के मार्ग की बाधा कहा है। हमारे शास्त्रों में उन पर अनेक लांछन लगाए गए हैं लेकिन सौभाग्य से गांधी ने उसे पुरुष के साथ एक समान धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया।

गांधीजी वास्तव में एक मानव थे जिन्हें क्षेत्रीयता, प्रांतीयता, जातीयता तो क्या राष्ट्रीयता भी प्रभावित नहीं कर सकती थी। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध न थी। वे भारत को प्यार करते थे लेकिन शेष विश्व भी उन्हें उतना ही प्रिय था। सत्य और अहिंसा विश्वव्यापी सिद्धान्त हैं, उनका अनुयायी भला कैसे संकीर्ण राष्ट्रवादी हो सकता है ? गांधी का विश्वास था कि प्रत्येक इन्सान ईश्वर की चलती-फिरती प्रतिमा है, उस एक ही पिता की हम सब सन्तानें हैं एवं हम सबका एक ही धर्म है। भेदभाव सब व्यर्थ है क्योंकि ये हमें अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचने देते। हम सबका लक्ष्य भी एक ही है और वह है अपने सच्चे स्वरूप को पहचानना अर्थात् ईश्वर तक पहुँचने की तैयारी करना।

अन्त में, हम काका कालेलकर के शब्दों में गांधीजी की शिक्षाओं को सार रूप में प्रस्तुत करते हैं, उत्पादन का विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीय आत्मनिर्भरता, अत्यधिक धन और दरिद्रता से बचाव, सभी धर्मों के लिए समान आदर, समाज में ऊँच और नीच की भावना का त्याग, धन और सम्पत्ति का समूचे मानव समाज के लिए प्रयोग, विलासी जीवन के भौतिक स्तर को कम करके जीवन के नैतिक स्तर

को उठाना, प्रतिशोधमूलक सजाओं की समाप्ति और शान्ति तथा व्यवस्था कायम करने के प्रयत्न में कम से कम शारीरिक शक्ति का प्रयोग।[1]

आलोचना एवं मूल्यांकन

गांधी के चिन्तन की अनेक दृष्टियों से आलोचना की जा सकती है। उन्हें एक आदर्शवादी कहकर प्रायः टाल दिया जाता है और वर्तमान समस्याओं से जूझने एवं उनका समाधान ढूँढने की क्षमता उनके चिन्तन में नहीं बताई जाती। कहने का अर्थ यह है कि उनके विचारों की सम्बद्धता संदिग्ध मानी जाती है। ऐसा क्यों कहा जाता है उसके लिए वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं की एक अत्यन्त सूक्ष्म झलक प्रस्तुत करना आवश्यक है और फिर इसके संदर्भ में गांधी के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के प्रादुर्भाव ने अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन प्रस्तुत कर दिए। जिन देशों ने विज्ञान और तकनीकी ज्ञान को सर्वप्रथम ग्रहण किया उन्होंने इनकी सहायता से विश्व के अन्य देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। राष्ट्रीय स्तर पर इनका लाभ उठाकर एक छोटे से वर्ग ने समाज के बहुसंख्यक भाग पर अपना सर्वस्व जमा लिया। गांधी ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध जमकर मोर्चा लिया और वहां उनकी उपादेयता सिद्ध भी हुई। गांधी से करोड़ों अफ्रीकी-एशियाई लोगों ने साम्राज्यवादियों से टक्कर लेने की प्रेरणा प्राप्त की। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त यद्यपि साम्राज्यवाद का तो ह्रास होने लगा लेकिन पूंजीवाद पूर्ववत् बलवान बना रहा। कुछ साम्यवादी देशों को छोड़कर विश्व के अधिकांश देशों में जिनमें विकसित और विकासशील दोनों ही राष्ट्र सम्मिलित हैं भौतिक साधन चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रित हो गए। इसका दुष्परिणाम यह निकला है कि समाज के बहुसंख्यक भाग को नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ा है। स्थिति यह है कि समाज दो वर्गों (भागों) में बंट गया है और इन दो के सम्बन्ध शोषक और शोषित के सम्बन्ध हैं इससे वर्ग संघर्ष की चिंगारी सुलगती जा रही है और यह हिंसक क्रान्ति को खुला निमन्त्रण है।

इस संदर्भ में गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का समस्या से हल के रूप में अध्ययन आवश्यक है। जैसा कि बताया जा चुका है कि गांधी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के बीच इन दोनों की बुराइयों को दूर करने का हल मानते हैं। गांधी जी अहिंसा के द्वारा और हृदय परिवर्तन के द्वारा जो परीक्षण करना चाहते थे आज के सन्दर्भ में उसकी उपादेयता संदिग्ध है।

आधुनिक समय में, पूंजीपतियों एवं मजदूरों के बीच प्रचलित संघर्ष अहिंसात्मक ढंग से किस प्रकार सुलझाया जा सकता है, इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा के इस व्यावहारिक रूप का ज्ञान एक रोचक विषय है। क्या एक भयंकर

1. Gandhian Outlook and Technique, pp. 372-73.

एवं प्राणघातक शत्रु का अहिंसा के द्वारा हृदय-परिवर्तन सम्भव है, क्या वह इस शक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक झुक सकता है—ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं। अंग्रेजी साम्राज्य का भारत से पलायन अहिंसा की शक्ति की सत्यता एवं प्रामाणिकता को सिद्ध करने में असमर्थ है, अंग्रेजो के भारत से प्रस्थान के पीछे दूसरे अनेक तत्त्व विद्यमान थे जिनका यहाँ वर्णन करना अप्रासंगिक होगा। खैर, यदि अहिंसा की शक्ति की प्रचंडता एवं विशालता को एक बार स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी एक गम्भीर प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि क्या सुषुप्त, अशिक्षित, जर्जरित दीन हीन जन-समूह इस शक्ति को धारण करने मे समर्थ एवं सशक्त है ? क्या सम्पूर्ण वसुधा अथवा किसी निश्चित भू-भाग पर रहने वाले समस्त जन-समूह को इतना जागरूक एवं सुरक्षित बनाया जा सकता है कि अहिंसा उनके जीवन का एक अंग बन सके ? जब तक यह नही होता, तब तक क्या सामाजिक बुराइयो एवं समाज विरोधी तत्त्वों से संघर्ष स्थगित कर दिया जाए ? समाज का शोषण करने वाले पूंजीपतियों के विरुद्ध शोषित मजदूरों एवं अधोगति को प्राप्त निम्न वर्गों के व्यक्तियो द्वारा अहिंसात्मक ढग से किस प्रकार संघर्ष कर निश्चित उद्देश्य को प्राप्त किया जाए, यह एक शोध का विषय है ?

यद्यपि गांधीजी तो यह कह कर अलग हो गए कि यदि किसी पूंजीपति का हृदय-परिवर्तन नही हुआ तो इसमे मेरे सिद्धान्त की कोई कमी नही है। लेकिन गांधीजी का यह कथन सन्तोषजनक नही है। उनका कथन, आर्थिक स्थायित्व आध्यात्मिक दिवालियेपन का प्रतीक है, वस्तुस्थिति का सही चित्रण नही करता। आर्थिक विषमता बुरी है, सम्पन्नता नही। गरीबी मानव के समुचित विकास, जिसमें उसका आध्यात्मिक विकास भी निहित है, मे बाधक है, इस कठोर सत्य को कैसे भुलाया जा सकता है। गरीब भगवान के अधिक नजदीक है और धनी दूर, गरीबों को स्वर्ग मिलेगा जबकि धनिकों को नरक–ये व्यर्थ के विचार है। जो इस जीवन मे ही सुख और शान्ति के दर्शन नही कर पाता उसे अगले जीवन मे इसकी क्या आशा है ? अगला जीवन होता भी है या नही, यह एक दार्शनिक प्रश्न है जिसका विवेचन यहाँ उचित नही प्रतीत होता।

गांधी यहाँ साधु एव सन्तो की सी बाते करते है, एक लोक [illegible] नही। सिद्धान्त उनका बहुत अच्छा है लेकिन व्यावहारिक कितना है, [illegible] महत्त्वपूर्ण है ? पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन हुआ नहीं और [illegible] ही है। भारत का एक भी पूंजीपति सच्चे रूप मे 'ट्रस्टी' नहीं [illegible] बापू के चरणों में रहने वाले कतिपय प्रमुख पूंजीपतियों [illegible] उल्लेखनीय परिवर्तन नही आया। आखिर इसको क्यों [illegible] है कि [illegible] की अपनी दुर्बलताएँ होती हैं, उन्हें क्यों बढ़ावा दिया [illegible] एवं विचारक का यह कर्त्तव्य है कि वह इसे नियन्त्रण [illegible] सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करे ? स्पष्ट है कि [illegible] शोषक तथा शोषित के बीच सह-अस्तित्व की बात [illegible]

के जन्म-दाता के रूप में अवतरित होते हैं जिनकी आड़ में निर्बल वर्गों का सबल वर्गों द्वारा खुलकर शोषण किया जा सकता है। इस स्थान पर एक सबल एवं सशक्त राजनीतिक एव सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की नितान्त आवश्यकता है, यदि व्यक्ति की समाज-विरोधी गतिविधियों पर नियन्त्रण भी आता है अथवा उसकी कुत्सित मनोवृत्ति का दमन भी किया जाता है तो भी उसका स्वागत ही किया जाएगा। चाहे हिंसा हो अथवा अहिंसा, व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण अक्षम्य है; यह सामाजिक एव नैतिक पाप है जिसका निराकरण करना ही होगा।

आधुनिक राज्य औद्योगिक और सामयिक विकास पर आधारित है। इसके लिए केन्द्रीकरण स्वाभाविक है। गांधीजी राज्य के अधिकाधिक विकेन्द्रित स्वरूप की कल्पना करते है। वे ग्राम स्वराज्य की बात करते है और यहाँ तक कह जाते हैं कि उनकी आदर्श व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा। वर्तमान राज्यों की शक्तियां, उनका आकार और उनकी जनसंख्या विशाल है। गांधीजी के ग्राम स्वराज्य का विचार केवल थोथी कल्पना ही मालूम देती है। वर्तमान चुनौतियों का सामना राज्यों को करना पड़ रहा है। ये चुनौतियां सभी प्रकार की हैं— अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, औद्योगिक, सामरिक आदि। आज केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति इतनी शक्तिशाली बन चुकी है कि इसको समाप्त कर देना व्यावहारिकता न होगी। जिन देशों ने कमजोर केन्द्र की बात सोची थी वे भी आज केन्द्र को मजबूत बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उदाहरण के लिए अमेरिकी संविधान के जनक एक कमजोर केन्द्र के पक्ष मे थे लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण आज अमेरिकी कांग्रेस और वहाँ का सर्वोच्च न्यायालय स्वतः अधिकाधिक शक्तियां केन्द्र को देता जा रहा है। गांधी के अनुयायियों द्वारा बनाया हुआ भारत का संविधान कितना केन्द्रोन्मुख है यह सभी जानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि आज के समय में न विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था सम्भव है और न राजनीतिक व्यवस्था ही। गांधीजी का ग्राम स्वराज्य का विचार निकट भविष्य में स्वप्नलोकीय नजर आता है।

गाँधीजी के अनेक आलोचकों ने बताया है कि वह वर्तमान समाज की जटिल समस्याओं से जूझने की क्षमता नही रखती। राजनीति अर्थशास्त्र को धर्म शास्त्र से जोड़कर एक अस्पष्ट स्थिति का निर्माण कर देते है जिससे न कोई रास्ता ही मिलता है और न कोई प्रेरणा ही। उन्होंने समाज को वर्ग के रूप मे परिभाषित न कर परिवर्तन की दिशा को अवरुद्ध कर दिया है। समाज के शत्रुओं को ढूंढे बिना और उनसे लोहा लिए बिना शान्ति सम्भव नही है। उन्होने आर्थिक पक्ष की अपेक्षाकृत उपेक्षा की है और यही कारण है कि उनका समस्याओं का अध्ययन सत् ही रहा, उनके मूल मे जाने की उन्होने कभी चिन्ता नही की। ट्रस्टीशिप की आड में पूँजीवाद पनपा। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात कही, लेकिन इसका कोई परिणाम नही निकला। प्रो. ए आर. देसाई ने अपनी पुस्तक (Social Background of Indian Nationalism) मे ठीक ही कहा है कि यदि गांधी इस समस्या के आर्थिक पक्ष पर ध्यान देते तो यह अधिक उपयोगी और व्यावहारिक होता। आलोचक यह

भी बताते है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त गांधी का कोई विशेष प्रभाव नही रहा क्योंकि स्वतन्त्र भारत की उभरती हुई समस्याओं का हल ढूंढने में उनका चिन्तन सक्षम नही था। जहाँ मार्क्स के चिन्तन को लेनिन ने रूस के धरातल पर उतार दिया, मार्क्सवाद, लेनिनवाद की चीन के सन्दर्भ में माओत्सेतुंग ने क्रियान्विति की वहाँ गांधी अपने देश भारत मे ही भुला दिया गया। इसमें कोई सन्देह नही कि वर्तमान भारत के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन पर उनका कोई प्रभाव नही है।

लेकिन सब कुछ मिलाकर गांधी के चिन्तन मे आकर्षण है इसमे कोई सन्देह नहीं। गांधी के चिन्तन की एक अनुपम विशेषता व्यक्ति को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने मे निहित है। कोई भी व्यवस्था चाहे वह पूंजीवादी हो, समाजवादी अथवा साम्यवादी, ये सभी व्यक्ति को मुक्त नही करती उसे व्यवस्था में जकड़ लेती हैं। व्यवस्था कोई भी हो मनुष्य खो जाता है। उसे सेना, पुलिस, नेता, दल आदि से किसी न किसी के अधीन अपनी स्वतन्त्रता और अभिव्यक्ति को तिलांजलि देकर रहना पडता है। विश्व के चिन्तकों मे गांधी उन गिने-चुने चन्द लोगों मे से है जिनके चिन्तन के मूल में व्यक्ति है और उनका प्रयास व्यक्ति को मुक्त कर देता है। गांधी का यह विचार मौलिक और ठोस होने के साथ ही साथ शाश्वत भी है। व्यक्ति सदियो से किसी न किसी का गुलाम रहा है, उसे मुक्त करने का गांधी का विचार अनूठा, आकर्षक और उपयोगी है, इससे इन्कार नही किया जा सकता।

गांधीजी के अहिंसा के विचार की चाहे कितनी भर्त्सना ही क्यो न की जाए, लेकिन क्या यह अपने में अनूठा विचार नही है। अब तक शासकों और समाज के कर्णधारों ने समस्या के समाधान का माध्यम केवल हिंसा को चुना है लेकिन क्या हिंसा स्थायी शान्ति लाने में समर्थ हुई है यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या मनुष्य जिसे विवेकशील प्राणी कहा जाता है उस रास्ते को चुनता रहेगा जो उसका नहीं; पशु का है, क्या वह इससे ऊपर उठकर कोई मानवीय रास्ते की तलाश नही कर सकता। क्या मनुष्य की शक्तियाँ इतनी सीमित है कि वह नए रास्ते का सृजन नही कर सकता। आज जब मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, विज्ञान और तकनीकी ज्ञान अपने शरीर पर पहुँच गए हैं वहाँ क्या नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों को जगाकर वह चुनौतियो का मानवीय हल ढूंढने मे सक्षम नहीं हो सकता ? यह एक विचारणीय प्रश्न है और इसके साथ अनिवार्यत. जुड़ा हुआ गांधी का चिन्तन है। इससे गांधी के चिन्तन की शाश्वतता और उपादेयता स्पष्ट होती है।

प्रश्नावली

(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय–1

1 समाजवाद की परिभाषा दीजिए तथा इसके आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।
Define Socialism and discuss its essential elements.

2 "एक आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में समाजवाद की उत्पत्ति पूँजीवाद के दुर्गुणों का विरोध करने के लिए हुई।" समाजवाद दर्शन की क्रान्तिकारी तथा विकासवादी श्रेणियों का अन्तर स्पष्ट करते हुए इस कथन की समीक्षा कीजिए।
"Socialism, as an economic and political theory, originated as a protest against the evils of capitalism." Explain carefully distinguishing the revolu onary and the evolutionary schools of Socialist thought.

3 राज्य के कार्य-सम्बन्धी समाजवादी सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
Discuss the socialistic theory of the functions of the State.

4 इस कथन की समीक्षा कीजिए कि "समाजवाद उस पुराने टोप की तरह है जिसने अपनी आकृति को खो दिया है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे पहनता है।"
Examine this statement that "Socialism is like a hat that has lost its shape because every body wears it."

5 यह कहना कहाँ तक सत्य है कि समाजवाद लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त का आर्थिक जीवन में प्रयोग है ?
How far is it correct to say that socialism is the application of the democratic principle to economic life ?

6 "समाजवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामाजिक सेवा की भावना को स्थान देना है।" विवेचन कीजिए।
"*Socialism aims at substituting the motive of social service for the motive* of private profit." Discuss.

7 "समाजवादी और व्यक्तिवादी विचारों में अन्ततः कोई भेद नहीं होता; प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देना चाहता है।" समीक्षा कीजिए।
"The aim of the Socialist and the Individualist do not, in the long run, differ; each aims at giving to the individual maximum account of liberty." Discuss.

8 समाजवाद के विभिन्न प्रकारों का नाम लिखें तथा उनमें से किसी एक का विस्तृत विवरण दें।
Mention the various kinds of Socialism and discuss any one of them in detail.

9 "समाजवाद का इतिहास असन्तोष की उन लहरों से आरम्भ होता है जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति की प्रलय के पूर्व में उठी थी।" उक्त कथन को समझाते हुए यह बताइए कि समाजवाद का इतिहास प्राचीन यूनान के समय से प्रारम्भ होता है या उन्नीसवीं शताब्दी की देन है। (1977)
"The history of socialism begins among the first ripples of disturbances that presaged the deluge of French Revolution." Explain and point out if the history of socialism dates back to the days of ancient Hellas or it is a development of nineteenth century only.

अध्याय-2

10 क्या आप लिलि के इस कथन से सहमत हैं कि थामस मूर पुनरुत्थान के व्यक्तियों की सर्वोच्च सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व करता है ? सकारण उत्तर दीजिए। - (1977)
Do you agree with the view of Lilly that Thomas More represented "the highest perfection discernible among the men of the Renaissance ?" Give reasons in support of your answer.

11 सर थामस मूर के समाजवादी चिन्तन के प्रति किए गए योगदान का परीक्षण करते हुए यह बताइए कि क्या यह समाजवादी विचारधारा क विकास में महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। (1976)
Explain and assess the contribution of Sir Thomas Moore to socialistic thought and point out if it constituted a landmark in the development of socialist thinking

12 यह कहा जाता है कि सर थामस मूर ने गुलाब की क्यारियो की कल्पना तो अवश्य की थी परन्तु गुलाब के पेड़ों को लगाने हेतु भूमि तैयार नहीं की। क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए। (1978)
It is said that Sir Thomas Moore conjured up the vision of beautiful roses but prepared no soil for the growth of rose trees. Do you agree with this view.? Give reasons in support of your answer.

13 मूर के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
Enumerate the political ideas of Sir Thomas Moore and add a short criticism.

14 विलियम गाडविन के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। (1974 एवं 78)
Give a critical exposition of the social and political ideas of William Godwin

15 समाजवादी चिन्तन को सेण्ट साइमन की देन की समीक्षा कीजिए।
Discuss the contribution of St. Simon to Socialist thought.

16 "सेण्ट साइमन समाजवाद के जनको मे से एक हैं—इस कथन का आधार बहुत ही क्षीण है।" सेण्ट साइमन के विचारो के आधार पर इस कथन की आलोचना कीजिए।
"Saint Simon's claim to be one of the fathers of socialism rests on very slender evidence." Discuss this statement in the context of Saint Simon's thought.

17 "एक खोखला पैगम्बर।" क्या यह सेण्ट साइमन का सही वर्णन है ? उसके राजनीतिक चिन्तन के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए। (1977)
"A hollow Prophet." Is it a correct estimate of Saint Simon? Explain with reference to his political ideas

18 "सभी कल्पनावादी विचारक सम्पत्ति के निजी अधिकार की आलोचना करते हैं परन्तु वे उसका उन्मूलन नही चाहते।" इस कथन के सन्दर्भ में सेण्ट साइमन तथा चार्ल्स फोरियर के निजी सम्पत्ति के विचारों का वर्णन कीजिए। (1977)
"All utopian thinkers criticise 'Private Property' but do not advocate its complete eradication." In the light of this statement, discuss the views of Saint Simon and Charles Fourier on private property.

19 सेण्ट साइमन के मुख्य राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण करते हुए यह बताइए कि क्या आप उनसे सहमत हैं। कारण सहित उत्तर दीजिए। (1976)
Critically examine the main political ideas of Saint-Simon and point out if you agree with them. Give reasons in support of your answer.

20 सेण्ट साइमन के राजनीतिक विचारों का समीक्षात्मक परीक्षण कीजिए। क्या आर्थिक व्यवस्था मे सहयोग वर्ग-विभाजित समाज में सम्भव है ? (1975)
Critically examine the political ideas of Saint Simon. Is co-operation in economic activity possible in a class divided society ?

21 समाजवादी चिन्तन को चार्ल्स फोरियर की देन का विवेचन कीजिए। (1974)
Discuss the contribution of Charles Fourier to Socialist thought.

22 चार्ल्स फोरियर के मुख्य राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह बताइए कि क्या आप उनसे सहमत हैं ? सकारण उत्तर दीजिए। (1978)
Critically examine the main ideas of Charles Fourier and point out if you agree with them ? Give reasons in support of your answer.

23 चार्ल्स फोरियर के राजनीतिक विचारों का परीक्षण करते हुए यह बताइए कि क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि वह एक खोखला पैगम्बर था। (1976)
Assess the political ideas of Charles Fourier and point out if you agree with the view that he was a hollow prophet.

24 चार्ल्स फोरियर का मुख्य योगदान राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र की अपेक्षा काल्पनिकता को अधिक था। उसके काल्पनिक सिद्धान्तो के सन्दर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए। (1976)
Charles Fourier's main contribution was in the field of utopianism and not in the realm of political speculation. Explain with reference to his fanciful theories.

25 समाजवादी चिन्तन को राबर्ट ओवेन की देन की विवेचना कीजिए। (1973 एवं 1977)
Discuss the contribution of Robert Owen to socialist thought

26 एक व्यावहारिक जो काल्पनिक बन गया। क्या यह राबर्ट ओवन का उपयुक्त वर्णन है ? सकारण समझाइए। (1976)
A realist turned utopian. Is it a correct estimate of Robert Owen Explain with reasons.

27 क्या यह कहना उचित है कि राबर्ट ओवन ने एक यथार्थवादी के रूप में कार्य प्रारम्भ किया तथा अन्तत: एक काल्पनिक हो गया ? सकारण उत्तर दीजिए। (1976)
Is it correct to say that Robert Owen began as a realist and ended as a utopian ? Give reasons in support of your answer.

28 समाजवादी चिन्तन को लुई ब्लाक के योगदान का विवेचन कीजिए। (1975)
Discuss the contribution of Louis Blance to the development of Socialist thought.

29 समाजवादी चिन्तन को थाम्पसन एवं हाॅसकिन की देन की व्याख्या कीजिए।
Discuss the contribution of Thompson and Hodgskin to socialist thought.

अध्याय–3

30 "राजनीतिक सत्ता ठीक प्रकार से जैसी कि यह कहलाती है केवल एक वर्ग की वह सगठित शक्ति है जिसका उपयोग दूसरे वर्ग को दलित करने हेतु किया जाता है।" (कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो)। उक्त कथन के सन्दर्भ में मार्क्स के राज्य के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (1978)
"Political power so called is merely the organized power of one class for oppressing another" (Communist Manifesto) In the light of this statement, explain Marx's theory of State.

31 भौतिक द्वन्द्ववाद के दर्शन को समझाते हुए इसकी कमियों पर प्रकाश डालिए। (1977)
Explain the philosophy of dialectical materialism and point out its shortcomings.

32 हीगल तथा कार्ल मार्क्स के द्वन्द सम्बन्धी वैचारिक अन्तरो को स्पष्ट कीजिए। (1976)
Examine the difference between Hegel and Karl Marx in respect of their views on dialectics.

33 कार्ल मार्क्स के सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। सामाजिक जनतन्त्रवादियों तथा लेनिन के परस्पर भिन्न सिद्धान्तो से उसका क्या सम्बन्ध है ? (1969)
Discuss Karl Marx's theory of proletarian revolution. How is it related to the divergent theories of the Social Democrates and Lenin ?

34 कार्ल मार्क्स के राज्य और क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। (1978)
Critically examine Karl Marx's Theory of State and Revolution.

35 पूँजीवाद से सम्बन्धित मार्क्स के विचारो पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। आज के पूँजीवाद को समझने के लिए उनके विचार कहाँ तक उपयोगी है ? (1975)
Write a brief essay on Marx's critique of capitalism. How far is it relevant to the understanding of capitalism today ?

36 किस प्रकार कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने उसकी विचारधारा को वैज्ञानिक बना दिया है ? परीक्षा कीजिए। (1976)
Examine how Karl Marx's doctrine of class struggle made his ideology scientific

37 'हम बुर्जुआवर्ग के मित्र नही हैं......लेकिन हम उनकी विजय से कुण्ठित नहीं होते हैं..... वे इतने अदूरदर्शी हैं कि यह कल्पना करने लग जाते हैं कि उनकी विजय द्वारा संसार का अन्तिम स्वरूप निर्धारण हो जाएगा। वास्तव मे इससे अधिक किसी बात की सम्भावना नहीं है कि वे हम प्रजातन्त्रवादियो तथा साम्यवादियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।" (एन्जिल्स)। इस कथन के सन्दर्भ मे मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। (1976)
"We are no friends of the bourgeoise..........but we do not grudge the bourgeoisie its triumph...they are so short-sighted as to fancy that through their triumph, the world will assume its final configuration Yet nothing is more likely than that they are preparing the way for us—the democrats and communists." (Engels). Explain and evaluate Marx's theory of revolution

38 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और सामाजिक क्रान्ति के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मार्क्स के विचारों का विवेचन कीजिए। मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सामाजिक क्रान्ति की सम्भावना कहाँ तक सम्भव है ? (1971)

Discuss Marx's ideas about the relation between dialectical materialism and social revolution. Examine how far predictability of social revolution is permissible in terms of Marxian dialectics

39 मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या की विवेचना कीजिए। इसमें क्या असंगतियाँ हैं ?

Discuss Marx's Economic Interpretation of History. What are the inconsistencies in it ?

40 "जब तक मार्क्सिज्म अपने आपको समाजवाद की 'स्टेटिस्ट' कल्पना से अलग नहीं करता तब तक यह हमारे समय की दोषदर्शी चेतना का कार्य परिपूर्ण नहीं कर सकेगा।" व्याख्या कीजिए। (1974)

"Until Marxism separates itself from the statists myth of Socialism, it will be unable to fulfil its role as *the critical consciousness of our time.*" Discuss.

41 मार्क्स के राज्य-रहित समाज के सिद्धान्त का विवेचन करिए। मार्क्स के राज्य-रहित समाज का सिद्धान्त उसके पूर्व इसी प्रकार के यूटोपियन समाजवादियों के राज्य-रहित समाज के विचारों से किस प्रकार भिन्न था ? (1974)

Discuss Marx's concept of stateless society. In what ways was Marx's concept of stateless society different from the earlier similar concepts of the Utopian socialists ?

42 मार्क्स के विचारधारा सम्बन्धी विचारों का समीक्षात्मक परीक्षण कीजिए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि विचारधारा और तर्कसंगत कार्य बेमेल है। *(1976)*

Critically examine Karl Marx's ideas on the role of ideology. Do you agree with the view that ideology is incompatible with rational action.

43 "ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का सामाजिक जीवन के अध्ययन हेतु विस्तार है।" (जोजफ स्तालिन)।
इस कथन की समीक्षा करते हुए मार्क्स के आर्थिक नियतीकरण और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों को समझाइए। (1976)

"Historical materialism is the extension of the principles of dialectical materialism to the study of social life" (Joseph Stalin) Discuss.

44 "सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक दल में संगठित करना सामाजिक क्रान्ति की विजय एवं इसके अन्तिम लक्ष्य, वर्गों के उन्मूलन की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।" उक्त कथन के सन्दर्भ में मार्क्स की क्रान्ति के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (1977)

"The constitution of proletariat into a political party is indispensable to ensure the triumph of the Social Revolution and of its ultimate goal; the abolition of classes." In the light of this statement examine Marx's theory of revolution.

45 "लेनिनवाद साम्राज्यवाद के युग का मार्क्सवाद है।" (जोजफ स्तालिन)। इस कथन को समझाते हुए लेनिन के पूँजीवादी साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। क्या आप लेनिन के इस मत से सहमत हैं कि पूँजीवाद का अन्तिम चरण साम्राज्यवाद है ? सकारण उत्तर दीजिए। (1978)

"Leninism is Marxism of the epoch of imperialism." (Joseph Stalin). Explain and discuss Lenin's theory of capitalist imperialism. Do you agree with Lenin that the last stage of capitalism is imperialism. Give reasons.

46 क्या आप इससे सहमत हैं कि "लेनिनवाद उलटा हुआ मार्क्सवाद है ?" तर्क दीजिए। (1972)

Do you agree with the view that "Leninism is inverted Marxism ?" Give reasons.

47 कुछ लोगों ने मार्क्सवादी परम्परा में लेनिन को सर्जनात्मक प्रतिभा कहा है, कुछ ने सफल संशोधनवादी के रूप में उनका उपहास किया है। उनके किन्हीं दो प्रमुख अवदानों को ध्यान में रखते हुए अपने विचार व्यक्त कीजिए। (1971)

Some have characterised Lenin as a creative genius in Marxist tradition. Others have caricatured him as a successful revisionist. Give your own assessment by dealing in depth with any two of his important contributions.

48 साम्यवाद पर लेनिन और माओ के विचारों की तुलना और भिन्नता बताइए। (1978)

Compare and contrast the views of Lenin and Mao on Communism.

49 दल, राज्य तथा क्रान्ति पर लेनिन के विचारों का परीक्षण कीजिए। उनकी तुलना मार्क्स के विचारों से कीजिए। (1972)

Examine Lenin's views on party, the state and revolution ? Compare them with those of Marx

50 लेनिन के विचारों में किसानों की साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने में जो योगदान है, उसका समीक्षात्मक परीक्षण कीजिए। क्या आप सोचते हैं कि उन्होंने पूँजीवाद की आर्थिक और राजनीतिक सम्भाव्यता को कम करके आँका ? (1974)

Critically examine Lenin's ideas on the role of peasants in bringing about a successful communist revolution Do you think he underestimated the economic and political potentialities of capitalism ?

51 लेनिन के वर्ग चेतना तथा प्रजातान्त्रिक केन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए दल निर्माण में इनके महत्त्व को बताइए। (1976)

Explain Lenin's theories of class consciousness and democratic centralism and point out their significance in party building.

52 "श्रमिक वर्ग की गतिविधियाँ बुर्जुआवर्ग में पूँजीवादी क्रान्ति लाने के लिए गति ला देती है।" (एलफ्रेड मेयर)। इस कथन के सन्दर्भ में लेनिन के चिंगारी के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। (1976)

"The activity of the working class will set the bourgeoisie into motion to make a bourgeoisie revolution" (Alfred Meyer). In the light of the above sta tement, explain and evaluate Lenin's theory of spark.

53 लेनिन के पिछड़ेपन के द्वन्द्व तथा सम्मिलित विकास के सिद्धान्तों की विवेचना तथा मूल्यांकन (1973)

Explain and evaluate Lenin's concept of dialectics of backwardness and his theory of combined development.

54 जोजफ स्तालिन के समाजवादी चिन्तन के प्रति योगदान की विवेचना तथा मूल्यांकन कीजिए। (1978)

Explain the contribution of Joseph Stalin to socialist political thought and assess its value

55 मार्क्सवाद-लेनिनवाद में माओ-त्से-तुंग के योगदान की समीचीन व्याख्या कीजिए। क्या आपके विचार में माओ-त्से-तुंग के कुछ विचार मार्क्सवाद की नींव पर आघात पहुँचाते हैं ? (1971)
Assess the contribution of Mao-Tse-Tung to Marxism-Leninism. Do you agree some of his ideas cut at the very foundations of Marxism ?

56 साम्यवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार को माओ-त्से-तुंग की क्या देन है ? (1973)
What is the contribution of Mao-Tse-Tung to the theory and practice of Communism

57 मार्क्स से लेकर माओ तक मार्क्सवाद में जितने सैद्धान्तिक विकास और परिवर्तन हुए हैं उनको ध्यान में रखते हुए क्या आप समझते हैं कि वे एक सामान्य सूत्र में बन्धे हुए हैं। युक्तियुक्त उत्तर दीजिए। (1971)
With all the enrichment and change in the Marxism from Marx to Mao, do you see any threads which tie them together ? Discuss critically.

58 विवेचना कीजिए कि माओ की विचारधारा उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों के लिए बनाई गई है। (1974)
Explain and examine the view the Maoism has been designed for colonial or semi-colonial countries.

59 माओ-त्से-तुंग का 'तीन स्वतन्त्रताओं तथा एक आश्वासन' का सिद्धान्त उसके बहुचर्चित सार्वजनिक कम्यूनों के प्रयोग का निषेध है। बताइए। (1978)
Mao Tse-Tung's principle of 'three freedoms and one guarantee' negates this much publicised experiment of public communes Discuss.

60 "सौ पुष्पों को खिलने दो, सौ विचारों को टकराने दो।" (माओ-त्से-तुंग)। उक्त कथन के सन्दर्भ में माओ के उदारवाद की विवेचना करते हुए इसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए। (1976)
"Let a hundred flowers bloom and let a hundred schools of thought contend." (Mao-Tse-Tung). In the light of this statement, examine Mao-Tse-Tung's liberalism and point out its limitations

61 माओ-त्से-तुंग के क्रान्ति के सिद्धान्त की विवेचना करते हुए इसमें विभिन्न वर्गों की भूमिका को बताइए। क्या आपके अनुसार यह माओ-त्से-तुंग का मौलिक योगदान है ? सकारण बताइए। (1975)
Explain Mao Tse Tung's theory of revolution and the role played by various classes in it. Do you consider it to be an original contribution of Mao-Tse-Tung ? Give reasons.

62 मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति जोज़फ स्टालिन के योगदान को बताते हुए उसकी संक्षिप्त आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। (1976)
Critically examine the contribution of Joseph Stalin to Marxian political thought and add a short criticism.

63 माओ के क्रान्ति के सिद्धान्त की विवेचना तथा आलोचना कीजिए। (1977)
Explain Mao's theory of revolution and point out its shortcomings.

अध्याय–5 एवं 6

64 गैर-मार्क्सवादी समाजवाद से आप क्या समझते हैं ? लैमने के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

समाज का सगठन किस प्रकार करेंगे ?

Discuss the anarchist view of the State. How would the anarchists organise their society ?

66 अराजकतावाद के पक्ष तथा विपक्ष की व्याख्या कीजिए।

State the case for the against ararchism

67 "राज्य एक विशुद्ध बुराई है और हम इससे जितना शीघ्र छुटकारा पा लें, उतना ही मनुष्य के नैतिक विकास के लिए हितकर होगा।" इस वक्तव्य के प्रकाश में अराजकता की विवेचना कीजिए।

"The state is an unmitigated evil and the sooner one gets rid of the better it will be for the moral growth of man." Discuss Anarchism in the light of this statement.

68 क्या आप इस मत से सहमत हैं कि अराजकतावाद का अर्थ शासक के अभाव वाला समाज होता है न कि व्यवस्था के अभाव वाला समाज ? इस कथन को समझाते हुए यह बताइए कि क्या इस प्रकार का शासक विहीन समाज सम्भव है। (1976)

Do you agree with the view that anarchism means a society without ruler but not without order ? Explain and point out if such a rulerless society is possible.

69 "अराजकतावादी और क्रान्तिकारी होते हुए भी उसमें और सामाजिक प्रतिक्रियावादियो मे बड़ा साम्य है।" (कोल) समाजवादी चिन्तन की दृष्टि से क्या यह प्रोधा का ठीक निरूपण है ? (1974)

"Anarchist and revolutionary though he is, he has not a little in common with the apostles of social reaction " (Cole)

Is it a correct estimate of Proudhon as a socialist thinker ?

70 प्रोधा एव बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। (1970)

Discuss the relation between the individual and the State according to Proudhon and Bertrand Russell

71 प्रोधो के राजनीतिक विचारो की आलोचना कीजिए। (1978)

Critically examine the political ideas of Proudhon

72 बैकुनन के राजनीतिक विचारो की विवेचना कीजिए। (1978)

Discuss the political ideas of Bakunin.

73 बैकुनिन द्वारा अराजकतावाद को जो योगदान दिया गया उसकी विवेचना कीजिए। (1978)

Discuss the contribution made by Bakunin to Anarchism.

74 "यद्यपि बैकुनिन और क्रोपोटकिन में बहुत कुछ एकता है, उनकी आलोचना में, उनके प्रोग्राम में और सामाजिक चिन्तन की गहराई मे विशेष अन्तर है।" विवेचन कीजिए। (1975)

"Although there is much in common between Bakunin and Kropotkin, there are also significant points of differences in their criticism, in their programmes and in the general spirit of their philosophy." Discuss.

75 बैकुनिन के राज्य, धर्म तथा निजी सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1978)

Critically examine Bakunin's ideas on state, religion and private property.

76 "निजी सम्पत्ति व्यक्ति की भौतिक पदार्थों में अभिरुचि को विकसित करती है; राज्य अपनी शक्ति द्वारा निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को सहारा देता है तथा धर्म, राज्य एवं निजी सम्पत्ति दोनों को यथावत बनाए रखता है।" (एफ. डब्ल्यू. कोकर)। उक्त कथन के सन्दर्भ में बैकुनिन के अराजकतावादी विचारों का परीक्षण कीजिए। (1976)
"Private property cultivates man's interest in material goods; State supports private property through its physical compulsions, religion sustains both State and private property." (F.W. Coker). In the light of the above statement, examine the anarchistic ideas of Bakunin.

77 क्रोपोटकिन के राजनीतिक विचारों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। (1971)
Write a critical essay on the political ideas of Kropotkin.

78 "क्रोपोटकिन आधुनिक अराजकतावादियों का सम्भवतः सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वह उन बातों में सबसे अधिक आकर्षक और हृदयग्राही है।" इस कथन की युक्तियुक्त विवेचना कीजिए। (1971)
"Kropotkin is probably the most representative as he is certainly the most attractive and engaging of the modern anarchists." Critically discuss.

79 बर्टेण्ड रसल के राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (1978)
Attempt a critical evaluation of Bertrand Russell's political ideas.

80 'मार्क्सवाद अर्थशास्त्र पर आधारित है, अराजकतावाद प्राणिशास्त्र पर आधारित है।" (हरबर्ट रीड)
इस कथन को समझाते हुए मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। (1976)
"Marxism is based on economics; anarchism on biology." (Herbert Reed)
Explain and point out the differences between Marxism and Anarchism.

अध्याय–7

81 विकासवादी समाजवाद से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य सिद्धान्त लिखिए।
What do you understand by Evolutionary Socialism? Explain its main principles.

82 "समष्टिवाद प्रजातन्त्र का निषेध है।" समझाइए। (1977)
"Collectivism is the negation of democracy." Elucidate.

83 समष्टिवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इसके मूल विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1976)
What do you understand by Collectivism? Critically examine its doctrines.

84 समष्टिवाद या श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों एवं विधियों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। (1978)
Critically examine the principles and methods either of Collectivism or Guild Socialism.

85 समष्टिवाद के मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए। राज्य के स्वभाव एवं कार्यों को समझने में समष्टिवाद की क्या देन है?
Explain the main principles of Collectivism. What contribution has collectivism made to the understanding of the nature and functions of State?

85 फेबियनवाद के मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए। (1970)
Discuss the main principles of Fabianism.

87 फेबियनवाद से आप क्या समझते हैं ? मार्क्सवाद से यह किस प्रकार भिन्न है ? (1973)
What do you understand by Fabianism? How does it differ from Marxism?

88 "अत्यन्त आकर्षक होते हुए भी फेबियनवाद अपनी अव्यावहारिक विचारधारा के कारण लोकप्रिय नहीं हो सका।" कारण सहित उत्तर दीजिए। (1976)
"Despite all its allure, Fabianism could not command wide acceptability owing to its impractical ideology." Discuss.

89 अत्यन्त रोचक तथा चित्ताकर्षक होते हुए भी फेबियनवाद एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में अपनी मूलभूत अव्यावहारिक विचारधारा के कारण असफल रहा है। बताइए। (1978)
Despite all its allure and attraction, Fabianism failed as a political movement owing to its essentially impractical ideology. Discuss.

90 "आराम कुर्सी पर बैठकर चिन्तन करने वाला समाजवादी।" क्या आपके अनुसार यह फेबियन समाजवादियों की विचारधारा पर सही टिप्पणी है ? उनके राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों के सन्दर्भ में इस कथन को समझाइए। (1976)
"Aram-chair socialists." Is it a correct estimate of Fabian Socialists? Explain with reference to their political and economic ideas.

91 "फेबियनवाद इतना उपयोगितावादी है कि उसमें सुगठित सैद्धान्तिक आधार की कमी है।" स्पष्टीकरण कीजिए। (1978)
"Fabianism is so pragmatic that it lacks cohesive theoretical foundation" Elucidate.

92 बर्नस्टीन के सुधारवाद पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। (1970)
Write a critical essay on Bernstein's Revolutionism.

93 मार्क्सवादी सिद्धान्त में एडवर्ड बर्नस्टीन का संशोधन कहाँ तक उचित है ? सतर्क उत्तर दीजिए। (1971)
Critically examine how far Edward Bernstein was justified in his revision of the Marxist doctrine.

94 बर्नस्टीन के विकासवादी समाजवाद पर एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on Bernestein's Evolutionary Socialism.

95 संशोधनवाद से आप क्या समझते हैं ? इसके मूल सिद्धान्तों का मूल्यांकन कीजिए। (1978)
What do you understand by the term Revisionism ? Evaluate its main tenets.

96 संशोधनवाद क्या है ? यह मार्क्सवाद पर पुनर्विचार है या उसका परित्याग ? एडवर्ड बर्नस्टीन के राजनीतिक विचारों के सन्दर्भ में इस कथन का परीक्षण कीजिए। (1976)
What is Revisionism ? Is it a revision or rejection of Marxism ? Explain with reference to the political ideas of Edward Bernestein.

97 क्या आप इस मत से सहमत हैं कि एडवर्ड बर्नस्टीन के राजनीतिक विचार मार्क्सवाद के संशोधन की अपेक्षा उसका निषेधीकरण अधिक करते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिए। (1978)
Do you agree with the view that Edward Bernstein's political ideas were more in the nature of a refusation than a revision of Marxism ? Explain with reasons.

अध्याय 8 एवं 9

98 "श्रम संघवाद लोकतन्त्र विरोधी है, तर्क विरोधी है तथा बुद्धि विरोधी है।" श्रम संघवाद किस सीमा तक अराजकतावाद तथा फासिस्टवाद से सम्बन्धित है ?

ctual" How is Syndicalism related to Anarchism and Fascism

99 "यद्यपि श्रमिक संघवाद ने मार्क्सवाद और अराजकतावाद से प्रेरणा ली, फिर भी दोनों से भिन्न है।" स्पष्ट कीजिए।
"Although inspired by Marxism and Anarchism, Syndicalism is different from both." Elucidate.

100 "श्रम संघवाद तर्कहीनता का सर्वाधिक तर्कयुक्त बचाव है।" उपरोक्त कथन के आधार पर श्रम संघवाद के मुख्य आधार सिद्धान्त समझाइए।
"Syndicalism is the most rational defence of irrationalism." Explain the main tenets of Syndicalism in the light of the above statement. (1978)

101 "श्रमिक संघवाद विरोध की विचारधारा एवं प्रतिवाद का दर्शन है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? सकारण उत्तर दीजिए।
"Syndicalism is a creed of opposition and a philosophy of protest." Do you agree with this statement ? Give resons in support of your answer. (1976)

102 "श्रम संघवाद के प्रत्यक्ष कार्यक्रम की पद्धति में राजनीतिक कार्यक्रम का निषेध सम्मिलित है।" (कोकर) सिद्ध कीजिए। (1977)

103 क्या आप इस मत से सहमत हैं "कि श्रम संघवाद विरोध का विचार एवं दर्शन है?" इस कथन को समझाते हुए श्रम संघवाद के मूल तत्वों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (1976)
Do you agree with the view that Syndicalism is a creed of opposition and a philosophy of protest ? Explain and critically examine its main tenets.

104 संघवादी दर्शन के महान् प्रवक्ता कौन हैं ? सोरल के दर्शन पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
Who are the great exponents of the philosophy of syndicalism ? Write a critical note on the philosophy of Sorel.

105 शिल्पी संघवाद के मुख्य सिद्धान्त क्या हैं ? शिल्पी संघवाद तथा श्रेणी समाजवाद के मौलिक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
What are the main principles of Syndicalism ? Bring out the essential differences between Syndicalism and Guild Socialism. (1972)

106 "गिल्ड समाजवाद समष्टिवाद और सिंडीकेलिज्म का मध्य मार्ग है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
"Guild socialism is a half-way house between Collectivism and Syndicalism." Substantiate this statement.

107 गिल्ड समाजवाद के प्रतिनिधि के रूप में कोल के विचारों की समीक्षा कीजिए। (1971)
Critically examine the ideas of Cole as a representative of Guild Socialism.

108 "श्रेणी समाजवाद, उत्पादकों के विशेष हितों से सम्बन्धित श्रम-संघवादी सिद्धान्त तथा सामान्य जनहित से सम्बन्धित राजनीतिक सिद्धान्त दोनों को समन्वित करने का प्रयास है।" इसकी विवेचना कीजिए।
"Guild socialism is an attempt to reconcil the syndicalist idea of special producer's interests with the political idea of general public interests." Discuss.

109 "समझौते पर आधारित, मूलतः एक अंग्रेजी विचारधारा।" क्या आपके मतानुसार श्रेणी समाजवाद का यह सही अर्थ है ? बताइए। (1976)

"A typical English doctrine based on compromise." Is it a correct estimate of Guild Socialism. Explain and discuss.

110 "इस श्रेणी-व्यवस्था के अन्तर्गत, राजनीतिक राज्य विभिन्न श्रेणियों के गुथने एवं समायोजित करने वाले अंग के रूप में ही रहेगा।" (मैक्सी) (1977)
"Under such a guild system, the political State would survive only as an interlocking and adjusting organ as between the several guilds" (Maxey) In the light of this statement explain the place and functions of State.

111 'गिल्ड समाजवाद' की विशेष बात यह है कि उनके अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था प्रजातान्त्रिक होनी चाहिए। कोल के राजनीतिक विचारों के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।
"The fundamental demand of guild socialism is that the whole structure of society should be made democratic."
Discuss this with reference to the political ideas of G.D.H. Cole.

112 श्रेणी समाजवाद के महान् प्रवक्ता कौन है? हाब्सन तथा कोल के विचारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
Who are the great exponents of Guild Socialism? Write a critical note on the views of (a) Hobson (b) Cole.

अध्याय–10

113 प्रजातान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्त पर एक संक्षिप्त समालोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a short critical essay on the theory of Democratic Socialism.

114 'डेमोक्रेटिक समाजवाद' से आप क्या समझते हैं? किन-किन कारणों से इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ? (1974)
What do you understand by 'Democratic Socialism'? What were the major factors responsible for the emergence of this concept?

115 जनतन्त्र तथा समाजवाद की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
Analyse the concepts of democracy and socialism. Is there an inner tension between them?

116 "जनतन्त्र तथा समाजवाद को जोड़ने वाला शब्द केवल 'समानता' है, किन्तु अन्तर पर ध्यान दीजिए : जनतन्त्र स्वतन्त्रता में समानता चाहता है, समाजवाद दबाव तथा दासता में।" (डी. ताकवील) व्याख्या कीजिए।
"Democracy and socialism are linked only by the word equality; but not the difference, democracy wants equality in freedom, socialism wants equality in constraint and enslavement." (De Tocqueville). Discuss.

117 प्रजातान्त्रिक समाजवाद का अर्थ तथा इसके मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए उनकी वैधता का परीक्षण कीजिए। (1976)
Explain the meaning and main characteristics of Democratic Socialism and examine its validity.

118 प्रजातान्त्रिक समाजवाद के मुख्य सिद्धान्तों की परीक्षा कीजिए। (1978)
Examine the main tenets of Democratic Socialism.

अध्याय–11

120 फासीवाद विचारधारा को समझाते हुए यह बताइए कि किस प्रकार से यह प्रजातन्त्र तथा समाजवाद दोनों का विरोधी है ?
Explain the doctrines of Fascism and point out how it is opposed both to democracy and socialism ? (1976)

121 फासीवाद के सैद्धान्तिक आधारों का परीक्षण कीजिए।
Examine the theoretical foundations of Fascism. (1972)

122 क्या आप यह मानते हैं कि फासिज्म विवेक रहित एवं न्यायविरुद्ध विचारधारा है जो कि मानवतावादी आदर्शवाद और स्वतन्त्र विचार वाले हेतुवाद को अस्वीकार करती है ?
Do you agree with the view that Fascism is an irrational doctrine based on a rejection of the humanist idealism and liberalist rationalism ?

123 "फासिस्टवाद लोकतन्त्र, समाजवाद तथा उदारतावाद का विरोधी है।" विस्तारपूर्वक समझाइए।
"Fascism is the antithesis of all that is democratic, socialistic and liberal." Elucidate (1977)

124 जीवन दर्शन तथा राजनीतिक पद्धति के रूप मे नात्सीवाद और साम्यवाद की तुलना कीजिए।
Compare National Socialism and Communism as Philosophies of Life and Political Systems. (1973)

125 राष्ट्रीय समाजवाद से आप क्या समझते हैं ? इसके दर्शन का परीक्षण कीजिए।
What do you understand by National Socialism ? Examine its philosophy.

अध्याय–12

126 महात्मा गांधी के मूल राजनीतिक विचारों को समझाते हुए उनके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
Explain the principal political ideas of Mahatma Gandhi and point out their significance. (1976)

127 गांधीजी के विचारों की तुलना मार्क्स के विचारो से कीजिए। क्या यह कहना सही होगा कि गांधीजी मार्क्सवादियों की अपेक्षा अराजतावादियों से अधिक साम्य रखते हैं ?
Compare Gandhi's ideas with those of Marx. Would it be correct to say that Gandhi has more in common with the anarchists than with Marxists?

128 महात्मा गांधी के राजनीतिक विचारधारा के प्रति योगदान का मूल्यांकन कीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि वे एक दार्शनिक अराजकतावादी थे ? बताइए।
Assess the contribution of Mahatma Gandhi to political thought. Do you agree with the view that he was a philosophical anarchist ? Discuss. (1978)

129 मार्क्सवाद तथा गांधीवाद के सिद्धान्तों की तुलना कीजिए।
Compare the principles of Marxism and Gandhism. (1977)

130 गांधीवाद के नैतिक तथा आध्यात्मिक आधारों की व्याख्या कीजिए। क्या गांधी समाजवादी थे ?
Discuss the moral and spiritual bases of Gandhism. Was Gandhi a Socialist ? (1972)

131 गांधीवादी राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। महात्मा गांधी किस दृष्टि से समाजवादी थे और किस दृष्टि से नहीं ?
Discuss the principles of Gandhian political philosophy. In which sense was Mahatma Gandhi a Socialist and in which sense he was not ?

132 गाँधीवाद की सामाजिक एवं आर्थिक संघर्षों को सुलझाने में जो खूबियाँ और कमियाँ हैं, उनका समीक्षात्मक विश्लेषण कीजिए। (1974)
Critically examine the value and fallacies of Gandhism as method of resolution of social and economic conflicts in society.

133 "गाँधीवाद मार्क्सवाद का विरोधी है।" समझाइए।
"Gandhism is the very antithesis of Marxism" Explain.

संक्षिप्त टिप्पणियाँ और अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न

134 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी कीजिए :—
(i) बर्नस्टीन
(ii) बेट्रिस वेब
(iii) जी. डी. एच. कोल
(iv) प्रजातान्त्रिक समाजवाद। (1978)
Write short notes on any two of the following :
(i) Bernstein
(ii) Beatrice Webb
(iii) G. D. H. Cole
(iv) Democratic Socialism

135 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—
(i) मार्क्स के वर्ग-युद्ध का सिद्धान्त
(ii) लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार
(iii) माओ का उदारवाद और उसकी सीमाएँ
(iv) माओ द्वारा मार्क्सवाद का चीनीकरण। (1978)
Write short notes on any two of the following :
(i) Marx's Doctrine of Class War
(ii) Lenin's Ideas on Imperialism
(iii) Mao's Liberalism and its Limitations
(iv) Mao's Signification of Marxism.

136 निम्नलिखित में से किन्हीं दो की विवेचना कीजिए :—
(i) स्टालिन के सक्रिय ऊपरी ढाँचे का सिद्धान्त।
(ii) माओ-त्से-तुंग का विरोध का सिद्धान्त। (1976)
Explain any two of the following :
(i) Stalin's theory of active super-structure.
(ii) Mao Tse-Tung's theory of contradictions.

137 "राजनीतिक सत्ता ठीक प्रकार से जैसी कि यह कहलाती है केवल एक वर्ग की वह संगठित शक्ति है जिसका उपयोग दूसरे वर्ग को सताने के लिए किया जाता है।" इस कथन के सन्दर्भ में मार्क्स के राज्य के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (1976)
"Political power so called is merely the organised power of one class for oppressing another." Explain and critically examine Marx's theory of State.

138 लेनिन के पूंजीवादी साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की विवेचना करते हुए इसमें निहित सत्य के तत्त्वों को बताइए। (1976)
Explain Lenin's theory of capitalist imperialism and bring out the elements of truth in it.

139 साम्यवाद को स्टालिन की देन की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। (1978)
Critically examine Stalin's contribution to Communism.

140 मार्क्स की फेबियन आलोचना की परीक्षा कीजिए। (1977)
Examine Fabian criticism of Marxism.

141 चार्ल्स फोरियर की राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। (1978)
Critically examine the political ideas of Charles Fourier.

142 विवेचना कीजिए कि सिण्डिकेलिज्म विशेषतया पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था और प्रजातान्त्रिक राज्य-व्यवस्था के विरोध की विचारधारा है। (1975)
Explain and examine the view that syndicalism was mainly a creed of opposition against the institution of capitalist economy and popular government.

143 क्या आप इस बात से सहमत हैं कि फेबियन समाजवाद का योगदान विचारों की बजाय व्यावहारिकता में अधिक है ? (1975)
Do you agree with the view that Fabian socialists have contributed more to practice than to theory ?

144 क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि समाजवादी चिन्तन कभी यह ठीक तरह निर्णय नहीं कर पाया कि श्रमवर्गीय एकता के प्रति कर्त्तव्य क्या राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों को मिटा देते हैं ?
(1975)
Do you agree with the view that the fundamental weakness of all socialist thought has been that it has never clearly defined whether obligations of proleterian solidarity should obliterate national obligation ?

145 निम्नांकित मे से किन्ही दो पर टिप्पणियाँ लिखिए :—
(अ) लेसाले
(ब) कार्ल कोट्स्की
(स) विलियम गोडविन (1975)
Write short notes on any two of the following :
(a) Lassalle
(b) Karl Kautsky
(c) William Godwin.